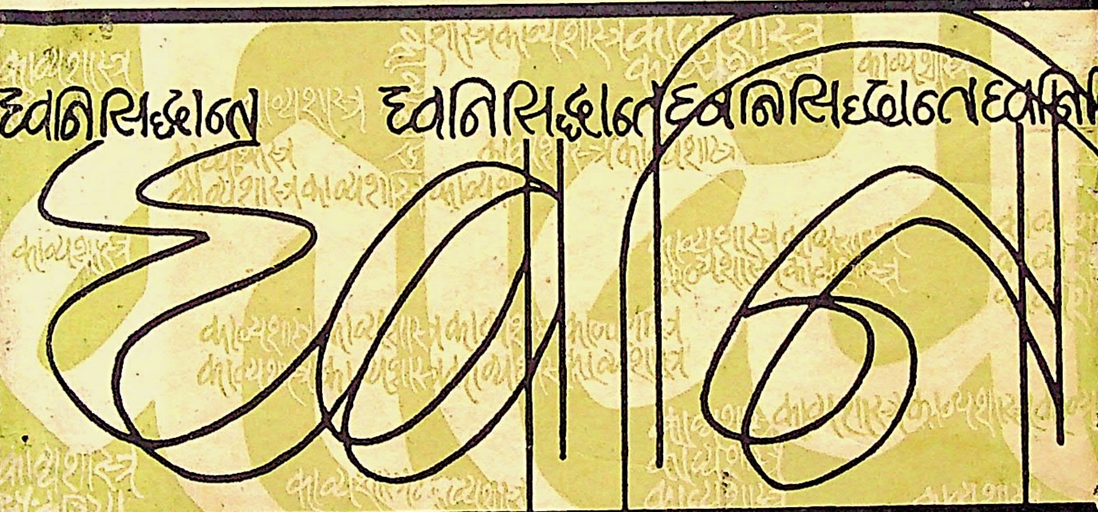
भारतीय काव्य-समीक्षा में ध्वनिसिद्धान्त

बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'



भारतीय काव्यशास्त्र
सिरीज
संपादन- राममूर्ति त्रिपाठी

भारतीय काव्य-समीक्षा में ध्वनिसिद्धान्त

भारतीय काव्य शास्त्र सिरीज की अन्य पुस्तकें

भारतीय काव्य-समीक्षा में अलंकारसिद्धान्त
भारतीय काव्य-समीक्षा में वक्रोक्तिसिद्धान्त
भारतीय काव्य-समीक्षा में रीतिसिद्धान्त
भारतीय काव्य-समीक्षा में औचित्यसिद्धान्त
भारतीय काव्य-समीक्षा में शब्दव्यापारविचार तथा शब्दशक्तिविवेचन

संपादन : डा० राममूर्ति त्रिपाठी

भारतीय काव्य शास्त्र सिरीज
संपादन : डा० राममूर्ति त्रिपाठी

भारतीय काव्य-समीक्षा में ध्वनिसिद्धान्त

बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'

M

दि मैकमिलन कंपनी आफ़ इंडिया लिमिटेड
नई दिल्ली बंबई कलकत्ता मद्रास
समस्त विश्व में सहयोगी कंपनियां

प्रथम संस्करण : 1978

एस० जी० वसानी द्वारा दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड के लिए प्रकाशित तथा भारत मुद्रणालय, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 में मुद्रित
Bachchulal Awasthi 'Gyan' : Bharatiya Kavya-Sameeksha Mein Dhwanisiddhant

परदादा गुरु बालशास्त्री,
दादा गुरु तात्या शास्त्री
तथा गुरु श्री महावीर झा
के चरणों में

जिनकी 'भूति' से व्याकरण-दर्शन का
सर्वाङ्गीण समाश्लेष मेरे स्नायु-संस्थान
का सर्वस्व बना.

उपोद्घात

भारतीय काव्य-समीक्षा के लम्बे इतिहास में भरत के बहुत समय बाद आठवीं शताब्दी ई० में आनन्दवर्धन जैसे महामनीषी का अवतरण हुआ। यह वह समय था जब एक ओर कुमारिल, प्रभाकर और मण्डन जैसे धुरंधर मीमांसक मीमांसा-दर्शन की प्रतिष्ठा कर भारतीय अर्थविज्ञान की सुदृढ़ भूमि बना चुके थे, आचार्य शङ्कर अद्वैतवेदान्त की प्रतिष्ठा में तत्पर थे, कश्मीर में सोमानन्दनाथ जैसे धुरीण मनीषी अपने शिष्य उत्पलदेव के साथ शैवदर्शन की अद्वैतपरक स्थापना कर रहे थे, उससे बहुत पूर्व भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की रचना कर व्याकरण-दर्शन की आधारशिला जमा दी थी, और नव्यन्याय अपनी भूमिका बना रहा था। मीमांसा, न्याय और व्याकरण भाषा-चिन्तन को दर्शन में सुप्रतिष्ठ कर चुके थे और साहित्यचिन्तन में अलंकारमत और रीतिमत का द्वन्द्व उतना उर्वर नहीं रह गया था। काव्यचिन्तन को अपने-आप में भाषा-दर्शन की पुष्टतम नींव पर खड़ा करना शेष था जिसे आनन्दवर्धन ने पूरा किया। व्याकरण (पतञ्जलि) से 'ध्वनि' शब्द लेकर उसे अर्थविस्तार देकर काव्य-दर्शन को उन्होंने नव्य सुनिश्चित दिशा प्रदान की। व्यञ्जना नामक शब्दव्यापार की स्थापना का यशोभागी उन्हीं को माना जाता है, यद्यपि वह व्याकरण में प्रकारान्तर से मान्य रह आया था।

अभिनवगुप्तपादाचार्य ने उत्पलदेव की शिष्यता में शैवदर्शन को पूर्णता दी और भट्टतौत के अन्तेवासी के नाते ध्वनिवादी काव्यदर्शन को समग्रता प्रदान की। नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती और ध्वन्यालोक पर लोचन टीकाओं द्वारा उन्होंने ध्वनि-प्रस्थान को वह स्थान दिया कि आगे के प्रभूत विचारक उसी धारा में सोचने लगे। धनिक-धनञ्जय, कुन्तक और महिमभट्ट जैसे कुछ ही मनीषी ध्वनि के विरोध में खड़े हो सके। मम्मट ने काव्यप्रकाश ग्रन्थ द्वारा मानो आगे कुछ करने को शेष नहीं रखा—अर्थविचार-सामग्री का संभार सभी प्रमुख दर्शनों से जुटा कर और पूर्ववर्ती प्रस्थानों का ध्वनि में समावेश कर काव्यार्थ को भव्य आयामों में उपस्थित करने का उदात्त कर्तव्य मम्मट की वह उपलब्धि है जिसके बल पर वे 'वाग्देवतावतार' कहलाये। उसी धारा में विश्वनाथ का साहित्य-दर्पण मूल्याङ्कन पाता है। वे मम्मट के आलोचक के रूप में विख्यात हैं, परन्तु

उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में पुनर्मूल्याङ्कन हुआ और प्रतिभा के निकष पर काव्यप्रकाश ही श्यामिका-हीन सुवर्ण सिद्ध हुआ। न्यायशैली में पण्डितराज जगन्नाथ का रसगङ्गाधर अपूर्ण होते हुए भी ध्वनिधारा का अन्तिम रत्न है जिसकी आभा मम्मट के प्रकाश के समकक्ष है।

वाराणसी जैसे विद्या-केन्द्र में ध्वनिमत का ही अध्ययन किया-कराया जाने लगा जिसके परिणामस्वरूप अन्य चिन्तन-धाराएं तो उपेक्षित हुईं ही, ध्वनिमत को भी यथावत् समझना कठिन हो चला। दूसरी ओर अधुनातन शैली के उपासकों ने विश्वविद्यालयों में सभी प्रस्थानों को एक ही सा महत्त्व देकर स्थापित किया जबकि ध्वनि-प्रस्थान की महिमा, गम्भीरता और उच्चता को अन्य प्रस्थान नहीं पा सकते। इसका परिणाम यह हुआ कि पाण्डित्य में पल्लवग्राहिता बढ़ती गयी। वामन के रीति और गुण ध्वनिमत के रीति और गुण से परिभाषा में ही नहीं समस्त विवेचना में सर्वथा भिन्न हैं, यह यथार्थ भी आज अल्पविदित हो गया है। अर्थ की कक्षाओं की चर्चा में शास्त्रीय घुटन का संकट बरकाने हेतु अधुनातनी मनीषा काव्यार्थ की अखण्डता का शङ्खनाद करने लगी है, जिससे शास्त्रज्ञों का अल्पमत मौन द्वारा उन्हें ही सम्मति दे जाता है, 'तुष्यतु-दुर्जन-न्याय' की यह दुःखान्त काष्ठा है।

हिन्दी के अधिकतर समीक्षक पश्चिम के समीक्षा-सिद्धान्तों के अञ्चल में शरण पा जाते हैं। वे रिचर्ड्स, आर्नल्ड या इलियट नहीं हो सकते, पर उनके नाम से हिन्दी-विचारक बनने का दावा तो कर ही लेते हैं—नाम-महिमा का यह पतित-पावन रूप आज प्रतिभा और मेधा दोनों को दास्यभक्ति का उपासक बनाये हुए है। कुछ ऐसे भी हैं जो मार्क्स, सार्त्र, फ्रायड आदि का पल्ला पकड़ कर बढ़ते चले जा रहे हैं, उन्हें साहित्य की अपनी सत्ता उनसे पृथक् दिखती ही नहीं—चश्मा लगा कर जैसा दिखता है वैसा या दर्पण में दायें का बायाँ दिखता है तो वैसा, 'यथार्थ' प्रतीत होता है। एक धारा उनकी है जो बेचारे संस्कृत और अंगरेजी दोनों से वञ्चित हैं या किसी एक में बी० ए० पास हैं। ये लोग हिन्दी-से-हिन्दी के भक्त हैं। सभी शास्त्र और विज्ञान हिन्दी में ही हैं, यह उनकी धारणा उन्हें आत्मतुष्ट रखती है।

इस विडम्बना के युग में डा० राममूर्ति त्रिपाठी जैसे विद्वान् ने स्थान पा लिया, यह आश्चर्य है, परन्तु हिन्दी में उन्हें जो मोर्चे सँभालने पड़ते हैं उनके 'अहसास' से मेरे जैसे 'थुरजिये' एक अनिर्वाच्य 'संत्रास' से भर उठते हैं। उनके प्रस्ताव पर जब मुझे 'मैकमिलन' की ओर से यह पुस्तक लिखने का भार या आभार मिला तब मैं स्वीकार करके भी बहुत समय तक चिन्तित रहा कि हिन्दी के विद्यार्थी को क्या दिया जाय और क्या कुछ छोड़ा जाय। 'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने' परन्तु पहिचान की कमी 'पशोपेश' में डाल देती है। फिर भी मैंने

यथाशक्य कार्य पूरा किया है। इसमें अपने मित्र डा० शिवकुमार मिश्र (अब प्रो० अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पटेल विश्वविद्यालय, आनन्द, गुजरात) का विशेष आभार मानता हूँ जिन्होंने निरन्तर प्रोत्साहित कर मुझे उद्यमी बनाया। डा० त्रिपाठी का आभार झेलने का साहस मुझ में नहीं है, उन्होंने यह कार्य मुझ पर डाल कर मानो मेरी मेधा को समादर दे डाला है, पर मैं डरता रहा हूँ कि कहीं उन्हें निराश न होना पड़े। जो कुछ इस पुस्तिका में बच रहा है, उसे उनकी भूमिका पूरा करेगी और पुस्तक एक सापेक्ष समग्रता पा लेगी, यह आशा है। इसमें अध्याय-विभाजन का क्रम उपयोगिता के अनुसार रखा गया है—आज के विद्यार्थी के अध्येतव्य की प्राथमिकता ध्यान में रही है, अतः उत्तरोत्तर अध्याय अधिक जानने के उत्सुक छात्रों की अपेक्षा में चलाये गये हैं।

डा० त्रिपाठी इस माला के सम्पादक हैं, इसका मुझे गौरव है और मैं अपनी कृति के प्रति नहीं तो शुद्ध मुद्रण के प्रति आश्वस्त हूँ।

एम० ए० कक्षा में भारतीय समीक्षा की सामग्री पाठ्यक्रम की दृष्टि से समाविष्ट कर ली गयी है जिससे ध्वनि-सिद्धान्त के साथ अन्य मतों पर कम-से-कम एक-एक अच्छा निबन्ध परीक्षा हेतु तैयार किया जा सके। मैं इस पुस्तक में पाश्चात्य चिन्तन की तुलना वाला अध्याय नहीं रखना चाहता था, पर सम्पादक की इच्छा से उसे रख दिया है जो पृथक् पुस्तक का विषय है।

आशा है, ग्रन्थ छात्रों की दृष्टि से उपादेय और बहुत से शिक्षकों के लिए ग्राही होगा।

पन्था दिगन्तमपि नेतुमलं तथापि
पान्थः स्वगम्यमिह किंचन निश्चिनोति।
शक्तेर्विलास-विविधत्वमिदं ततोऽहं
यावच्चरामि खलु तश्च बुधाः प्रमाणम् ॥

—ज्ञान

15, अगस्त 1978
सागर विश्वविद्यालय
सागर (म० प्र०)

विषय-सूची

पातनिका

काव्य स्वानुभूत सत्य की अभिव्यक्ति—प्रभावी भाषा द्वारा

पूर्व-पश्चिम, प्राचीन-अर्वाचीन साहित्यचिंतकों की चिंताओं के अनुशीलन से यह धारणा उत्तरोत्तर बलवती होती जा रही है कि साहित्य में सर्जन प्रक्रिया, अभिव्यंजन प्रक्रिया और ग्रहण प्रक्रिया—सर्वत्र कहीं न कहीं एकरूप होंगी। इन तीनों पक्षों से संबद्ध बहुत सारी बातें भाषा-शैली में भिन्न भिन्न होती हुई भी आशयगत एकरूप होंगी। जहां तक काव्य में शब्द और अर्थ की बात है—हर स्वस्थ और परिणत चिंतक (अस्वस्थ और अधकचरों की बात अलग है) मानता है कि व्यवहार और शास्त्रविज्ञान के क्षेत्र के भाषाप्रयोग से काव्यक्षेत्र का भाषाप्रयोग 'कुछ और' होता है। इसका कारण है—प्रयोजन भेद। सर्जक चूंकि अनुभूत सत्य का संप्रेषण करता है और चाहता है कि ग्राहक 'सत्य' का नहीं, 'सर्जक के अनुभूत सत्य' का साक्षात्कार करे, 'संवाद' द्वारा 'पहचाने'—अतः उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि 'भाषा' को 'प्रभावी' बनाए। प्रभावी भाषा ही ग्राहक को 'प्रभावित' कर सकती है, उसको अपने साथ कर सकती है—सर्जक की आंख दे सकती है—ताकि ग्राहक सर्जक की चेतना से एकरस होकर उसके 'अनुभूत सत्य' को 'पहचान' सके। यह कहना सरासर गलत है कि कविता के क्षेत्र में ग्राहक सर्जक से तटस्थ रहकर, अपने व्यक्तित्व का विगलन किए बिना कविता को चरितार्थ कर सकता है। कवि अपने हृदय का भार कविता में उतारकर रखता है, पर यह भार तब तक कवि ही ढोता रहता है जब तक उसे यह विश्वास न हो जाए कि ग्राहक ने उसके 'अनुभूत सत्य' को पूर्णतः साक्षात्कृत कर लिया। इसीलिए किसी ने ठीक कहा है कि सर्जक को तो उसकी सर्जनात्मकता के कारण वंद्य माना ही जाता है, पर उससे भी अधिक वंदनीय वह है जो सर्जक को ठीक ठीक समझकर उसके हृदय का भार हलका कर देता है, उसे राहत प्रदान करता है :

… … … … … … … वंदेतरां तं पुनः।

योऽविज्ञात परिश्रमोऽयमनयोर्मारावतारक्षमः ॥[1]

भाषा के प्रभावी होने का आशय

अभिप्राय यह कि कविगण 'स्वानुभूत सत्य' की अभिव्यक्ति के लिए अपनी भाषा को 'प्रभावी' बनाना चाहता है—'प्रबोधी' की अपेक्षा 'प्रभावी'। व्यवहार तथा शास्त्रदर्शन की भाषा 'प्रबोध' कराने के लिए प्रयुक्त की जाती है। यह सही है कि वक्ता श्रोता या ग्राहक को विचारों से भी 'प्रभावित' करता है। 'प्रभावित' करना 'अनुकूल' करना होता है, 'प्रबोधित' करना तटस्थ विचारोत्तेजन के लिए हो सकता है। 'प्रभावित' में 'भाव' मुख्य है, 'प्रबोधित' में 'बोध'। 'प्रभावित' में 'बोध' भी 'भाव' पर्यवसित होता है—'अनुभूति' पर्यवसित होता है। काव्य में 'बोध' अनुभव या अनुभूति का अंग बनकर नहीं आया, तो अकाव्यात्मक होकर ही रह जाएगा और यदि अनुभूति का अंग बनकर आया है तो अनुभूति पर्यवसित होकर ही गृहीत होगा। अभिप्राय यह कि काव्य में 'भाषा' के 'प्रभावी' होने का एक खास अर्थ है।

प्रभावी का अर्थ स्रष्टा द्वारा भाषा में व्यंजनात्मक क्षमता का आधान

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक की 'भावना' को व्यंजना में गतार्थ करते हुए यही कहा था कि काव्य की भावकता है क्या? 'गुणालंकार परिगृहात्मक'[2] ही न? काव्यभाषा का भावक या प्रभावी होने का मतलब है—प्रभावोत्पादक उपकरण से मंडित होना, गुणालंकारादि महज उपलक्षण हैं। भाषा के प्रभावोत्पादक उपकरण कौन कौन से हैं, इसका संबंध स्रष्टा की क्षमता से है और स्रष्टा की क्षमता की कोई इयत्ता नहीं। स्रष्टा अपने द्वारा प्रयुक्त शब्द में 'क्षमता' भर देता है और 'क्षमता' भरकर उसे 'प्रभावी' बना देता है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने 'क्षमता' के सर्वोत्कृष्ट रूप को 'व्यंजना' या 'व्यक्ति' कहा है। इसी 'क्षमता' से वह काव्य के क्षेत्र में शब्द को 'प्रभावी' बनाता है। आत्मवाद के आलोक में सोचने वाले भारतीय आचार्य ने इस सर्वोत्कृष्ट 'क्षमता' को 'आत्मा' ही कह दिया है: 'व्यक्तिश्च भानावरणाचित्'[3] (रस गंगाधर) व्यक्ति या व्यंजना चित् ही है, जिसका आवरण हट गया रहता है।

इस व्यंजनात्मक क्षमता से कवित्वोन्मेष के लिए अपेक्षित 'नवता' या 'विशेष' का उद्रेक

कवि की 'क्षमता' ही उसकी रचना को प्रभावी बनाती है—अतः यहां रचना की प्रभाविता का सर्वोपरि मानदंड यही है। इसके सामने और सारे नियम विधान नतशिर हो जाते हैं। इस प्रकार तीन बातें सामने आईं: रचनाकार, उसकी क्षमता और रचना का प्रभावी होना। व्यवहार तथा शास्त्र-विज्ञान में भी शब्द का प्रयोग होता है, पर पहले क्षेत्र में शब्द का लक्ष्य महज व्यवहार चलाना होता है और दूसरे में अर्थ के सहारे चिंतन को पकड़ना। दोनों ही स्थलों में शब्द से प्राप्त 'सामान्य' अर्थ का बोध ही अभीष्ट है। दोनों स्थलों में शब्द का प्रयोक्ता ग्रहीता या श्रोता को भावांदोलित करना नहीं चाहता, उसकी चित्तवृत्ति को स्पंदित करना प्रमुख लक्ष्य नहीं मानता। प्रमुख लक्ष्य

मानता है : योग क्षेम का निर्वाह तथा तथ्यावबोध । अतः इन स्थलों में 'सामान्य' अर्थबोध से काम चल जाता है, 'विशेष' की आवश्यकता नहीं पड़ती । काव्य में 'विशेष' की जरूरत है, क्योंकि सामान्य अर्थ तो सबको ज्ञात ही रहता है, अतः कुछ 'विशेष' ही को लक्ष्य में रखकर कवि 'शब्द' का प्रयोग करता है। ध्वन्यालोककार ने स्पष्ट कहा है : 'यदि सामान्य मात्रमाश्रित्य काव्यं प्रवर्तते, किंकृतस्तर्हि महाकविनिवध्यमानानां काव्यार्थानामतिशयः ?'[4] अर्थात यदि 'सामान्य' अर्थ को ही दृष्टिगत कर काव्यनिर्माण होता, तो उतना पूर्वतः संकेतगृहीत होने से पुराना ही होता, उसमें नया क्या होता—उसमें 'अतिशय' या 'विशेष' क्या होता ? और यह 'अतिशय' या 'विशेष' न होता, तो रचना की रचनात्मकता के लिए अपेक्षित 'नयापन' क्या होता ? 'नयापन' तो रचना का स्वरूपगत धर्म है—उसके बिना रचना रचना वैसे ही नहीं हो सकती, जैसे ऊष्मा के बिना आग आग नहीं हो सकती । फलतः रचना को प्रभावशाली होने के लिए 'विशेष' मंडित 'सामान्य' अर्थ होना चाहिए। 'विशिष्ट' अर्थ का बोध कराने की क्षमता से सम्पन्न शब्द ही काव्य के क्षेत्र का प्रभावी शब्द होगा। कुंतक ने ऐसे ही शब्द को 'वक्र' शब्द कहा है और उससे गृहीत होने वाले 'विशिष्ट' अर्थ की प्रतिपादक क्षमता को 'विचित्र[5] अभिधा' माना है, यह सामान्य अर्थ ग्रहण कराने वाली 'अभिधा' रूप क्षमता से भिन्न है। कुंतक ने भी वर्ण्यवस्तु के स्वभाव में निहित असाधारणता या विशेष को उभारने की बात कही है—'लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्म सुभगंतत्वं गिरा कृष्यते'[6] कवि वही है जो अपनी वाणी से वर्ण्यवस्तु के स्वभाव में निहित 'सूक्ष्म सुभगतत्व' को ऊपर उभार लाए। महिमभट्ट ने इस आशय को और भी स्पष्ट करते हुए कहा :

उच्यते वस्तुनस्वावद् द्वैरूप्यमिह विद्यते ।
तत्रैकमत्र सामान्यं यद्विकल्पैकगोचरः ।। 113 ।।

ए एव सर्वशब्दानां विषयः परिकीर्तितः ।
अतएवामिधेयं ते समान्य वोधयन्त्यलम् ।। 114 ।।

विशिष्टमस्य यद्रूपं तत् प्रत्यक्षस्य गोचरः ।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम् ।। 115 ।।

रसानुगुणशब्दार्थं चिन्तास्तिमित चेतसः ।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः ।। 116 ।।

सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते ।
येन साक्षात्करोत्येष भावास्त्रैलोक्यवर्तिनः ।। 117 ।।

यतः साक्षादिवाभान्ति तत्रार्थाः प्रतिभार्पिताः ।। 120 ।।[7]

विशेष के दो रूप : (क) विम्बार्थोपयोगी 'विशेष' (ख) अभिप्रेतार्थ 'विशेष'

अर्थात वस्तु के दो रूप होते हैं : सामान्य और विशिष्ट। पहला ही शब्द का प्रदेय होता है, अत: शब्द अर्थ का 'सामान्य' रूप से बोध कराकर अपनी अभिधात्मक क्षमता समाप्त कर देता है। दूसरा रूप है—विशिष्ट। यह रूप शब्दप्रमाण से नहीं, प्रत्यक्ष प्रमाण से गृहीत होता है। यही 'विशिष्ट'—विशेष-संवलित—अर्थ कवि की प्रतिभा से प्रसूत वाणी या शब्द का विषय होता है। वस्तुत: कवि की प्रतिभा है क्या? प्रतिभा वह प्रज्ञा है जिससे सर्जनात्मक अनुभूति के अनुरूप शब्दार्थान्वेषण में एक तान कवि वर्ण्यवस्तु के उन 'विशेषों' का साक्षात्कार कर लेता है जो और लोग प्रत्यक्ष प्रमाण से देख पाते हैं। वस्तुत: यह भगवान शंकर का तृतीय नेत्र है जिसके द्वारा कवि त्रिलोकवर्ती भावमात्र का साक्षात्कार सा कर लेता है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि कवि जिन शब्दों का प्रयोग करता है, वह 'सामान्य' अर्थ मात्र का बोध कराने के लिए नहीं, प्रत्युत 'विशेष' मंडित अर्थ का बोध कराने के लिए, क्योंकि उसी रूप में 'नयापन' उभरेगा—जिससे ग्राहक प्रभावित होगा। इन उद्धरणों से अभिप्रेत 'विशेष' वस्तु का प्रत्यक्षायमाण रूप उपस्थित कराना है, जिसको लक्ष्य में रखकर कवि कुछ कहने को उद्यत होता है। ग्राहक भी अपनी भावयित्री प्रतिभा से इसी अर्थ—विशेष युक्त या विशिष्ट अर्थ—को पकड़ता है और प्रभावित होता है।

(क) विम्बार्थोपयोगी विशेष

अर्थ अपने प्रत्यक्षायमाण रूप से, जो 'विशेष' संवलित होता है, तो प्रभावित करता ही है, प्रभावोद्रेकी अन्यविध 'विशेष' से भी प्रभावित करता है। मतलब यह कि 'विशेष' भी दो प्रकार के हैं : एक तो अर्थगत प्रत्यक्षग्राह्य विशेष और दूसरे अर्थगत संदर्भ द्वारा आहित या न्यस्त विशेष। पहला तो स्पष्ट है, कोई भी वस्तु जो अपनी प्रत्यक्षग्राह्य अशेष विशेषताओं से मंडित होकर प्रतीत हो। दूसरे का उदाहरण है : 'जिमि अविवेकी पुरुष शरीरहिं'[8]।

यहां 'शरीर' का एक सामान्य अर्थ है, जो देह, काम, तन सबका वाच्य है। धर्मी विशेष की दृष्टि से सभी शब्द पर्याय हैं, पर 'विशेष' के कारण पृथक् पृथक् भी हैं—'शरीर' का अर्थ वह पिण्ड विशेष है जो उत्तरोत्तर क्षीयमाण होता जाता है, 'देह' या 'काम' में वह 'विशेष' नहीं है। इसी 'विशेष' से मंडित होने के कारण 'शरीर' शब्द ध्वन्यालोककार के शब्दों में काव्योचित है, अपरिवर्त्य है—सटीक और ध्वन्यात्मक है। कारण, जिस प्रभाव या सौंदर्य का उद्रेक इस शब्द से हो पा रहा है, वह उसी के अन्य पर्यायवाची शब्दों से सम्भव नहीं है। इसी आशय को व्यक्त करते हुए ध्वन्यालोककार ने कहा :

उत्तयन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद्ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत्॥[9]

अर्थात् जो प्रभाव या चारुता शब्दांतर से प्रकाश्य न होकर उसी 'शब्द' से हो, वह 'ध्वनि' शब्द कहा जाता है। कवि सुमित्रानंदन पंत ने 'पल्लव'[10] की भूमिका में ऐसे अपरिवर्त्य शब्दों के अनेक उदाहरण दिए हैं। उनकी दृष्टि में ऊर्मि, लहर, तरंग, वीचि पर्याय होते हुए भी 'विशेष' 'विशेष' विशेषताओं से मंडित होकर अपनी व्यक्तिगत विशिष्टता सुरक्षित कर लेते हैं, और कवि की प्रज्ञा जिस 'विशेषता' से मंडित होने में शब्द की प्रसंगोपयोगिता देखती है, उसी से मंडित होने की क्षमता वाले शब्द का वह प्रयोग करती है, जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है।

(ख) ध्वन्यालोककार के साक्ष्य पर अभिप्रेतार्थग्राही 'विशेष'

पण्डित पट्टाभिराम जी शास्त्री का पक्ष[11] है कि आनंदवर्धन जिस प्रकार एक शब्द के अनेक व्यंग्य अर्थ मानते हैं, उसी प्रकार अनेक वाच्य अर्थ भी। अर्थात शब्द का वाच्य अर्थ भी एक ही नहीं होता, अपितु अनेकविध होता है। देह, शरीर—दोनों के वाच्यार्थ एक ही प्रकार के नहीं हैं, भिन्न भिन्न प्रकार के हैं—अपनी इसी विशिष्टता के कारण 'वाच्य' अर्थ कभी सहृदयश्लाघ्य होता है और कभी नहीं। शास्त्री जी का तर्क है कि इसी आशय से आनन्दवर्धन ने निम्नलिखित कारिका में 'वाच्यप्रतीयमान' को द्वन्द्व समास के अन्तर्गत रखकर दोनों का समप्राधान्य सूचित किया है :

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ।।[12]

पं० पट्टाभिराम जी शास्त्री के मत से ध्वन्यालोककार का आशय = अभिप्रेतार्थ रूप विशेष

दोनों ही अर्थ-वाच्य, प्रतीयमान्य—सहृदयश्लाघ्य होने के कारण समप्रधान हैं। यह सहृदयश्लाघ्यता तभी बन सकती है, जब पर्यायवाची शब्दों के वाच्यार्थ में अनेकरूपता स्वीकार की जाए। उनका कहना है :

"आनंदवर्द्धनः प्रथमोते 'योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः' इत्यत्र 'वाच्य प्रतीय ज्ञानाख्यौ"—इति वाच्यपदभय्युपादत्ते। तच्च द्वन्द्वघटितमिति समप्रधानमिति निर्विवादम्। तन्निर्वाहाय लोचनकारस्तत्र तत्र यतत एव। तथा च प्रकृते व्यंग्यार्थस्येव वाच्यस्याप्पानन्त्यं प्रसाधनीयम्। तदैव नवत्वं वाच्यस्य सिद्धं भवेत्। इदमेव च नवत्वम्—तात्पर्यभूत विशेषार्थ प्रतिपादकत्वम्। तच्चाभिधयैव न वृत्त्यन्तरेण। मम्मटानन्द वर्द्धनयोरयं विशेषः—मम्मटः व्यंग्यस्य वाच्यातिरिक्तत्वं साधयितुं वाच्यस्मैकरूपत्वं व्यंग्यस्य चानेकरूपत्वं स्वीकरोति। आनन्दवर्द्धनस्तु वाच्यस्माधनेकरूपत्वभंगीकृत्य व्यंग्यस्य तदतिरित्वं प्रसाधयतीति[13]।

मम्मट और आनन्द के भिन्न भिन्न पक्ष

अर्थात् वाच्यार्थ में 'नवता' तभी आती है जब वह अभिप्रेत विशेष का भी प्रतिपादन करता हो। आनन्दवर्धन की

दृष्टि से यह 'विशेष' (पिण्डगत क्षीयमाणता) अभिधा से ही मिल जाता है। मम्मटाचार्य इससे सहमत नहीं हैं, वे 'विशेष' को व्यंजनागम्य मानते हैं। 'वाच्य' तभी होगा, जब संकेत गोचर होगा अन्यथा असंकेतित वाच्य किस तरह होगा ? इस रीति से 'वाच्यार्थ' को अनेकरूप मानने की आवश्यकता क्या है ? पर्यायवाची शब्द विशेष्यांश (सामान्यधर्मी)' को लेकर पर्यायवाची हैं, विशेषांश को लेकर 'भिन्नार्थवाची।' इस दृष्टि से मम्मट का मत ही समीचीन प्रतीत होता है।

बिम्बार्थोपयोगी विशेष की वृत्तिवेद्यता पर विचार

इसी प्रसंग में प्रत्यक्षायमाण अर्थगत 'विशेषों' की वृत्तिवेद्यता पर भी विचार कर लेना चाहिए। इतना तो महिम ने स्वीकार किया कि प्रत्यक्षायमाण रूप प्रज्ञा में स्फुरित होता है—कवि की प्रतिभा में झलकता है—सामान्य प्रज्ञा में नहीं, इसी अर्थ में कवि की प्रतिभा 'अपूर्ववस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा'[14] कही जाती है। वस्तु में अपूर्वता का सन्निवेश प्रज्ञा ही करती है—शब्द की क्षमता—अभिधा या व्यंजना नहीं। डा० नगेन्द्र ने एक भिन्न बात कही[15]। उनका कहना है कि यह शब्द की व्यंजनात्मक क्षमता है जो कल्पना या प्रतिभा को सामान्य अर्थ में 'विशेष' या अपूर्व का आधान करने के लिए उकसाती है। परन्तु शब्द की क्षमता का अभी तक एक ही कार्य सुना गया है, अर्थ का प्रत्यायन, न कि कल्पना का उकसाव। जो भी हो, इतना निश्चित है कि 'विशेष' मिलता है—प्रतिभावान् को ही—चाहे वह 'विशेष' विम्वार्थघटक हो, प्रत्यक्षायमाणता का निमित्त हो, अथवा अभिप्रेतार्थ 'विशेष' रूप हो।

डा० नगेन्द्र के अभिमत पर विचार

सर्जन की ओर से सोचने पर तो स्वाभाविक लगता है कि अनुभूति की झोंक में प्रत्यक्षायमाण अर्थ प्रतिभा में उभर आए, पर ग्रहण की ओर से शब्द से वाच्यार्थ की प्रतीति पहले सामान्य रूप में ही होगी या विशेष संवलित प्रत्यक्षायमाण रूप में ? यदि पहले सामान्य हो गई तो 'शब्द बुद्धि कर्मणां विरम्य व्याधाराभावः' के न्याय से दूसरी बार प्रज्ञा में जो प्रत्यक्षायमाण अर्थ उभरेगा, वह व्यंजनागम्य ही होगा। पर ऐसा मानने पर फिर प्रज्ञा की कार्यकारिता का क्या होगा ? उस अपूर्वता या 'विशेष' के निर्माण का श्रेय प्रतिभा को किस प्रकार मिल सकेगा ? मध्यवर्ती मार्ग यह निकलता है कि शब्द की व्यंजनात्मक क्षमता प्रज्ञोद्रेक द्वारा तन्निर्मित 'अपूर्व' संवलित 'प्रत्यक्षायमाण' अर्थ का बोध कराती है। प्रज्ञोद्रेक 'व्यापार' स्थानीय हो जाए और प्राचीन आचार्यों की मान्यता के अनुसार 'करण' रहे शब्द हो (व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्—इति प्राचीनाः)। नव्यनैयायिकों की भांति अव्यवहित को ही 'करण' माना जाए—तो शब्द की प्रज्ञोद्रेकी क्षमता को क्या कहा जाएगा ? फलतः यहां दो ही रास्ते हैं : या तो डा० नगेन्द्र का मत

स्वीकार किया जाए अथवा प्राचीन नैयायिकों का मार्ग अपनाया जाए। साथ ही यह भी है कि प्रतिभा की जो परिभाषाएं मिलती हैं—उनमें 'अपूर्व' के निर्माण की क्षमता को प्रतिभा की ही क्षमता कहा गया है। (मम्मट और आनन्दवर्धन पर प्राचीनों का ही प्रभाव है।)

प्रतिभास्फूर्त 'विशेष' अभिधा या व्यञ्जना-वेद्य ?

इस प्रकार जिस 'विशेष' के कारण रचना में नवता आती है—वह दो प्रकार का है—वस्तु को प्रत्यक्षायमाण रूप में प्रस्तुत करने वाला तथा अभिप्रेतार्थ विशेष रूप। पहला प्रतिभा की निर्मिति है और दूसरा आनन्दवर्धन की दृष्टि से अभिधावेद्य तथा मम्मट की दृष्टि से व्यंजनावेद्य।

'नवता' का आशय सर्वथा नया या नया सा

इस 'नवता' के विषय में एक प्रश्न और भी है और वह यह कि इस नव-सृष्टि 'विशेष' की स्फूर्ति सर्वथा नई होती है (अदृष्ट पूर्व) अथवा दृष्टपूर्व ? डंटन नाम का आचार्य इसे सर्वथा नया मानता है और कहता है कि काव्य में जिन पदार्थों का वर्णन होता है वे अनुभूतिसापेक्ष कल्पना से तो आते ही हैं, सबसे बड़ी और उत्कृष्ट सृष्टि वह है जो अनुभूतिनिरपेक्ष कल्पना से संपन्न होती है। इसे वे 'ड्रैमैटिक आर एब्सल्यूट विजन'[16] मानते हैं। बताते हैं कि अनुभूतिसापेक्ष कल्पना से जो निर्मिति होती है वह अनुभूत की ही होती है—अन्यत्र उसका आरोपण होता है—और इससे या तो आश्चर्यपूर्ण प्रसादन होता है अथवा आश्चर्यपूर्ण विषादन। एब्सल्यूट विजन ही सच्चे और उत्कृष्ट कवि का विजन है जो कुतूहल मात्र पर्यवसायी होता है, भारतीय आचार्य और चिन्तक इससे असहमत हैं। वे मानते हैं कि काव्य द्वारा अनुभूत की ही अनुभूति होती है—ज्ञात का ही ज्ञान होता है—अत: 'नयापन' का अर्थ 'नया सा' है, सर्वथा नया या अदृष्ट पूर्व नहीं। यदि ऐसा ही अर्थ काव्य में भर गया, तब तो काव्य अजायबघर हो जाएगा। साथ ही नए चिन्तक भी जो यह कहते हैं कि काव्यार्थ पहचाना जाता है, उससे ग्राहक सहृदय का संवाद होता है—इसकी भी संगति और उपपत्ति ठीक ठीक नहीं बैठ पाएगी। इसलिए भारतीय प्रज्ञा मानती है :

सर्वेनवा इवाभान्ति काव्ये रस परिग्रहात्।[17]

रसावेश या सर्जनात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति के आवेश में जो अभिव्यक्ति होती है वह 'नई' नहीं, 'नई सी' लगती है और 'नई' सी लगने में सर्जनात्मक अनुभूति का संस्पर्श कारण बताया गया है। इसी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए 'विशेष' की व्यंजना या सृष्टि होती है जिसकी चर्चा विस्तार से ऊपर की गई है। इसके साथ एक बात और। वह यह कि काव्य में जो कुछ वर्णित होता है—वह 'स्वत: सम्भवी' तो होता ही है—'कवि प्रौढ़ोक्ति' निर्मित भी होता है—कल्पना की भी कुछ उपज होती है, जो सर्वथा नई या 'बौद्ध' मात्र कही जा

सकती है, पर यहां भी यह ध्यान रखना ही होगा कि इन द्विविध पदार्थों की सार्थकता अनुभूत भावों की ही अनुभूति कराने में भारतीय चिन्ताधारा स्वीकार करती है। डंटन का समर्थन इससे भी नहीं होता।

काव्य का अकाव्यात्मक उक्ति से व्यावर्तक तत्त्व व्यञ्जना-प्रतिपाद्य 'विशेष' है

इस प्रकार उक्त वैचारिक पीठिका पर भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने यह स्थिर किया है कि नवता रचना का स्वरूपाधायक अर्थात् अनिवार्य तत्व है। इस 'नवता' की सम्पत्ति के लिए वर्ण्यवस्तु में 'विशेष' का आधान करना पड़ता है। इस 'विशेष' को उभारने के लिए कवि को 'शब्द' में कुछ अतिरिक्त क्षमता भरनी पड़ती है। शब्द की यही अतिरिक्त क्षमता अतिरिक्त अर्थ प्रदान करती है। यही अतिरिक्त अर्थ काव्य को व्यावहारिक और शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक उक्ति से भिन्न कर देता है। आलोककार ने इस अतिरिक्त अर्थ को 'प्रतीयमान' कहा और कहा कि 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव'[18] प्रतीयमान अर्थ 'कुछ और' ही अर्थ है। इसी 'कुछ और' को कहीं 'असाधारण' कहीं 'विशेष' और कहीं 'नव' से इंगित किया गया है।

पश्चिमी आचार्य और व्यंजना

पश्चिमी आचार्यों की ओर से भी इस पक्ष पर ग्रंथकार ने तथा अन्य काव्यचिन्तकों ने भी चर्चा की है। इसलिए मैं इस पक्ष का अधिक विस्तार न कर केवल एवर क्राम्वे का कथन उद्धृत कर हिंदी के नवलेखन और उसके नए रचना संसार की ओर उतर कर ध्वनि सिद्धान्त की संभावनाओं का संकेत करना चाहूंगा। एवर क्राम्वे ने ध्वनि सिद्धान्त के समानान्तर कितना सटीक कहा है :

> लिटरेरी आर्ट, देअर फोर, विल आल्वेज बी इन सम डिग्री सजेश्चन, ऐंड दि हाइट आफ लिटरेरी आर्ट इज टु मेक दि पावर आफ सजेश्चन इन लेंग्वेज ऐज कमांडिग।[19]

तथा प्रतीकवादी आंदोलन में शब्द की इसी अतिरिक्त क्षमता का महत्व प्रतिपादित है। एम्पसन की 'सेवेन टाइप्स आफ एंबिग्युइटी' में इसी अतिरिक्त अर्थ पर बल है। अस्तु।

हिंदी साहित्य : काव्य-चिन्तन और व्यंजना

हिंदी साहित्य में जहां तक प्राचीन साहित्य की बात है, उसके समानान्तर प्रवहमान रीतिग्रन्थों में ध्वनि सिद्धान्त की महत्ता और रसात्मक साहित्य के निर्माण की बात असंदिग्ध है। आधुनिक साहित्य में खड़ी बोली में निहित क्षमता का काव्योचित समुद्रेक छायावादी काव्य में लक्षित होने लगता है। पंत ने जहां एक ओर काव्यभाषा को चित्रभाषा[20] कहा और पर्यायवाची शब्दों की बारीकियों को रेखांकित करते हुए अतिरिक्त अर्थ के साहित्यिक सौंदर्य की बात की, वहीं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने समस्त छायावाद की ही शैलीपरक व्याख्या करते हुए

उसका लक्षण कर दिया : 'अतः छायावाद का सामान्यतः अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन'।[21] इस प्रकार समस्त छायावाद ही 'व्यंजना' परक काव्य हो गया। प्रसाद[22] ने 'छाया' शब्द का अर्थ भारतीय काव्यचिन्तनपरक दृष्टि से 'कान्ति' माना और बताया कि छायावादी कविता वह कविता है जहां कान्ति या लावण्योपम अर्थ वाच्यार्थ के भीतर से झलक मारता हो : 'प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणी सुमहाकविनाम्। यत्तत्प्रसिद्धा वयवातिरिक्तं विभातिलावण्यभिवांगनासु।'[23] अर्थात् महाकवियों की वाणी में प्रतीयमान रूप से कुछ और ही वस्तु झलक मारती रहती है। अंगना के प्रसिद्ध अवयवों के माध्यम से छलकने वाला किंतु उनसे अतिरिक्त जो स्थान लावण्य का है, वही स्थान यहां 'छाया' या प्रतीयमान अर्थ का है। प्रसाद ने बताया कि ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, उपचारवक्रता और अनुभूति की विवृत्ति ही छायावाद की विशेषताएं हैं। निराला तो अतिरिक्त अर्थ भरने के लिए बदनाम कवि हैं ही। महादेवी प्रतीकव्यंजना की प्रतिमूर्ति ही हैं।

छायावादोत्तर काव्य-चिन्तन और व्यंजना (ध्वनि) छायावादोत्तर काव्यचिन्तन के धरातल पर जो चौमुखी अस्वीकृति का स्वर उभरा उसमें परम्परागत भारतीय प्रतिमानों की वर्तमान रचना के संदर्भ में निरर्थकता का स्वर पर्याप्त मुखर हुआ। 'भाषा और संवेदना'[24] के लेखक डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी जैसे सुधी चिन्तकों ने स्पष्ट घोषणा कर दी कि नई काव्यधारा के सौंदर्यविश्लेषण में प्राचीन भारतीय प्रतिमान अक्षम हैं। उनमें अब ऐसी कोई संभावना भी शेष नहीं है, जिसे नई काव्यधारा के संदर्भ में उभारा जा सके। भारतीय काव्यशास्त्र से अपरिचित ऐसे तमाम काव्यचिन्तक हैं जिनके उद्धरण इस संदर्भ में प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

छायावादोत्तर काव्यप्रवृत्तियों और उसके आलोचकों की बात तो विचारणीय है ही, एक समय था जब स्वच्छन्दतावादी या छायावाद के समीक्षक ही यह कहने लग गए थे कि काव्य के उस रूप के सौंदर्यपरीक्षण में पुरातन भारतीय प्रतिमान अपर्याप्त हो गए हैं। परन्तु ज्यों ज्यों छायावादी आस्वाद और भारतीय प्रतिमान (रस-ध्वनि) के नजदीक आते गए, त्यों त्यों उनका अजनबीपन मिटता गया। एक तरफ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी[25] 'भावनिरूपण के पद्धतिबद्ध रूप' को हेय बताते हुए भी युगोचित परिष्कार के साथ रस को काव्य की निर्विवाद आत्मा घोषित करते हैं और दूसरी ओर प्रसाद[26] 'छाया या प्रतीयमान' अर्थ को काव्य का सर्वस्व कहते हैं। उक्त स्थापनाओं द्वारा इन कवियों और आलोचकों ने भारतीय प्रतिमानों में निहित संभावनाओं को देखा है और उसे छायावादी साहित्य के लिए भी उपयोगी माना है। स्वच्छन्दतावादी साहित्य के विषय में कतिपय चिन्तकों की यह धारणा भी थी कि इस साहित्य से अभिव्यक्त सौंदर्य का संवेदन

काव्यगत विषय के आगे बढ़कर कवि की अन्तरआत्मा के साक्षात्कार से संभव है (क्योंकि ये लोग सौंदर्य को आत्मनिष्ठ मानते हैं) जबकि रस का ग्रहण काव्यगत विषय (विभावादि) से ही हो जाता है, अतः रसवादी प्रतिमान की बात फिर भी निरर्थक है। वस्तुतः यह आक्षेप रस के मध्यकालीन माध्यमप्रधान अथवा ढांचा-बद्ध विजड़ित रूप को ध्यान में रखकर किया गया है, न कि आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की मूल धारणा को समझकर। आनन्दवर्धन की रस विषयक धारणा पर्याप्त संभावनाओं से संवलित है। उन्होंने तो रस को ऐसी अनुकूल मनोवृत्ति या चित्तदशा माना है जो काव्यवर्णित वस्तु या स्थितियों से उत्पन्न होती है। साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि ग्राहक काव्य विषय का ग्रहण करता हुआ रसावेश में कवि की प्रतिभा का भी साक्षात्कार कर लेता है। इसी प्रकार प्रगतिवादी भी पहले 'रस' से मुंह बिचकाते थे, किन्तु अन्ततः उन लोगों ने भी यह स्वीकार किया कि यदि रस को विजड़ित कर देने वाले जाल को हटा दिया जाए तो रसवादी सरणि उन लोगों के बहुत काम की है।

'नई कविता' के मर्मज्ञों ने इसकी मूल प्रेरक वृत्ति को गैर-रोमांटिक कहा और अपनी सर्जनात्मकता में कविता को अपरिभाषेय माना। बताया यह भी कि 'कविता क्या है', यह समझने के लिए कविता क्या नहीं है, यह समझना होगा। इसी संदर्भ में यह कहा गया कि 'कविता में भावावेग या रोमांटिक मनःस्थिति का होना अनिवार्य नहीं।' छायावाद और प्रगतिवाद उभयत्र भावावेग की संस्थिति मानी गई—एक का अवलंबन प्रकृति या नारी और दूसरे का धूल में सना मजदूर। फलतः रसात्मक प्रतिमान या अनुभावन की समस्या यहां तक कोई समस्या नहीं थी। समस्या वहां से आरंभ हुई जहां काव्य सम्बन्धी पुरानी धारणाओं—छंद, भावावेग आदि को निषिद्ध मानकर भी कविता या सर्जनात्मकता की चुनौती का निर्वाह किया जाने लगा, जहां सर्जनशीलता के नए आयाम उद्घाटित किए गए—इसे भाषिक सर्जनात्मकता कहा गया।

नई कविता के रचनाकारों की मनोभूमिका और रसध्वनि

इस प्रकार 'नई कविता' में प्रायः समस्त पुरातन धारणाओं, कलात्मक उपकरणों तथा क्रमागत जीवनमूल्यों के विरुद्ध विद्रोह और प्रस्थान की बात इस आशा से की गई कि काव्योचित सर्जनात्मकता या नवता के अंकुरित होने योग्य भूमियां और भी हैं—उनकी ओर भी दृष्टिपात होना चाहिए। कहा तो यह भी गया है कि 'नई काव्यधारा' में जिस अनुभूति ने अभिव्यक्ति पाई है उसकी बुनावट और बनावट अपनी गुणात्मक विशेषताओं में भिन्न हो गई है और उसका कारण तेजी से होने वाले जीवनगत गुणात्मक परिवर्तन हैं। इस प्रकार ऊपर ऊपर से विचार करने वालों ने यह स्थिर कर दिया है कि प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र या उसके द्वारा निरूपित काव्य प्रतिमान जिस 'लक्ष्य' को सामने रखकर बने थे, वह लक्ष्य

अब अपनी समस्त विशेषताओं के साथ निःशेष हो चुका है। आज का 'नया कवि' अथवा 'युवाकवि' जो कुछ दे रहा है, उसके लिए भारतीय प्रतिमानों में कोई संभावना शेष नहीं है। आज सामान्य, समाहिति, सामंजस्य और संश्लेष की जगह विशेष, व्यक्ति, बिखराव, द्वन्द्व और खण्ड खण्ड की स्थितियां हैं। इस स्थिति में भारतीय काव्यशास्त्र को 'नई काव्यधारा के मूल्यांकन' में या तो निःशेष मान लिया जाए अथवा उसकी नई व्याख्या द्वारा शेष संभावना स्पष्ट की जाए।

इसके पूर्व कि उक्त दोनों विकल्पों में से किसी एक की नई काव्यधारा के संदर्भ में पुष्टि करें, एक बार पुनः देख लें कि ग्राह्य काव्यधारा में भाव या भावना, सामान्य या व्यापकता और सामंजस्य या सौंदर्य की वृत्ति कहीं शेष है या नहीं। साथ ही यह भी देखें कि अस्ति और नास्ति पक्ष वाली रचनाओं में किसे इस धारा की चरम उपलब्धि स्वीकार किया गया है ? प्रतिमान का निकष चरम उपलब्धि की रचनाएं ही मानी जानी चाहिए। उन्हीं से प्रतिमान निकाले भी जाने चाहिए।

डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने गैर-रोमांटिक काव्य की संभावनाओं पर विचार करते हुए कहा है कि कविता के लिए भावावेग अनिवार्य नहीं है। मतलब कि भावावेग निषिद्ध भी नहीं है। स्वयं अज्ञेय में भावावेग की स्थितियां मिलती हैं और इन स्थितियों में उत्तम रचनाएं भी आई हैं। साथ ही यह भी लक्षित करने की बात है कि भावगत आवेग का निषेध हुआ—सामान्य भाव का नहीं, ताकि अनाविष्ट दशा का यथार्थ भी अभिव्यक्ति पा सके। भावबोध या रागात्मकता की स्वीकृति के साथ साथ इस बात पर बल अवश्य दिया गया कि उन्हें उभारने वाले जटिल-जटिलतर रागात्मक सम्बन्धों को अधिक प्रकाश में लाया जाए। इसीलिए अज्ञेय प्रभृति लक्ष्यकारों का कहना है कि नई काव्यधारा में राग की जगह रागात्मक सम्बन्धों ने महत्व पा लिया है। कविता इसीलिए आज पहले की तुलना में जटिल-जटिलतर हो रही है क्योंकि सम्बन्ध वैसे हो गए हैं। पुरानी कविता जहां भीतर (भाव) से बाहर (रूप) की ओर आती थी, नई कविता बाहर (जटिल सम्बन्धों) से भीतर (भाव) की ओर आ रही है। भोगे हुए जीवन से उपलब्ध राग या भाव को उसकी प्रामाणिक यथार्थता में चित्रित करने के लिए यह प्रयत्न अवश्य हुआ है कि उसे न तो गलदश्रु भावुकता से रंगा जाए और न ओढ़ी हुई आइडियालाजी से विकृत किया जाए। नई कविता की दिशा में दिखाई पड़ने वाली कतिपय शिथिलताओं की प्रतिक्रिया में युवाकवि अपने आक्रोश और अनौपचारिक अभिव्यक्ति में आगे बढ़े और 'अकविता' या 'कवितांतर' तक पहुंच गए। दूसरी ओर नई कविता में जिस भावुकता या भावना का स्वर दबे-मुंदे ढंग से रिस रहा था, नवगीत में वह समस्त युगानुरूप कलात्मक उपकरणों के साथ अपना स्वतंत्र प्रस्थान लेकर चला। नई कविता के भावात्मक

और अ-भावात्मक प्रवृत्तियों के ये दो सीमान्तगामी शिखर हैं—इनके बीच अन्यान्य प्रवृत्तियों की हरी-भरी घाटियां भी हैं।

युवालेखन के तेवर

युवालेखन के विषय में मर्मज्ञों की विविध धारणाएं मिलती हैं। ओमानन्द सारस्वत आदि की धारणा है कि युवालेखन में कतिपय कृतियां या कृतिकार ऐसे हैं जिनमें काव्य या कवि का अन्वेष्य 'सहज' उभरता हुआ लक्षित हो रहा है। 'क्ष त्र ज्ञ' के सम्पादक को डर है कि समकालीन जीवन सन्दर्भों और केन्द्रीय स्थितियों के सीधे साक्षात्कार की चुनौती को अप्रासंगिक करने पर युवालेखन कहीं सम्भावनाहीन एकरसता का शिकार न हो जाए। उनकी धारणा यह है कि आक्रोश और विद्रोह का बेमानीपन अब स्वत:सिद्ध हो चुका है, चूंकि किसी ठोस बुनियादी चिन्तन के अभाव में नाराज भंगिमाओं की कोई तर्कसंगति नहीं है।

इस प्रकार नई काव्यप्रवृत्ति में युवालेखन की अभी इतनी समीपी प्रवृत्ति है कि उसकी वयस्कता परीक्षणीय है। इसकी ऊंचाई, गहराई तथा प्रसार और व्यापकता अभी कोई सुस्थिर रूप नहीं ग्रहण कर सके हैं। फलत: न तो इस पर कोई प्रतिमान लागू किया जा सकता है और न इससे कोई प्रतिमान गढ़ा जा सकता है। दूसरी बात यह है कि उस विद्रोह और विरोध में संभावनाहीन एकरसता का भय होता है, जिसके मूल में किसी मूल्य के प्रति आस्था नहीं है। ऐसा आस्थाहीन संघर्ष क्षयी और शुष्क हो जाता है। जहां मूल्यान्वेषण का बीज भाव नहीं है, वहां का विद्रोह और संघर्ष सर्जनात्मक नहीं वरन् अराजक और विध्वंसक होता है। एक तरफ भारत के सामूहिक मन में व्यवसायी युग द्वारा दमित मूल्यप्राण, जातीय मनोवृत्ति का बाहर आने के लिए द्वन्द्व और संघर्ष तथा दूसरी ओर व्यवसायी और अवसरवादी बलवती शक्तियों से पराजित—फलत: आचार ग्रहण करने में असमर्थ—युवालेखन एक दलदल में फंसा हुआ है। इस संघर्ष का सर्वाधिक प्राणवत्ता में भोग निराला और मुक्तिबोध ने किया था—उनकी रचना ही इसकी साक्षी है। इसीलिए नई काव्यप्रवृत्तियों के मर्मज्ञों का निर्णय है कि मुक्तिबोध और उनकी रचनाएं नई काव्यधारा की चरम उपलब्धि हैं।

नए काव्य की वयस्क रचनाएं और ध्वनि सिद्धान्त

क्या ही अच्छा हो कि इसी चरम उपलब्धि को केन्द्र में रखकर भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिमानों की परीक्षा की जाए और देखा जाए कि वे अपने पूर्वव्याख्यात रूप में ही यहां लागू हो सकते हैं अथवा नई व्याख्या के साथ? निराला से लेकर मुक्तिबोध तक 'राम की शक्ति-पूजा', 'असाध्य वीणा' एवं 'आशंका के दीप : अंधेरे में' अथवा 'ब्रह्मराक्षस' को विभिन्न रुचियों के लोगों ने एकमत से कविता और उत्कृष्ट कविता कहा है। विचारणीय है कि इन्हें कविता या उत्कृष्ट कविता कहने का आधार क्या माना गया है? क्या इसलिए कि

इनमें घुटन, त्रास, खण्ड, वैयक्तिकता, असौंदर्य, असामंजस्य, असमाहिति, द्वन्द्व, बौद्धिकता, निर्मूल्य विद्रोह, संघर्ष और रूक्षता है? या कोई उनसे बड़ी चीज है? क्या ये रचनाएं इसलिए उत्कृष्ट हैं कि इनमें कोई आकर्षण नहीं है—एक बार पढ़ने पर ये बासी लगने लगती हैं? क्या है इन रचनाओं में जो इन्हें निरन्तर नवता और ताजगी दे रहा है, विभिन्न भूमिकाओं के लोगों को एक राह पर चला रहा है?

काव्य के सम्बन्ध में विचार करने वाला प्रत्येक आलोचक इस बात से सहमत है कि काव्य और अनुभूति (या संवेदना) का सहज तथा अविच्छेद्य सम्बन्ध है। बहस और विवाद केवल इस बात पर है कि आज काव्य में अनुभूति और संवेदना का अनुपात क्या है? उसका नियोजन किस स्तर पर है? साथ ही उसकी बुनावट और बनावट कैसी है? विचारणीय यह है कि 'नई कविता' और 'युवाकविता' की केन्द्रीय वृत्ति क्या है—संवेदना या ज्ञान? यहां 'संवेदना और अनुभूति' की चर्चा विशेषत: इसलिए की जा रही है कि 'रस' से उसका सीधा सम्बन्ध है। संवेदना और अनुभूति पहले भी काव्य में महत्वपूर्ण थीं और आज भी, अन्तर यह आ गया है कि जहां पहले रूप और व्यापार की योजना संवेदना, अनुभूति, राग या भाव से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखती थी, आज वे सम्बन्ध जटिल-जटिलतर हो गए हैं। इसीलिए जो (राग) वस्तुकाव्य में सदा से अविशेष नहीं है, वह तो अविशेष है ही, पर युगीन प्रभाव के रूप में आज महत्व पा गए हैं—ये जटिलतर रागात्मक सम्बन्ध। अद्यतन कविता में 'अनुभूति' के स्वरूप पर विचार करते हुए भी विजयदेव नारायण साही एवं डा० नामवर सिंह तो उसे हीरे की संरचना से उपमित करते हैं—जहां संरचना ही संरचना है और कुछ है ही नहीं। यदि आज की उत्कृष्ट कविता में अनुभूति ही निखालिस है—किसी अन्य विजातीय द्रव्य का वहां मिश्रण ही नहीं है—तब तो 'रस' (अनुभूतिमात्र) के विपक्ष में कुछ कहने को मिलता ही नहीं। यदि 'अनुभूति' के स्वरूप के विषय में ही कोई गहरा मतभेद हो तो उसे स्पष्ट उभरकर आना चाहिए। जिस प्रकार 'रस' का विरोध करते हुए उसकी स्वीकृति में अर्थवाद (व्याख्या) की अपेक्षा शर्तें के रूप में प्रस्तुत की जाती है, वैसे ही मेरी भी जिज्ञासा है कि ये नव्य समीक्षक जिस 'अनुभूति' की बुनावट को हीरे की संरचना से उपमित करते हैं उसका भी विवरण और समन्वय व्याख्या के आधार पर दें, तभी बात आगे बढ़ सकती है।

नवचिन्तकों की काव्यविषयक धारणाएं तथा ध्वनि सिद्धान्त

जब डा० नामवर सिंह[27] उत्कृष्ट काव्य के प्रतिमान के रूप में अर्थवान् शब्द के माध्यम से आवयविक अखण्डता की बात करते हैं, मुक्तिबोध[28] ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान की चर्चा चलाते हैं, ध्वनियों और चित्रों के साथ संवेदना प्रभाव के संवाद और आनुरूप्य पर बल देते हैं, गिरिजाकुमार माथुर[29]

संवेदना की कलात्मक अभिव्यक्ति को काव्य कहते हैं, काव्य के संदर्भ में भावपक्ष, बिम्बपक्ष और नादपक्ष के पारस्परिक सम्बन्ध की प्रत्यभिज्ञा को महत्व देते हैं, जब जगदीश गुप्त[30] अनुभूति और अभिव्यक्ति की सच्चाई को ही काव्योचित 'नवता' का मूलमंत्र कहते हैं, जब 'अज्ञेय'[31] सर्जनात्मक शक्ति के अस्तित्व की पहचान एकांगिता की संभावना के निःशेष होने में स्वीकार करते हैं, जब पंत[32] आदि छायावादी झंकार में चित्र और चित्र में झंकार की समरसता को काव्य का निष्कर्ष मानते हैं, तब सुदूरवर्ती भारतीय आचार्य—कुंतक, अभिनवगुप्त और आनन्दवर्धन—का यह उद्घोष कि अलंकार और अलंकार्य की तात्विक भूमि पर अखण्डता, काव्योचित उपकरणों की परिवृत्यसहता, काव्य की सहज स्फूर्ति भी हमें निराश नहीं करते। अन्दर प्रविष्ट होकर सहानुभूति के साथ देखने पर ये सारे के सारे प्रतिमान काव्य के समस्त उपकरणों में एक सहजता की मांग पर केन्द्रित जान पड़ते हैं। भेद प्रतिमान की मूल वृत्ति में नहीं है, युगोचित काव्य-कृतियों के अनुरूप उनसे निर्गत उपरूपों में है। ये उपरूप जड़ और विकृत हो सकते हैं, इन्हीं को मूल वृत्ति मानकर एक दूसरे का खण्डन हो सकता है, पर यह सब स्वयं का अज्ञान है जो खाने खींचता है और कलह करवाता है। संदर्भसापेक्ष प्रतिमान भी प्रतिमान हैं, पर देखना यह है कि संदर्भसापेक्ष रश्मियों के विकरण की क्षमता प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में है या नहीं। यदि नहीं तो नई व्याख्या की बात ही व्यर्थ है और यदि हां तो अभी तो वे संभावनाएं ही युगोचित रंगों से व्यक्त हो सकती हैं—नई व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि उन प्रतिमानों की मूल वृत्ति को परखा जाए और उसे सामयिक काव्य पर लागू किया जाए—उसके उपरूप निर्मित किए जाएं।

रचना और आलोचना का समानान्तर प्रवाह भारतीय काव्यशास्त्र या कोई अन्य काव्यशास्त्र आलोचक का बौद्धिक प्रयास है—बुद्धि द्वारा ऐसे प्रतिमान का निर्माण है जो यथासम्भव काव्य के सौंदर्य को अपरिणत प्रज्ञ जन तक भी पहुंचा दे। यदि सर्जनात्मक शक्ति बुद्धि से परे कोई क्षमता है तो बौद्धिक ढांचों में काव्य का बहुत कुछ आ जाने पर भी कुछ शेष रह ही जाएगा, इसीलिए इस भूमि तक पहुंचकर जो लोग मूल्यांकन, मानदण्ड और प्रतिमान पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाना चाहते हैं, वे गलत नहीं हैं। बुद्धि और सर्जनात्मक अनुभूति इन द्विविध शक्तियों का अर्धनारीश्वर मनुष्य एक तरफ अपने अथाह आत्माभिव्यंजन में स्वभावानुसार संतोष पाता है तो दूसरी ओर उसको बौद्धिक ढांचों या खानों में बांधने के प्रयास में भी, दोनों ही उसके स्वभाव हैं। तत्वतः जो भी सही हो, स्वभावतः दोनों चलते रहेंगे। अन्ततः प्रतिमान भी अपनी अखण्डता में उसी सहज और अथाह की ओर संकेत करके अपनी सीमा स्पष्ट करते हैं।

काव्यगत 'नवता' का वही स्वर

अभिप्राय यह कि बौद्धिक वैभव के प्रदर्शन का मानवीय स्वभाव शास्त्र निर्माण की प्रेरणा देता है। काव्यशास्त्र का निर्माण करते हुए बुद्धि ने पहला खाना खींचा कथ्य और कथन सरणि का, वर्ण्य और वर्णना का। काव्य इन दोनों की अखण्ड स्थिति है, फिर भी महत्व इसी वर्ण्य (अनुभूति) को दिया गया और कभी 'वर्णना' को। (संकल्पात्मक अनुभूति ही काव्य है,[33] 'वर्णनाकाव्यमुच्यते')। 'वर्णनाकाव्यमुच्यते' की वर्तमान प्रतिध्वनि 'भाषिक सर्जनात्मकता' है। आनन्दवर्धन ने भी ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में दो ऐसे उदाहरणों को लेकर जिनमें वर्ण्य एक है, फिर भी 'नवता' काव्य की आत्मा को लेकर, पूर्व पक्ष के रूप में उसका भार 'उक्ति वैचित्र्य' पर मढ़ा है। बाद में विचार किया है : 'किमिदमुक्तिवैचित्र्यम् ? उक्तिर्हि वाच्यविशेषप्रतिपादिवचनम्। तद्वैचित्र्ये कथं नं वाच्यवैचित्र्यम्। वाच्यवाचकयोविभावेन प्रवृत्तेः, वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद्रूपं तत्तु ग्राह्याविशेषाभेदेनैव प्रतीययेे, तेनोक्तिवैचित्र्यवादिना वाच्य-वैचित्र्यमनिच्छताप्यवश्मेवाभ्युगन्तव्यम्'[34] अर्थात् यह उक्तिगत काव्योचित 'नवता' (भाषिक सर्जनात्मकता) है क्या ? उक्ति वही न जो वाच्यविशेष का प्रतिपादन करने वाली वाणी होती है ? तो फिर उक्तिवैचित्र्य का मतलब वाच्य-वैचित्र्य नहीं है ? क्या कभी वाच्यनिरपेक्ष वाचक की और वाचकनिरपेक्ष वाच्य की कल्पना संभव है ? एक दूसरे का प्रयोग तो परस्पर सापेक्ष ही होता है। काव्य में वाच्य वस्तु और व्यापार जब बिम्बात्मक रूप में ग्राहक की प्रतिभा पर प्रतिभासित होते हैं तब वैयक्तिक विशेषता को साथ लिए हुए। निष्कर्ष यह कि उक्तिवैचित्र्य या भाषिक सर्जनात्मकता की बात करने वाले को चाहे अनचाहे वाच्यवैचित्र्य या वाच्यगत काव्योचित नवता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। सारांश यह कि सर्जना शक्तिजन्य काव्योचित 'नवता' काव्य के समूचे रूप से सम्बद्ध है, उसे काटकर देखना संगत नहीं है।

मुक्तिबोध की दृष्टि में सर्जना की निर्वैयक्तिक मनोभूमि पर बिम्बात्मक विशेषों का उभरना

भारतीय काव्यशास्त्र या काव्यप्रतिमान की बात करते हुए कहा यह जा रहा था कि बुद्धि कतिपय कल्पित खण्डों को लेकर विश्लेषणार्थ अग्रसर होती है। सर्जनात्मक अनुभूति अपने-आप में आदि और अन्त में उसी प्रकार अखण्ड होती है जैसे धरती की क्षमता विशेषता (गन्ध) पुष्प के आदि और अन्त में। (आदि में एक सर्जनात्मक शक्ति के रूप में और अन्त में सौंदर्य या गन्ध के रूप में)। विश्लेषण के लिए इस मध्यवर्ती रूप को खण्ड खण्ड कर दिया जाता है। काव्य भी अपने आदि रूप में एक सर्जनात्मक क्षमता है और मुक्तिबोध के शब्दों में अन्ततः एक संश्लिष्ट सौंदर्यानुभव। वे इस सौंदर्यानुभव को जीवनानुभव द्वारा प्रदत्त मानते हैं। उन्होंने कहा है कि 'संवेदनात्मक उद्देश्य विधायक कल्पना की

क्रिया को चलित करते हैं। इन संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार जीवनानुभवों के तत्व कल्पना के संघटन विधानकारी हाथों से निराले और तरह तरह के रूपों में प्रकट होते हैं। इस प्रकार जीवनानुभवों के तरह तरह के पैटर्न कल्पना तैयार करती है, किन्तु उसकी क्रिया संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुशासन में रहती है। उनके अनुसार इस पूरी प्रक्रिया में सौंदर्यानुभव तब घटित होता है जब मन:पटल पर बिंबित कल्पनाओं, रूपों में डूबकर मन साधारण जीवन की अपनी निजबद्धता का परित्याग कर देता है...संक्षेप में तन्मयता और तटस्थता निजबद्धता से मन:पटल पर अंकित बिंबों में अपने स्वयं की व्यस्तता संलग्नता — इन दो द्वन्द्वों की एक मनोदशात्मक परिणति ही सौंदर्यानुभव है। इसीलिए सौंदर्यानुभव जीवन के सारस्वरूप का प्रगाढ़ मार्मिक अनुभव है।'[35] मुक्तिबोध को इतना लम्बा सोद्देश्य उद्धरित किया गया है।

मुक्तिबोध और ध्वनिमत

भारतीय काव्यशास्त्र ने भी एक मनोदशात्मक परिणति विशेष (चित्तवृत्तिविशेषा हि रसावय: न च तदस्ति वस्तु किंचिद्यन्न चित्रवृत्तिविशेषमुपजनयति, तदनुत्पादने वा कवि-विषयतैव तस्य न स्यात्)[36] को ही काव्य का लक्ष्य कहा है। अन्तर वहां आ गया है जहां युगोचित रूप, व्यापार और मानवीय सम्बन्ध बदल गए हैं — अन्तर सामग्री का है। इसी सामग्री को कथ्य और कथन में बांटकर भारतीय काव्यशास्त्र ने जिन प्रतिमानों(वस्तुपरक रससिद्धान्त, कलापरक अलंकार, रीति, वक्रोक्ति)की चर्चा की थी 'ध्वनिसिद्धान्त' ने सबको आत्मसात कर एक स्वस्थ रूप दिया। ध्वनिसिद्धान्त अपनी समग्रता से एक सशक्त काव्य प्रतिमान है और खण्डता में वस्तुसिद्धान्त (रसध्वनि) और कलासिद्धान्त (वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि)। इसीलिए ध्वन्यालोककार ने कहा है कि अभ्यास काल, पुन: प्राणार्जन काल या संक्रान्ति काल में कविता चाहे जैसी हो किन्तु 'प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरेवकाव्य-मितिस्थितमेतत्'[37] अर्थात् अभ्यासार्थियों के काव्य को आप चाहे जो कहें, पर परिणतावस्था में तो जो काव्य होता है, वह 'ध्वनि' ही है, ध्वनिकाव्य ही है।

नये कवि की तीन वयस्क रचनाएं और ध्वनि सिद्धान्त

ऊपर जिन तीन आधुनिक उत्कृष्ट रचनाओं की बात कही गई है उस पर भारतीय काव्यशास्त्र अर्थात् ध्वन्यात्मक प्रतिमान पूरे तौर पर लागू होता है। कविता वही उत्कृष्ट होती है जो अभिव्यक्तिगत सहजता से हर समय के लोगों के संवेदना तंतुओं को स्पंदित कर सके (जिनके तंतु मर चुके हों उनकी बात अलग है) अथवा हर युग के अनुरूप, प्रत्येक परिवेश के अनुरूप व्याख्या की संभावनाएं अपने भीतर रखें। इन तीनों परिणत कविताओं में ये दोनों बातें मिलती हैं जो ध्वन्यात्मक प्रतिमान में निहित हैं। ध्वन्यालोककार ने ही कहा है

कि महाकवि वह है जिसके शब्दों की झंकार हर युग वाले को अनुरूप सुनाई दे और पुन: पुन: तन्मयकारिता पैदा कर सके। 'निराला' की 'राम की शक्ति-पूजा', 'अज्ञेय' की 'असाध्य वीणा' और मुक्तिबोध की 'ब्रह्मराक्षस' या 'आशंका के दीप : अंधेरे में' — इन सब में दोनों बातें लागू होती हैं। 'राम की शक्ति-पूजा' में राम के साथ तादात्म्य अनुभव करता हुआ पाठक बार बार करुणा से भर उठता है। राम के आंसू के साथ साथ पाठक के आंसू ढुलक पड़ते हैं। 'ब्रह्मराक्षस' में कुबेरनाथ राय ने रसबोधक तत्वों का अस्तित्व देखा है जिनके कारण उन्हें (या किसी को) मुक्तिबोध की रचनाएं बासी नहीं लगतीं। 'असाध्य वीणा' में कोई ऐसी चीज है जो उसे कोरी 'दार्शनिक स्थापना' होने से बचाती है। व्यक्तित्व विलयन अथवा समर्पण जो रस सिद्धान्त की एक शर्त है : "वह 'असाध्य वीणा' की रीढ़ है। निष्कर्ष यह कि जहां एक ओर इन कविताओं में मानवीय संवेदन तंतुओं को स्पंदित कर अपने को निरन्तर ताजी बनाए रखने की क्षमता है वहां बदलते हुए परिवेशों के अनुरूप नई 'वस्तु' झंकृत करने की भी क्षमता है।' 'राम की शक्ति-पूजा' में (1) निराला का वैयक्तिक जीवन-संघर्ष, (2) तात्कालिक स्वातंत्र्य संग्राम में विदेशी आसुरी शक्ति के समक्ष नैतिक शक्ति से जूझते हुए गांधी, (3) मानस जगत् में निरन्तर चल रहे आसुरी और मानवी शक्ति का द्वन्द्व और संकल्प की अंततः विजय अथवा (4) सार्वभौम भूमिका पर चल रहे निरन्तर सत् और असत् का संघर्ष — कुछ भी बदलते परिवेशों के अनुरूप वस्तुध्वनि निकाली जा सकती है। इसी प्रकार 'असाध्य वीणा' से भी काव्यात्मक सर्जना के माध्यम से शाश्वत विराट सर्जना की रहस्यमयी प्रक्रिया का संकेत झंकृत है। 'ब्रह्मराक्षस' में एक शाश्वत सत्य तो यही है जो सदा-सदा के लिए मनोविज्ञानसिद्ध उतर सकता है कि जातीय दमित वृत्तियां दोहरी यातना भोगती हैं। एक तरफ अकाल-ग्रस्त जातीय सात्विक वृत्तियों का भारतीय ब्रह्मराक्षस मन की बावली में निवास करता है और दूसरी ओर उसके बाहर आती आवाजें साम्प्रतिक व्यवसायवादी वृत्ति से दबा दी जाती हैं। इस वस्तुध्वनि के अतिरिक्त अन्य प्रकार की ध्वनियां भी यहां संभावित हैं।

ध्वनिसिद्धान्त की व्यापकता

इस प्रकार स्पष्ट है कि वस्तुपक्ष और कलापक्ष—दोनों को आत्मसात् करता हुआ तात्विक भूमिका का संकेतक ध्वनिसिद्धान्त भी अपने मूलस्वरूप में ज्यों का त्यों प्रतिमान के रूप में ग्राह्य है। हां, तात्कालिक लक्ष्यों को देखकर जो खाने और ढांचे तात्कालिक विवेचकों ने अवान्तर उपभेद के रूप में कहे हैं—उन्हें यथा-संभव मानकर या लांघकर नए उपरूपों की रचना का दायित्व आज के स्वस्थ समीक्षक पर है। अभिप्राय यह कि भारतीय साहित्य शास्त्र की मूल वृत्ति तो आज भी यथावत् ग्राह्य है—उपरूप नए हो सकते हैं। काव्य में जिस अभिधा और

लक्षणा की बात कही गई है—उन्हें व्यंजनामुखी कर दिया गया है और व्यंजना के ग्रहण की सामर्थ्य अंततः प्रतिभा पर छोड़कर उसकी संभावनाओं का द्वार उन्मुक्त रखा गया है। कहा है :

···प्रतिभाजुषाम् योऽन्योथों व्यज्यते यत्र व्यापारो व्यक्तिरेव सा।[33]

भारतीय काव्यशास्त्र ने 'प्रतिभा' को अनन्त सिद्ध करने के लिए ही ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना कर रखी है। कहा जाता है कि गैर-रोमांटि. नई कविता अथवा 'युवालेखन' का मूल्यांकन छायावादी छद्म संस्कारों से मुक्त समझदार ही कर सकते हैं। ऐसे छद्म संस्कारों से आक्रान्त भावुक सहृदय नई कविता का मूल्यांकन नहीं, अवमूल्यन कर बैठते हैं। ऐसे लोगों को छायावादी रोमानियत और सौंदर्य-बोध तथा आइडियालाजी के अवशेष ही आकृष्ट करते हैं, नई धारा के प्रासाद नहीं। इसीलिए मैंने प्रतिमानों पर विचार करने के लिए कविता (चरम उपलब्धि) चुनी है, छायावादी या किसी वाद से आक्रान्त रचना नहीं।

छायावादोत्तर इस सैद्धान्तिक चिन्तन के साथ-साथ रचनाओं के साक्ष्य पर भी फिर से ध्वनिसिद्धान्त की संभावनाएं देखनी चाहिए। हमें इस लम्बी सैद्धान्तिक चर्चा के बाद उस आरंभिक वक्तव्य का पुनः स्मरण करना चाहिए जहां कहा गया है कि काव्य या रचना को रचना कहे जाने के लिए 'नवता' आवश्यक है। 'नए काव्य' के संदर्भ में काव्यमात्र के लिए अपेक्षित इस 'नवता' के साथ एक विशेष 'नवता' की भी बात की जा सकती है जो नए युग की नई मानसिकता से जुड़ी हुई है।

नए काव्य की नई मानसिकता

'नया काव्य' का सम्बन्ध नई मानसिकता से है—ऐसी नई मानसिकता से, ऐसे 'नएपन' से जो अज्ञात भाव से धीरे-धीरे नहीं विकसित हुआ है, बल्कि छलांग मारता हुआ आया है। इसीलिए इस नएपन को रेखांकित किया जाता है, वर्ना घनानंद की कविता भी लीक-बद्ध लोक प्रचलित कविता से इतनी भिन्न थी कि 'ह्याँ प्रवीननि की मति जाति जकी'—बड़े-बड़े सहृदयम्मन्य आलोचकों की प्रज्ञा स्तब्ध रह जाती थी—फिर भी उसे कोई विशिष्ट संज्ञा नहीं दी जा सकी। एक 'नयापन' तो ऐसा है जो रचना मात्र के लिए अनिवार्य है। 'नयापन' के बिना कोई निर्मिति अथवा अभिव्यक्ति रचना हो ही नहीं सकती, फिर भी यह 'नयापन' अनुभूति-सापेक्ष कल्पना से ही आने के कारण ज्ञात का ही नयापन होता है, अज्ञात का नहीं। भारतीय परम्परा डंटन के उस ड्रैमेटिक आर ऐब्सोल्यूट विजन अनुभूति-निरपेक्ष-कल्पना की कुतूहल-मात्र-पर्यवसायी सर्वथा नूतन वैचित्र्य का समर्थन नहीं करती। कविता अनुभूत की ही अनुभूति कराती है—ज्ञात का ही ज्ञान कराती है—सहृदय ग्राहक को उसमें 'नयापन' प्रतीत होना चाहिए, उसे

लगना चाहिए कि वह कर तो रहा है—अनुभूत की ही अनुभूति पर लग रहा है कि उसके (अनुभूत की अनुभूति से) 'कुछ और' ही—तभी वह प्रभावित होगा। रचना वही है जो 'प्रभाव' डाले। यह एक ऐसा निष्कर्ष है जिसमें कदाचित् ही किसी को विवाद हो।

बाध्य हैं हम दोनों
एक दूसरे से घृणा
करते हुए
करने को प्यार[39]

श्रीकान्त वर्मा की ये पंक्तियां हैं। इसमें समाज की जकड़न, यौन नैतिकता के संस्कार तथा व्यक्तिगत अराजक यौन भावनाओं के अदम्य समुच्छलन से उत्पन्न पारस्परिक अविश्वास और विसंवाद की स्थिति का उल्लेख है और उसके कारण विद्रोह की भावना है। आप इसे नई मानसिकता की छलकन कहेंगे। क्या यह अनुभूत की अनुभूति नहीं है? व्यष्टि मानस के लिए अपरिचित हो, पर क्या सामूहिक अवचेतन या समाज मानस के लिए भी अपरिचित है। भाषा का सहारा लेते ही कविता सामाजिक हो जाना चाहती है—सामाजिकों के लिए। अभिप्राय यह कि यह अननुभूत, नहीं अनुभूत की अनुभूति है—पर 'कुछ और' इसमें न होता, 'नयापन' न होता तो इसे कोई कविता न कहता। यह 'कुछ और' ही कविता की जान है। इसके पूर्व कि छलांग मारता हुआ आने वाला नयापन क्या है—इस पर विचार करें, पहले कवितामात्र के लिए अपेक्षित और अनिवार्य इस सामान्य 'नएपन' को भारतीय काव्यचिन्तन के आलोक में देख लें।

सिंहासन ऊंचा है सभाध्यक्ष छोटा है
अगणित पिताओं के
एक परिवार के
मुंह बाये बैठे हैं लड़के सरकार के
लूले काने बहरे विविध प्रकार के
हलकी सी दुर्गन्ध से भर गया है सभाकक्ष।[40]

काव्य का कार्य है—साधारण में असाधारण या विशेष को उभार देना

डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा 'इस उद्धरण में किसी सामान्य सभाकक्ष का वर्णन भी है और किसी विशिष्ट सभाकक्ष का बिम्ब भी। उन्हीं पंक्तियों में वर्णन और बिम्ब के स्तरों की टकराहट अर्थ को असाधारण विस्तार देती है।' यह 'असाधारणता' क्या है? अज्ञेय के साथ उनके सभी अनुयायी यह मानते हैं, बल्कि अननुयायी भी कि नयी कविता का भाव और शिल्प दोनों ही पहले से कहीं अधिक जनतांत्रिक हो गए हैं। अब उदात्त के साथ अनुदात्त और विशिष्ट के साथ सामान्य भी काव्य का विषय बन गया है। कवि का

कार्य है—साधारण में भी असाधारणता उभार देना, 'कुछ और' उभार देना। शायद अज्ञेय ने ही कहा है कि काव्य में 'आम' प्रविष्ट होते ही 'खास' हो जाता है।

कुन्तक और आनंद की सहमति

भारतीय काव्यचिन्ताधारा में 'साधारण' में निहित 'असाधारण' को उभारने की बात पर बड़ा बल दिया गया है, 'कुछ और' को कविता की जान भी बताया गया है। एक ओर वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक कहता है कि वर्ण्यवस्तु के स्वभाव में जो 'सूक्ष्म सुभगतत्व' निहित है कवि की वाणी उसी को प्रतिभाशक्ति से खींचकर ऊपर ला देती है—यही सूक्ष्म सुभगतत्व, वर्ण्यवस्तु की स्वभावगत असाधारणता है, बांकपन है—कुछ और है। उन्होंने इसी बांकपन या असाधारणता का मर्म भ्रान्त लोगों को समझाते हुए कहा है :

स्वभावस्याञ्जसेन प्रकारेण परिपोषणमेव वक्रतायाः परंरहस्यम् ।[41]

स्वभावगत असाधारणता को उभारकर रख देना ही वक्रोक्तिवाद का परम रहस्य है। उन्होंने कहा :

लीनं वस्तुति सेन सूक्ष्मसुभगंतत्वं गिरा कृष्यते
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं वाचैव योवा कविः ।
वंदे द्वावपि तावहं कविवरौ वंदेतरां तं पुनः
यो निज्ञातपरिश्रमोऽयक्षनयोः भारावतारक्षमः ।।[42]

प्राचीन चिन्तन में भी स्रष्टा और सृष्टि—उभयत्र रसात्मक सुंदर तत्त्व की सत्ता पर बल

मैं उन दोनों प्रकार के कवियों को तो वंदनीय मानता ही हूं जिनमें से एक तो वर्ण्यवस्तु में लीन सूक्ष्म सुभगतत्व को—असाधारणता को—अपनी वाणी से कुरेद कर ऊपर ला देता है—सर्वसंवेद्य बना देता है और दूसरा अमनोहर को भी अपने वाग्विकल्प से मनोहरता प्रदान करता है, अर्थात् जिसमें कोई स्वभाव सौंदर्य नहीं है फिर भी अपनी क्षमता से उसमें कुछ और ही छटा डाल देता है;—उन आलोचकों और सहृदय पाठकों को भी वंदनीय मानता हूं जो ऐसी रचनाओं का आस्वाद लेकर स्रष्टा के सर्जनश्रम को हलका कर देते हैं, उन्हें समझकर उन्हें राहत देते हैं।

दूसरी ओर आनन्दवर्द्धन हैं। उन्होंने इस 'कुछ और' की व्याख्या करते हुए कहा है :

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वसत्वास्ति वाणीसु महाकवीनाम् ।
यत्तप्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यविवांगमासु ।।[43]

महाकवियों की वाणी में झलकने वाली 'कुछ और' ही बात होती है, ठीक वैसे ही जैसे अंगनाओं के अंग-अंग में झलकने वाला लावण्य। इस 'असाधारणता' को उभारने वाले शब्द—सही शब्द की तलाश कवि करता है—अभिव्यक्ति तब तक

अभिव्यक्ति नहीं है जब तक यह सही शब्द नहीं मिलता। ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन ने कहा है :

उत्तयन्तरेणा शक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यंजकता बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत् ।।[44]

उस कविता की जान 'कुछ और' को जो उक्ति शब्द ठीक-ठीक अपनी अपरिवर्तनीयता के साथ उभार दे, वही ध्वनि प्रतिमान है। कविता-अकविता सभी के पक्षधर इस प्रतिमान की संभावना से सहमत होंगे। लोग कहते हैं कि भारतीय रसचिंतन 'माध्यम' (विभावादि) को ही महत्व देता है—सर्जक के व्यक्तित्व की यहां उपेक्षा है, उसमें निहित सौंदर्य का अग्रहण है। पर ऐसी बात भी नहीं है :

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तुनि: ष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यभभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।।[45]

अर्थात् कवि की वाणी ग्राहक को प्रभावित करती हुई प्रभाव के ही आवेश में अपनी मूलवर्तिनी प्रतिभा का भी साक्षात्कार करा देती है।

काव्य सत्य के ग्रहण में व्यक्तित्व विलयन आवश्यक शर्त

नया चिन्तन कहता है कि कविता अनुभूत सत्य के प्रकाशन का ही माध्यम नहीं है (अननुभूत) सत्य के जानने का भी माध्यम है। अज्ञेय तथा नामवर सिंह के इस वक्तव्य के साथ जगदीश गुप्त का भी स्मरण करना चाहिए। उन्होंने कहा है कि कवि ऋषि की तरह 'सत्य' का अन्वेषी और द्रष्टा होता है और काव्य इसी दृष्ट या साक्षात्कृत सत्य की अभिव्यक्ति का माध्यम है। अभिव्यक्त 'सत्य' को यथावत् ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक है कि ग्राहक आब्जेक्टिव रहे, अपने व्यक्तित्व को स्रष्टा के व्यक्तित्व में विलीन न करे, तभी नए काव्य की संप्रेष्य सह-अनुभूति—जो रसानुभूति की विरोधी है—का ग्रहण हो सकता है। मैं यहां केवल इतना ही जानना चाहता हूं कि ग्राहक कवि के अनुभूत सत्य का ग्रहण करता है—या मात्र 'सत्य' का ? पहला विकल्प तभी संभव है जब ग्राहक स्रष्टा की आंख से उसके अनुभूत सत्य को देखे, अर्थात् व्यक्तित्व का विलयन करे। दूसरा पक्ष काव्य और कवि के संदर्भ का है ही नहीं।

अब यह कि इस कथन का क्या आशय है कि काव्य सत्य की अभिव्यक्ति का ही माध्यम नहीं है, सत्य के जानने का भी माध्यम है। यह कि वह सत्य अननुभूत है या अनुभूत ? यहां भी यदि वह 'सत्य' अननुभूत है, तो कविता का सत्य नहीं है। हां, उसका आशय अचेतनगत अननुभूत को चेतन में लाने का माध्यम भी कविता है, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। फिलहाल, यह तय हुआ है कि कविता द्वारा अनुभूत की ही अनुभूति होती है—पर 'नएपन' के साथ, 'कुछ और' के साथ। और इस संदर्भ में ध्वनिसिद्धान्त की संभावना को नकारा नहीं जा सकता।

अब रहा, रससिद्धान्त, जिसको खूब फीचा जा रहा है। फीचा जा रहा है पर रंग निकलता ही जा रहा है। लोग इसे तब तक फीचेंगे, जब तक रग पूर्णरूप से न निकल जाए, लेकिन यदि वह रंग ही रंग हो और कुछ हो ही नहीं। अस्तु। आलंकारिक ढंग छोड़कर सीधे अपनी बात पर आना चाहिए। रस के विषय में सबसे पहली बात यह कि न केवल रसात्मक प्रतिमान बल्कि कोई भी प्रतिमान रचना और रचना के मूल में रहने वाली सर्जनात्मक अनुभूति से गुजर चुकने के बाद, उसकी धातु पहचान लेने के बाद ही लागू किया जाना उचित है, भारतीय आचार्यों का यही परिनिष्ठित मत है। तभी वस्तु व्यंजनागर्भ रचनाओं पर रसात्मक प्रतिमान का संचार करने वाले समीक्षकों को अभिनवगुप्त ने रसांध कहा था। इसीलिए प्रातिभ संरंभ का विचार करने वाले आचार्यों ने रसात्मक प्रतिमान की दृष्टि से काव्य को कभी भेद-प्रभेदों में बांट दिया था। वे भी उसी रचना पर रसात्मक प्रतिमान लादते थे, जिनमें अनुभूति साक्षिक रसात्मकता की प्रमुखता होती थी। अतः विवाद इस बात का नहीं है कि रसात्मक प्रतिमान का सर्वत्र संचार किया जा सकता है या नहीं, विवाद इस बात का है कि तदनुरूप नई मानसिकता है या नहीं? यहां फिर ठहरकर पहले क्रमागत 'नयापन' के उभारने में उसका योगदान है या नहीं—पहले यह देख लें। आनन्दवर्द्धन ने कहा है:

सर्वे नवा इवामगन्ति काव्ये रस परिग्रहान्।

रसात्मक ध्वनि-सिद्धान्त का नई रचना में संचार

पतझर के ठूठे पेड़-पौधे मधुमास में डूबकर जैसे नएपन से मण्डित हो जाते हैं वैसे ही सर्जनात्मक अनुभूति के मधुमास में निकली अर्थराशि नई सी लगने लगती है।

कलेन्डर दिसम्बर तक फटा है, ग्लास चटके हुए हैं, किताबों
के पन्ने फट फट कर एक दूसरे में मिल गए हैं
कान टूटने से प्यालियां कटोरियां बनी हुई हैं
दीवालों पर लाल काली मकड़ी जालियां लिखी हैं
टेबललैम्प में न बल्ब है न छत ही, मौसमी
फुलवाड़ी में सिर्फ डण्ठल और डाल है,
शिशु हाथी की सूंड जैसे चंचल हाथों वाली मेरी
लक्ष्मी—यहां एक महीने रहकर गई।[46]

अज्ञेय द्वारा रचना में रस का समर्थन

मदनवात्स्यायन की 'स्वस्ति मेरी बेटी' शीर्षक यह रचना रस की दृष्टि से वात्सल्यविप्रलंभ की रचना कही जा सकती है। ऐसी बंध्या अनुभूतियां अपने उद्‌गारों के साथ अनेक बार आती जाती सुनी गई होंगी, किन्तु प्रस्तुत रचना में वही अनुभूति सर्जनात्मक होकर अपनी अभिव्यक्ति में आकर्षक हो गई है—नई सी लगने लगी है—प्रभावित करती है। इसमें यथार्थ जीवन की सच्ची तसवीर है,

व्यंजक अर्थसामग्री के माध्यम से युगीन बोध है—वर्गीय पारिवारिक जीवन का जाना पहचाना चित्र है। निष्कर्ष यह कि जब नई कविता के शलाका पुरुष मानते हैं कि उनका 'हृदय उथला नहीं हो गया है' तब रसात्मक उद्गारों के अभाव की शपथ ठीक नहीं होगी। हां, यह अवश्य है कि आज के भौतिकतापरक व्यावसायिक मानस वाले औसत प्रवाह में कूटनीतिक, फलत: जटिल व्यापारों का ऐसा माहौल बन गया है —कि भुक्कड़ और निर्मम रक्तलोभी गिद्धी मौसम में 'हृदय' दुबका हुआ है। पर यह कैसा जनतंत्र—जहां दुबके सिमटे को कविता और स्वप्न में भी बाहर निकलते भय महसूस हो रहा है? अज्ञेय[47] तो निर्भीक होकर कह रहे हैं: 'कलाकार और रसिक— दोनों की दृष्टि से एक कलाकृति की मूल कसौटी यही है कि वह चमत्कारयुक्त हो, रसयुक्त या रसात्मक हो। रसिक कला से रस मांगता है तो कलाकार को अपनी कला से वही देना चाहिए और ऐसे रूप में देना चाहिए कि उसमें रस की अवहेलना न हो।' ये सामान्य उक्ति से काव्यात्मक उक्ति को उसकी वक्रता में विशिष्ट मानते हैं और मानते हैं कि उक्तिगत वक्रता स्थायी और संचारी के चामत्कारिक योग से ही संयुक्त होकर रस की सृष्टि कर सकती है। (त्रिशंकु।) भारती जी का भी ख्याल है: 'बहुत सी कविताएं अच्छी लगती हैं। वे प्रभावित करती हैं और उनका प्रभाव स्थिरता लिए हुए होता है। इसकी (प्रभाव की) परिधि में भाव और ज्ञान—दोनों ही आ जाते हैं।'[48] ये वक्तव्य संभाव्य स्थलों में रसमयता, ध्वनिमत्ता तथा वक्रता का नए काव्य में होना समर्थित करते हैं।

मुक्तिबोध की दृष्टि में प्रभावी भाषा का रहस्य

मुख्य बात यह है कि वह अपनी संवेदनाओं के आग्रह से अपने अनुभवों के आधार पर, कल्पना द्वारा जीवन की पुन:रचना करता है, अपने अनुसार। कल्पना के रंगों में डूबी हुई इस जीवन पुन:रचना के रंग नि:संदेह भावुक हैं। इन चित्रों के रंगों में डूबकर उन्हीं चित्रों से प्राप्त संवेदनाओं में ग्राहक भावुक होकर रम जाता है। अपने मनोमय जीवन के इन क्षणों में जब वह उन चित्रों में तन्मय होकर, उनमें प्रस्तुत हुए जीवन की संवेदनाएं और अनुभूतियां ग्रहण करने लगता है, उस समय, वास्तविक बाह्य से क्रिया प्रतिक्रिया करने में व्यस्त और ग्रस्त करने वाले मन को जो वैयक्तिक सुख दु:ख से मण्डित रहता है—बहुत पीछे छोड़ देता है, उसके ऊपर उठ जाता है—उसके परे हो जाता है।[49]

सौंदर्यानुभूति का क्षण कलात्मक अनुभव का क्षण है। गहन अनुभूति के क्षण थोड़े होते हैं—वे सौंदर्यानुभव के क्षण होते हैं, जब हममें एस्थेटिक इमोशन जाग उठता है, तब हम कविता लिखते हैं। ऐसे एस्थेटिक इमोशन्स

केवल लेखक में ही नहीं होते, साधारण जन हृदय में भी ग्राते-जाते हैं ग्रौर खूब ग्राते हैं। जनता स्वयम् एस्थेटिक इमोशन का भाण्डार है। यह कोई राजनीतिक बात नहीं, नितान्त सत्य है। फिर हमी क्यों कवि हो जाते हैं, वे क्यों नहीं होते। यह इसलिए नहीं हो पाता कि यद्यपि वे भावों की व्यक्तिवद्ध दशा से हटकर ऊपर उठकर सामान्य ग्रौर उच्चतर रस दशा में चले जाते हैं, फिर भी कभी कभी वे उनका एक्ट्रेक्शन विलगीकरण नहीं कर पाते। किन्तु बहुत बार वे लोग बातचीत के दौरान में वैसा कर जाते हैं तब उनकी बात का प्रभाव रसात्मक होता है ग्रौर वाणी द्वारा प्रस्फुटित उनकी ग्रात्माभिव्यक्ति की ग्रपनी शैली होती है, जिसमें प्रभावात्मक शब्दयोजना रहती है। सामान्य जन में यही प्रभावात्मक शब्दयोजना नहीं होती कि जिससे वह ग्रपने सूक्ष्म भावों ग्रौर ग्रावेशों को ठीक ठीक प्रस्तुत कर सके।[50]

ग्रपने से परे उठने ग्रौर परे जाने की यह जो प्रवृत्ति है उसी की एक विशेष शाखा है—सौंदर्यानुभूति। यह सौंदर्यानुभूति केवल कलाकार की विशेषता नहीं है वरन वह उन सबकी विशेषता है जिन्हें हम मनुष्य कहते हैं। वह मनुष्यत्व का एक लक्षण है।[51]

समाजवाद की मूल ग्रात्मा जनतांत्रिक है।

ये उद्धरण ध्वनिगम्य या ध्वन्यात्मक रसवत्ता की ही बात कह रहे हैं—नई रचना ग्रौर नए चिन्तन के संदर्भ में।

रसध्वनि विरोधी तर्क ग्रौर समाधान

ग्रब, रेखांकित की गई 'नई मानसिकता' ग्रौर उसके कारण ग्राने वाले 'नएपन' के संदर्भ में भी भारतीय काव्यतत्वों तथा प्रतिमानों की स्थिति देख लेनी चाहिए। यह 'नई मानसिकता' विज्ञान के प्रभाव में भौतिकता को ही समष्टि ग्रौर व्यष्टि के धरातल पर चरम प्राप्य मानकर सर्वथा व्यावसायिक हो जाने के संदर्भ में ग्राई है। इसीलिए इसके प्रभाव में ग्रव्यावसायिक मानवीय मूल्य विघटित हुए हैं, क्षयिष्णु वृत्तियों ने जीवन पर ग्रपनी सत्ता स्थापित कर ली है। बुद्धिवाद कूटनीतिवाद हो गया है, राजनीति स्वार्थनीति हो गई है। सर्वत्र विसंगति, विखण्डन ग्रौर ग्रसामंजस्य उभर ग्राया है। इस सांस्कृतिक संकट से समाज का मेरुदण्ड चरमरा उठा है। भौतिक दूरी कम होती जा रही है, मानसिक दूरी बढ़ती जा रही है। हर ग्रादमी हृदय का बोझ थामे थामे थक गया है, उसे कोई जगह नहीं मिलती जहां वह उसे उतार कर क्षण भर के लिए रख दे ग्रौर राहत की सांस ले। सारा विश्व हांफ रहा है। निश्चय ही इन प्रत्याभिज्ञापक रेखाग्रों के कारण 'नई मानसिकता' पुरानी मानसिकता के तारतम्य में रेखांकनीय हो

उठी है। वहां धम, अध्यात्म, दैव, प्रारब्ध के साये में अमेय सहिष्णुता थी, समझौता था, बागीपन और विद्रोह का मुंह बंद था। संप्रति वह साया भी हट गया है और वह भूमि भी कट गई है—फलत: 'नई मानसिकता' साफ दिखने लग गई है। तभी अज्ञेय कहते हैं :[52]

1. रस का आधार है—समाहिति, अद्वन्द्व—किन्तु नई कविता द्वन्द्व और असामंजस्य की कविता है।

2. नई कविता वर्तमान पर केन्द्रित है, जबकि रस की दृष्टि अतीतोन्मुख रहती है—नई कविता का विषय है क्षण की अनुभूति, जबकि रस का आधार है—वासना और स्थायीभाव।

3. रस सिद्धान्त में कवि के व्यक्तित्व की पूर्ण उपेक्षा है-—अत: रसानुभूति में केवल अव्यक्तिगत भावना का ही आस्वादन संभव है, किन्तु आज की कविता का संबंध अत्यन्त व्यक्तिपरक अनुभूति है, जिसे रसानुभूति के समक्ष सह-अनुभूति की संज्ञा दी जा सकती है।

4. नई कविता का मूल स्वर बौद्धिक, रागात्मक नहीं आदि आदि।

इन प्रश्नों का उत्तर देने से पहले मैं अपनी उस पूर्व प्रतिश्रुति को पुन: दोहराना चाहता हूं कि भारतीय आचार्य न तो रसात्मक प्रतिमान का अंधा होकर सर्वत्र संचार करते हैं, न करने की वकालत करते हैं। यह प्रतिमान वहीं लागू होगा, जहां रचना का मूल उत्स—सर्जनात्मक अनुभूति—रसात्मक होगी। पर जब यह कहा जाता है कि 'नई मानसिकता' से समुद्भूत 'नई कविता' में रसात्मक मन:स्थिति कभी आ ही नहीं सकती—तब यह शपथ भी एक अतिचार लगता है। ऊपर के उदाहरण ही इसके जवाब हैं। यह कहना कि उक्त उदाहरण में 'नई कविता' के अनुरूप 'नई मानसिकता' ही नहीं है—शायद जबरदस्ती होगी। फिर 'नई कविता' में भिन्न विचारधाराओं के लोग हैं—वे 'जीवन में सौंदर्य लहलहाएगा'—इस आस्था के साथ सामाजिक भूमि पर आस्था के साथ संघर्षरत हैं। उनकी रचनात्मक मनोभूमि इस परिवेश में भी सामाजिक और रचनात्मक है। सारी नई कविता में मनोविश्लेषणात्मक चिन्तन और अभिव्यंजन की बंधी-बंधाई पद्धति पर व्यक्तिमन की अंधेरी गुहाओं के भूत-प्रेत ही नहीं ताण्डव करते लक्षित होते। इंपर्सनल भूमिका पर रचना के मुखापेक्षी रससिद्धान्त के विरोध में जब पर्सनल या व्यक्तिगत भूमिका की बात की जाती है, तब मैं जानना चाहता हूं कि व्यावहारिक और कलात्मक मनोभूमिकाओं में कोई अंतर है या नहीं? क्या कलात्मक मनोभूमिका पर भी जो कुछ होता है उसके कलात्मक परिणामों की वैसी ही चिन्ता होती है जैसी व्यावहारिक मनोभूमियों की व्यावहारिक परिणतियों को लेकर होती है? यदि दोनों की एक ही तरह की, निर्माण से लेकर परिणति तक की, स्थितियां हैं तो दो मनोभूमिका मानने की आवश्यकता क्य-

है ? क्या कथ्य की प्रकृति में अंतर हुए बिना अभिव्यक्ति की प्रकृति में अंतर आना नई कविता की क्रिस्टल अवधारणा में घातक न होगा ? क्या नितान्त व्यक्तिगत वृत्तियां अपनी असाधारणता में सर्वसंवेद्यता प्राप्त कर सकेंगी ? यदि अनुभूति में सर्वसंवेद्य होने की (अपनी नितान्त वैयक्तिकता के कारण) संभावना ही न होगी तो महज भाषा का इन्द्रजाल साधारणीकरण की समस्या कहां तक सुलझा सकेगा ? मैं ऐसे असंभव स्थलों में रस प्रतिमान की बात ही नहीं करता—न भारतीय आचार्य करते हैं। 'नई कविता' में सारी रचनाएं व्यक्तिमन की अंधेरी गुहा का असंवेद्य प्रश्वास ही हैं—क्या यह सच है ? निश्चय ही रसात्मक प्रतिमान इंपर्सनल मनोभूमिका की रचना और ग्रहण उभयत्र मांग करता है—और नई कविता में इस मनोभूमि का अभाव नहीं है, सद्भाव है। मैं 'नई कविता' मात्र पर इस प्रतिमान के लागू करने का न तो पक्षधर ही हूं और न इसका समर्थक कि यह सर्वत्र लागू नहीं ही होगा—जहां इस तरह की स्थिति होगी, वहां यह प्रतिमान लागू होगा।

रामचंद्र शुक्ल[53] ने कहा है कि अ-व्यक्तिगत भूमिका पर उभरने वाला 'भाव' मात्र अक्षोभकारी होने के कारण रस होता है, अत: असमाहिति या असामंजस्य के नए मानसिक प्रवाह में उभरने वाले 'तनाव', 'संत्रास' जैसे सभी भाव भी कलामय सर्जनात्मक मनोभूमि पर उभरे हैं तो ग्रहण की दृष्टि से भी वे अक्षोभकारी होने के कारण रसात्मक हो सकते हैं। फलत: उन लोगों की शपथ जो इस 'नई मानसिकता' में रसात्मकता की संभावना कहीं देखते ही नहीं—समझ में नहीं आती।

भारतीय आचार्यों ने 'वासना' की क्षण विरोधी स्थिरता के कारण संचारी और स्थायी जैसा भावभेद स्थापित नहीं किया है, बल्कि उनका सहृदय संवेद्य-भाव पर्यवसायी तथा रस पर्यवसायी स्थितियों के आधार पर। अत: यह आधार भी कुछ समझ में नहीं आता।

आनन्दवर्द्धन ने रस को चित्तवृत्ति की दशाविशेष माना है जो प्रभावी वर्णन के संदर्भ में उपजती है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि कवि ऐसी बात ही क्यों कहेगा जिससे पाठक प्रभावित न हो, उसकी चित्तवृत्ति प्रभावित न हो—अत: जब हृदय उथला नहीं हो गया है, तो उसे बदलता हुआ भी संदर्भ प्रभावित करेगा ही। 'रस' शब्द पुराना है—पर हृदय का प्रभावित होना भी पुराना हो गया। यदि कहीं अव्यक्तिगत भूमिका पर प्रभावी रचना होगी तो रसात्मक स्थिति उत्पन्न होगी ही।

फिर बिम्ब और प्रतीकों के प्रयोग क्या बनाते हैं—'बिम्ब' का प्रयोग 'प्रभाव' के लिए ही होता है और 'प्रतीक' में व्यंजनात्मक झंकृतियां विद्यमान रहती हैं—वाग्भंगिमाओं की कोई इयत्ता नहीं है—ये सब मिलकर हृदय के तार

को कभी झनझनाएंगे ही नहीं, मैं नई रचनाओं के साक्ष्य पर यह नहीं मानता। लक्ष्मीकांत वर्मा की एक रचना देखें जहां इन सब काव्यात्मक तत्वों के साथ अमर्ष या क्रोध की व्यंजना की गई है—समाज के उन स्वार्थांध मक्कार कर्णधारों पर, जो समाज की गाय को निर्मम मक्कारी के साथ दूह रहे हैं और दुहने में पटु हैं :

रसध्वनि के संचार क्षेत्र

भर दो
इस त्वचा की मृतात्मा की, सूखी ठाठर में
यह घास पात कूड़ा कबाड़ सब कुछ भर दो
लगा दो इन नकली कौड़ियों की आंखें
कानों में सीपियां
पैरों में खपच्चियां
मेरी इस हृदयहीन धमनीहीन स्नायुहीन काया में
सभी कुछ भर दो
ताकि मैं इस स्निग्ध पयोमती माता के निकट
अपनी चेतनाहीन पूंछ को एक स्थिति में उठा
उसके वात्सल्य को, हृदय को, आकर्षण को, चेतना को
सबको उभार दूं
और तुम इस मुर्दे के उपजाए स्नेह को निचोड़ कर
जीवित रहो
जिन्दा रहो।[54]

'अन्याय के खिलाफ आवाज बुलन्द करना आधुनिक भावबोध है—और इस रचना में वह मुखर है। दूसरी ओर आधुनिक भावबोध के अन्तर्गत यह भी है कि मानवता के भविष्य निर्माण के संघर्ष में हम और भी अधिक दत्तचित्त हों तथा वर्तमान परिस्थिति को सुधारें, नैतिक ह्रास को थामें, उत्पीड़ित मनुष्य के साथ एकात्म होकर उसकी मुक्ति की उपाययोजना करें। विशेष लोकादर्श के लिए कविता लिखना भी आधुनिक भावबोध के अन्तर्गत है।[55]

इस प्रकार हिंदी का नया रचनासंसार और उसके समानान्तर चलने वाला काव्यचिन्तन—दोनों की भूमियों पर दृष्टिपात करने से ध्वनिसिद्धान्त के भारतीय काव्यचिन्तन द्वारा निर्धारित प्रतिष्ठित प्रतिमान की संभावनाएं स्पष्ट हो जाती हैं। अस्वीकार के पहले परिचय आवश्यक है।

उज्जैन
राम नवमी, 1978

राममूर्ति त्रिपाठी,

संदर्भ

1. कुंतक : 'वक्रोक्ति जीवित', चौखम्भा प्रकाशन, 1967, पृ० 265.
2. अभिनवगुप्त : 'ध्वन्यालोकलोचन', चौखम्भा प्रकाशन, 1940, पृ० 188.
3. रसगंगाधर, पण्डितराज जगन्नाथ, निर्णयसागर, 1947, पृ० 26.
4. आनंदवर्द्धन : 'ध्वन्यालोक', चौखम्भा प्रकाशन, 1940, पृ० 542.
5. कुंतक : 'वक्रोक्ति जीवित' चौखम्भा प्रकाशन, पृ० 48.
6. वही, पृ० 265.
7. महिमभट्ट : 'व्यक्ति विवेक', चौखम्भा प्रकाशन, पृ० 390-91.
8. 'रामचरित मानस' गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० 2004, पृ० 419.
9. 'ध्वन्यालोक', पृ० 146.
10. सुमित्रानंदन पंत : 'पल्लव', राजकमल प्रकाशन, 1958, पृ० 29, 30.
11. पं० पट्टाभिराम शास्त्री से व्यक्तिगत पत्रव्यवहार का साक्ष्य.
12. 'ध्वन्यालोक', (पं० पट्टाभिराम शास्त्री), पृ० 42, 43.
13. देखिए संदर्भ सं० 11.
14. 'ध्वन्यालोकलोचन', पृ० 92.
15. 'हिंदी ध्वन्यालोक', (सं० डा० नगेन्द्र) हिंदी अनुसंधान परिषद, भूमिका से.
16. रामचन्द्र शुक्ल : 'चिंतामणि', ना० प्र० सभा, 1939, पृ० 189.
17. 'ध्वन्यालोक', पृ० 528.
18. वही, पृ० 48, 49.
19. एवर क्रांवे : 'दि प्रिंसिपिल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म', 1965, पृ० 19.
20. 'पल्लव', पृ० 30.
21. रामचन्द्र शुक्ल : 'हिंदी साहित्य का इतिहास', ना० प्र० सभा, पृ० 453.
22. जयशंकर प्रसाद : 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध', भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, पृ० 122, 123.
23. 'ध्वन्यालोक', पृ० 48, 49.
24. रामस्वरूप चतुर्वेदी : 'भाषा और संवेदना', भारतीय ज्ञानपीठ, 1964, 'आरम्भिक वक्तव्य'.
25. नंददुलारे वाजपेयी : 'जयशंकर प्रसाद', भारती भंडार, पृ० 114, 115.
26. 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध', पृ० 122.
27. डा० नामवर सिंह : 'कविता के नए प्रतिमान', राजकमल प्रकाशन.
28. ग० मा० मुक्तिबोध : 'नए साहित्य का सौंदर्यशास्त्र', राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ० 10.
29. डा० राममूर्ति त्रिपाठी : 'भारतीय काव्यशास्त्र : नई व्याख्या', राका प्रकाशन, इलाहाबाद, उद्धृत, पृ० 8.
30. जगदीश गुप्त : 'नई कविता : स्वरूप और समस्याएं', भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1968, पृ० 108.
31. स० ही० वा० अज्ञेय : 'हिंदी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य', राधाकृष्ण प्रकाशन, 1967, पृ० 16.

32. 'पल्लव', पृ० 30.
33. 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध', पृ० 37.
34. 'ध्वन्यालोक', पृ० 542, 543.
35. 'नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र'—के 'कलात्मक अनुभव' शीर्षक निबंध के साक्ष्य पर.
36. 'ध्वन्यालोक', पृ० 495.
37. वही, पृ० 499, 500.
38. मम्मटाचार्य : 'काव्य प्रकाश', भण्डारकर ओरियण्टल रि० ई०; पंचमावृत्ति, पृ० 72.
39. 'आधुनिकता और मोहन राकेश' से उद्धृत.
40. डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी : 'नयी कविताएं : एक साक्ष्य', लोक भारती, पृ० 32/33.
41. 'वक्रोक्ति जीवित', पृ० 163.
42. वही, पृ० 283.
43. 'ध्वन्यालोक', पृ० 48, 49.
44. वही, पृ० 146.
45. वही, पृ० 91.
46. 'तीसरा सप्तक', (सं० अज्ञेय), ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृ० 155.
47. अज्ञेय : 'त्रिशंकु', सूर्य प्रकाशन मंदिर, बीकानेर, पृ० 41.
48. 'दूसरा सप्तक' (सं० अज्ञेय), भारती का वक्तव्य, पृ० 166.
49. 'नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र', पृ० 151.
50. वही.
51. वही.
52. डा० नगेन्द्र : 'रससिद्धांत', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, पृ० 345.
53. रामचंद्र शुक्ल : 'चिंतामणि', भाग 1, ना० प्र० सभा, 1970, पृ० 202.
54. 'नई कविता', अंक 3 लक्ष्मीकांत वर्मा, पृ० 91.
55. ग० मा० मुक्तिवोध : 'नई कविता का आत्मसंघर्ष', पृ० 16.

पूर्वपीठिका

विषयावतरण

मनुष्य सौन्दर्य का खोजी होता है। अपने सत्य-कथन और शिव आचरण के साथ वह संवेदन का सौन्दर्य भी अर्जित करना चाहता है। उसकी प्रगति असुन्दर से सुन्दर की दिशा में देखी जाती है अत: वह अपने संवेदनों और संवेगों में भी सौन्दर्य का अनुसंधान करता है। इसी मानवीय प्रवृत्ति से कला को जन्म मिलता है। अनादिकाल से वह कलाओं का विकास करता आया है। अन्य कलाओं का इतिहास चाहे प्राचीन काल में अस्पष्ट रहा हो, पर संगीत और साहित्य कलाएं वेदों में भी अपना कुछ-न-कुछ स्वरूप रखती हैं। वेदों का कवि द्रष्टा, क्रान्तदर्शी, ऋषि, मन्त्रकर्ता और मनीषी होता था, काव्य का अर्थ प्राय: मन्त्र-रचना होता था, परन्तु आगे चल कर कवि और काव्य-शब्दों का अर्थ विस्तृत हुआ। माना जाता है कि वेदों से बाहर प्रथमत: रामायण और महाभारत के लिए 'काव्य' शब्द प्रयुक्त हुआ।[1]

महाभारत अलंकारों और छन्दों के साथ दिव्य तथा मानवीय चरित्रों की योजना को काव्य मानता है जिस से जानकारों में प्रीति का जनन हो।[2] यह प्रीति ही 'रस' नाम से विदित है। काव्य का यही रस परम प्रयोजन है, इतना ही महाभारत में पर्याप्त नहीं माना गया। वहां समास-शैली तथा व्यास-शैली में निबद्ध चरित्रों के माध्यम से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के उपदेश को काव्य का प्रयोजन माना गया है, इस प्रकार काव्य से अज्ञान दूर होता है और लौकिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान की उपलब्धि होती है।[3] निश्चय ही महाभारत को काव्य-स्वरूप और काव्य-प्रयोजन की परम्परा प्राप्त थी।

रामायण से ज्ञात होता है कि लोक-चरित्र का प्रत्यक्ष कथन काव्य नहीं है, प्रत्युत उस के अनुकथन को ही काव्य कहा जाता है—चरित्र की कृति लोक में देखी जाती है, परन्तु काव्य में उसकी अनुकृति ही होती है।[4] यह अनुकथन (अनु-व्याहरण) रसों से पूर्ण होता है—रामायण में शृंगार, करुण, हास्य, रौद्र,

भयानक और वीर इन छह रसों का स्पष्ट उल्लेख किया है तथा 'आदि' कह कर अन्य रसों को स्वीकृति दी है।[5] रामायण के अनुसार अर्थ और शब्द दोनों को मनोरम होना चाहिए जिनमें उदार चरित का अनुकीर्तन हो, पद्य-रचना में सम अक्षरों की योजना हो, कवि की प्रतिभा उदार हो और काव्य कीर्ति-सम्पन्न हो।[6] रामायण के आधार पर काव्य-परिभाषा इस प्रकार बनती है :

> उदात्त कविदृष्टि तथा कविगत अद्भुत भावावेश से प्रेरित, रसिक को कायिक तथा मानसिक आह्लाद एवं रसावेश देने वाली, उदात्त चरित प्रस्तुत करने वाली, मनोरम, सम तथा उदार शब्दार्थमयी अभिव्यक्ति लेने वाली, अनुव्याहरण या कविगत भाव का अनुकीर्तन करने वाली रचना को काव्य कहते हैं।[7]

भरत से काव्यचिन्तन की अविच्छिन्न धारा चली, इससे पूर्व का दिग्दर्शन ऊपर किया गया। भरत का समय अनिश्चित है, परन्तु उनके नाम से प्रचलित नाट्य-शास्त्र को ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी का माना जाता है। पाणिनि ने शिलाली के नटसूत्र का उल्लेख किया है और प्रद्युम्नाहरणीय एवं सीतान्वेषणीय काव्यों का संकेत दिया है, इससे पुरातन परम्परा का पता चलता है।

भरत का काव्यचिन्तन

भरत के 'नाट्यशास्त्र' में यद्यपि नाट्य का ही विवेचन मुख्य है, परन्तु नाट्याङ्ग के रूप में उन्होंने काव्य का भी विस्तार से उपस्थापन किया है। छन्द, लक्षण, दोष, गुण, अलंकार, रीति, रस और भाव का भरत के अनुसार विवरण दिया जा रहा है :

छन्दोनिरूपण

वैदिक काल में वेद को विद्या और छन्द को काव्य कहा जाता था अतः छन्द काव्य का अपरिहार्य अङ्ग रहा है। भरत ने काव्य के ही संदर्भ में छन्दों का विवेचन किया है और शब्दमात्र को छन्द माना है।[8] गद्य भी लय के साथ ही बोला जाता है, भले ही गद्यलय और पद्यलय में अंतर होता है अतः शब्द और छन्द अन्योन्याश्रित हैं। इसी परम्परा में पद्यकाव्य और गद्यकाव्य का विभाजन मान्य हुआ।

काव्यलक्षण

सोलहवें अध्याय में भरत ने 36 काव्यलक्षण बताए हैं जो काव्य के स्वरूप-निर्धारक तत्व हैं। सब कहीं छत्तीसों लक्षण नहीं रहते हैं फिर भी प्रत्येक काव्य या एक पद्य भी कुछ लक्षणों से ही बनता है। प्रबन्ध-काव्य में तो सभी लक्षण समावेश पाते ही हैं।

विभूषण : विविध अलंकारों और गुणों का समावेश विभूषण लक्षण है। यह काव्य में अवश्य रहता है।

अक्षरसंहति : गम्भीर अर्थ देने वाली संश्लिष्ट पद-योजना या समासशैली अक्षरसंहति है।

शोभा : ज्ञात अर्थ से अज्ञात अर्थ को अनुभव-गम्य बनाना शोभा है। प्रायः उपमानों के सहारे यह कार्य सम्पन्न किया जाता है।

अभिमान : असंभावना के वर्णन में अभिमान नामक काव्यलक्षण होता है।

गुणकीर्तन : दोषों को तिरोहित रख कर गुणों के वर्णन में यह लक्षण होता है।

प्रोत्साहन : उपमानों द्वारा प्रसिद्ध अर्थ सामने ला कर उत्साहकर वचन-विन्यास प्रोत्साहन है।

उदाहरण : एक ही शब्द से जब अनेक अर्थ अनायास सिद्ध हो जाएं वहां उदाहरण होता है।

निरुक्त : शब्द का ऐसा प्रयोग, जिसके शाब्दिक अर्थ से ही अन्य अर्थ निकले, निरुक्त लक्षण है।

गुणानुवाद : हीन वस्तु की उत्तम वस्तु से तुलना में यह लक्षण होता है।

अतिशय : जहां उत्तम गुणों का वर्णन करके भी कोई ऐसी विशेषता बताई जाए जो असाधारण हो, वह अतिशय काव्यलक्षण होता है।

हेतु : युक्तिपूर्वक साधन या बाधन हेतु है।

सारूप्य : परोक्ष तथ्य का आरोप कर उसी को यथार्थ सिद्ध करना सारूप्य है।

मिथ्याध्यवसाय : अयथार्थ वस्तु से यथार्थ का निर्धारण मिथ्याध्यवसाय है। इसे काव्य में अधिक प्रयुक्त पाते हैं।

सिद्धि : तुल्यता के आधार पर प्रधान वस्तुओं के बीच अप्रधान का नामोल्लेख सिद्धि लक्षण है।

पदोच्चय : अनेक पदों से अनेक गुणों का कीर्तन कर एक ही पदार्थ के साथ अन्वित करना पदोच्चय है।

आक्रन्द : संवेदन की तीव्रता के साथ अन्य-सादृश्य के माध्यम से स्वानुभव प्रस्तुत किया जाए वहां आक्रन्द होता है।

मनोरथ : अन्य के व्याज से अपना भाव-निवेदन मनोरथ है।

आख्यान : प्रश्नपूर्वक या विना प्रश्न के निर्णय दिया जाए तो आख्यान होता है।

याञ्चा : पहले कठोर फिर हर्षवर्धक कथन याञ्चा है।

प्रतिषेध : कार्यज्ञ व्यक्ति द्वारा अकार्य से निवारण प्रतिषेध है।

पृच्छा : आकार या काकु आदि से अपने-आप या अन्य के प्रति प्रश्न जैसा कथन पृच्छा है।

दृष्टान्त : ज्ञानवान् वक्ता जब प्रमाणित वस्तु की तुलना से अपनी बात का प्रतिपादन करता है तब दृष्टान्त होता है।

निर्भासन : अनेक युक्तियों के साथ, अनेक उपवाक्यों वाला वाक्य प्रयुक्त हो तो निर्भासन है।

संशय : वास्तविकता का ज्ञान न हो अतः वाक्य बीच में छोड़ दिया जाए तो संशय लक्षण होता है।

आशीः : मनोरथ से उत्पन्न अप्रार्थनीय अर्थ की कामना का वर्णन 'आशीः' कहा जाता है।

प्रियोक्ति : पहले कोपयुक्त और फिर हर्षयुक्त कथन प्रियोक्ति है।

कपट : प्रवञ्चन की युक्तियों से अभिभूत करना कपट है। अनेक ऐसे प्रयोगों में कपट-संघात होता है।

क्षमा : दुर्जन के कोपवचनों से सज्जनों के बीच भर्त्सना पा कर भी कोपहीन बने रहना क्षमा है।

प्राप्ति : अंशमात्र से सम्पूर्ण का अनुमान प्राप्ति है।

पश्चात्ताप : सहसा अकार्य कर के सन्ताप का अनुभव पश्चात्ताप है।

अनुवृत्ति : स्नेहवश या दाक्षिण्यवश दूसरे का सप्रयोजन अनुरोध अनुवृत्ति है।

उपपत्ति : प्रसंग के दोषों का शमन उपपत्ति है।

युक्ति : उत्तम वस्तुओं के संयोग से अनुकूल संबंध की स्थापना युक्ति है।

कार्य : (क) दोषों का निराकरण कर गुणों की अथवा (ख) गुणों का निराकरण कर दोषों की स्थापना कार्य लक्षण है।

अनुनय : अपूर्व कोपजनक अपराध के मार्जन हेतु सेवायुक्त मधुरवचन अनुनय है।

परिदेवन : अन्य के दोषों का अन्य पर आरोपण परिदेवन है।

उक्त लक्षणों के ऊपर ही गुणों और अलंकारों को प्रतिष्ठा मिलती है। वस्तुतः लक्षणों और गुणों के मिश्रण से असंख्य अलंकार बनते हैं। सहस्रशः विचित्रताओं की कल्पना के आधार लक्षण हैं।

काव्यदोष

भरत ने दस काव्यदोष माने हैं : गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायापेत, विषम, विसन्धि और शब्दच्युति।[9]

1. कल्पित पर्याय द्वारा अर्थ देना 'गूढार्थ' है। जैसे : 'गोमती' के स्थान पर

'वनुमती' कहना दोष है।

2. अवर्ण्य का वर्णन 'अर्थान्तर' है। जैसे : संभोग श्रृंगार में क्लेशादि का वर्णन दोष है।

3. 'अर्थहीन' वह है जिसमें असम्वद्ध वर्णन किया जाय और सम्वद्ध अर्थ छूट जाय।

4. दूरान्वयी या ग्राम्य या असभ्य कथन से तीन प्रकार का 'भिन्नार्थ' दोष होता है। कथ्य अर्थ और हो पर कुछ और कथन करने में चौथा 'भिन्नार्थ' है।

5. 'एकार्थ' दोष में कथ्य विषय सर्वविदित रहता है, कोई नवीनता नहीं होती।

6. असम्वद्ध वाक्यों की योजना 'अभिप्लुतार्थ' है।

7. प्रमाणहीन कथन 'न्यायापेत' कहलाता है।

8. छन्दोभङ्ग को 'विषम' कहते हैं।

9. सन्धिनियमों का उल्लङ्घन 'विसन्धि' है।

10. वर्ण या स्वर या आवश्यक शब्द की कमी में 'शब्दच्युति' दोष होता है।

काव्यगुण

भरत उक्त दोषों के अभाव को सर्वप्रथम गुण मानते हैं। दोषाभाव से माधुर्य और औदार्य गुण स्वतः निष्पन्न होते हैं।[10] इस के अतिरिक्त दस काव्यगुण हैं : श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओजस्, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति।[11]

1. वर्ण्य अर्थों को इस प्रकार सम्वद्ध किया जाय कि वे परस्पर जुड़े हुए प्रतीत हों, यही 'श्लेष' गुण है।

2. विना कहा हुआ शब्द या अर्थ जहाँ जानकारों की समझ में तत्क्षण भासित हो उठे, वहाँ 'प्रसाद' होता है।

3. वहुत असमस्त पद न हों, व्यर्थ पद न हों और पदों के अर्थ दुर्बोध न हों वहाँ 'समता' काव्यगुण होता है।

4. अर्थ की प्रतिभा-सम्पन्नता 'समाधि' गुण है।

5. वार-वार सुनने या कहने पर भी कविता उद्वेजक न हो तो 'माधुर्य' होता है।

6. समासयुक्त अलंकृत पदों से युक्त रचना में 'ओज' गुण होता है जिसमें पदों में वर्णमैत्री तथा सक्रियता (उदारता) रहती है।

7. सुखोच्चारणीय पदों तथा सुकुमार अर्थों की योजना में 'सुकुमारता' गुण होता है।

8. प्रसिद्ध अर्थों, जो लोक व्यवहार में व्यवस्थित पदों से प्रकट हों, की

योजना काव्य में 'अर्थव्यक्ति' गुण है।

9. लोकोत्तर (दिव्य) भाव से व्याप्त, शृंगार और अद्भुत रसों से समन्वित तथा विविध भावों से सम्पन्न रचना में 'उदारता' गुण होता है।

10. 'कान्ति' वह काव्यगुण है जिस से श्रवण और मन दोनों को आह्लाद मिले तथा विविध लीला-चेष्टाओं से सम्पन्न रचना हो।

उक्त लक्षणों, दोषाभावों और गुणों के समावेश से विविध अलंकारों की योजना स्वतः होती चलती है अतः भरत ने अलंकारों की संख्या अल्प रखी है।

अलंकार

भरत ने कण्ठ-स्वर से चार ही अलंकार परिगणित किये हैं—उपमा, दीपक, रूपक, और यमक।[12] इनका विवरण ठीक लक्षणों के अनन्तर आया है, इससे स्पष्ट है कि ये ही चार अलंकार दस गुणों और 36 लक्षणों के योग से असंख्य हो सकते हैं।

रीति

रीति नाम से भरत ने विचार नहीं किया है, परन्तु 'प्रवृत्ति' नाम से प्रायः वैसा ही विचार किया है। 'प्रवृत्ति' नाट्य-सन्दर्भ में विवेचनीय है, काव्य-सन्दर्भ में नहीं। भरत ने चार प्रवृत्तियाँ बताई हैं : आवन्ती, दाक्षिणात्या, पाञ्चाली और उड्रमागधी। उज्जैन, उससे दक्षिण, मध्य भाग और पूर्व भाग में बाँट कर वेष-भूषा, आचार-व्यवहार आदि को नाट्य में अनुकृत करने का उपदेश देने हेतु प्रवृत्ति-विभाग प्रस्तुत किये गये हैं।[13] इसी के आगे वृत्तियों के रसानुरूप नाम आते हैं : भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी। कदाचित् यहीं से प्रेरणा लेकर परवर्ती आचार्यों ने रीतियों की स्थापना की।

रस-विचार

भरत का रसविचार छठे अध्याय में आता है जो विस्तृत तो है ही, साथ ही अब तक के रस-विवेचन को एक साथ रखा जाय तो भी नवीन प्रतीत होगा। आगे चल कर यथावसर उसे देखा जायगा। यहाँ कतिपय तथ्यों का विवरण देना अपेक्षित है।

1. रस-सामग्री में विभाव और अनुभाव लोक-स्वभाव और लोकयात्रा या लोकव्यवहार के अनुसार योजित होते हैं।[14]

2. भावों की व्यञ्जना होती है, उनके व्यञ्जक विभाव और अनुभाव हैं। व्यञ्जित भावों द्वारा सामान्य गुणयोग से (साधारणीकरण से) रस निष्पन्न होते हैं।[15]

3. तीन — विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों—से परिवृत स्थायी भाव रसरूप लेता है।[16]

4. शान्तरस का विवेचन नाट्यशास्त्र की प्राचीन प्रतियों में नहीं मिलता, किंतु अभिनव-भारती वाली प्रति में उसका पृथक् पाठ पाया जाता है।

5. नाट्य में केवल आठ रस : शृंगार, हास्य, रौद्र, करुण, वीर, अद्भुत, वीभत्स और भयानक हैं।

6. काव्य और विशेषत: नाट्य में शोभा अधिक हो जाती है जब शृंगार से हास्य की, रौद्र से करुण की, वीर से अद्भुत की और वीभत्स से भयानक की निष्पत्ति गुम्फित रहती है अतएव भरत ने चार को (शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स को) शेष चार की उत्पत्ति के कारण बताया है।[17] कुछ विद्वान यह मान चले हैं कि भरत चार ही मूल रस मानते हैं, यह असंगत है क्योंकि सभी रसों की स्वतन्त्र सत्ता और निष्पत्ति में कोई बाधा नहीं। अत: भरत ने शृंगार की अनुकृति को हास्य मानते हुए अन्यत्र चेष्टानुकरण से हास्य की निष्पत्ति बताई है।[18]

7. विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव, भरत के अनुसार काव्य रस की अभिव्यक्ति के कारण हैं।[19] अत: भरत के अनुसार भी व्यञ्जना (ध्वनि) को समर्थन मिलता है।

भाव-विचार

नाट्यशास्त्र के सप्तम अध्याय में भरत ने भावों के स्वरूप पर विस्तृत विचार किया है, भावों के विविध विभाग निर्धारित किये हैं तथा रस-भाव-सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है। इस के साथ ही सभी भावों के पृथक् लक्षण बताये हैं। नाट्य में भाव-संख्या उनचास है क्योंकि शान्त रस का शम या निर्वेद स्थायी भाव नहीं गिना गया है। उस के सहित 50 भाव होते हैं। इन तथ्यों पर यहीं प्रकाश डालना अपेक्षित है।

भाव-स्वरूप : भरत ने प्रश्न उठाया है कि लोक में होने के कारण भाव नाम है या काव्यार्थ को भावित करने से भाव नाम की सार्थकता है ? फिर द्वितीय मत को ही मान्य किया है।[20] आगे वहीं कवि के भाव को सहृदय में भावित करने के आधार पर काव्य-भाव को प्रतिष्ठित किया है। जिस प्रकार गन्ध से वस्त्रादि वासित या भावित होता है, उसी प्रकार काव्यभाव से सहृदय वासित होता है।[21] इस प्रकार एक ही भाव तीन रूपों में पाया जाता है :

1. भाव का व्यावहारिक रूप लोक में देखा जाता है। इन को भरत ने सामान्य भाव कहा है और रसात्मक भाव से भिन्न बता कर विवेचन किया है।[22]

ये ही लौकिक भाव काव्य में रसात्मक बनते हैं और तब परिभाषा बदल जाती है।

2. वह लोकभाव कवि या नट द्वारा अनुभावों के माध्यम से अनुकृत होता है तब काव्य या नाट्य का भाव बनता है। यह भाव कवि और रसिक की अनुभूतियों का मध्यस्थ होता है तथा रसिक के रसात्मक भाव का कारण बनता है।[23] यह रसिक के अनुमान का विषय है, उसका अपना भाव नहीं जो उसी में वासनारूप से विद्यमान रहता है।

3. रसिक का वासनारूप भाव ही रस का उपादान है। द्वितीय वर्ग का भाव व्यञ्जक होता है जिस से रसिक का भाव व्यक्त हो कर सूखे ईंधन में व्याप्त अग्नि के समान संपूर्ण शरीर को व्याप्त कर लेता है।[24] यही चमत्कार है।

भाव-विभाग : पचास भाव ही काव्योपयोगी रूप में आते हैं और उन को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है :

1. स्थायी-भाव : ये नौ हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, विस्मय, भय, जुगुप्सा और शम या निर्वेद। ये लोकसिद्ध हैं जो काव्य में अनुकृत हो कर रसिक की उसी भाव वासना को व्यक्त करते हैं और तब रसिकगत भाव रसरूप लेकर आस्वाददशा में क्रमशः शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, अद्भुत, भयानक, वीभत्स और शांत रस कहलाते हैं।[25] लोकभाव और काव्य-भाव रस नहीं हैं, प्रत्युत रसिक का ही भाव रसरूप लेता है, यह ऊपर देखा जा चुका है। 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः।' अर्थात आस्वाद का विषय भाव रस है और रसिक का भाव ही आस्वादनीय होता है। महत्त्वपूर्ण यह है कि ये स्थायी भाव भी यदि रसरूप न लें तो व्यभिचारी भाव ही रहते हैं और अन्य स्थायी भाव के पोषक का कार्य करते हैं।

2. सात्त्विक भाव : स्तम्भ (स्तब्ध निष्क्रियता), स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु (कम्प), वैवर्ण्य (मुख का रंग बदलना), अश्रु और प्रलय (मूर्छा)—ये आठ सात्त्विक भाव हैं।[26]

यहाँ प्रश्न उठता है कि सात्त्विक भाव तो वस्तुतः अनुभाव हैं, भरत ने स्वय ही उन्हें अभिनयों में गिन कर अनुभाव-रूप माना है, और तब उन्हें भावों में क्यों गिना गया? साथ ही उनमें सात्त्विकता क्या है? उक्त परिगणन के साथ ही भरत ने उत्तर दे दिया है :

मन से उत्पन्न (दुःख-मोह-रहित) भाव ही सत्त्व है जो एकाग्र मन से होता है, मन की समाधि में ही सत्त्व की निष्पत्ति होती है, सत्त्व का स्वभाव ही रोमाञ्चादि रूप से शरीर में प्रकट होता है जो अन्यमनस्क व्यक्ति नहीं कर सकता। अभिनय लोक-स्वभाव का अनुकरण है अतः सत्त्व की अपेक्षा है। नाट्य

में ग्राये हुए सुख-दुःख को ग्रभिनय में इस प्रकार मन की विमल दशा में लाया जाता है कि वे लोक-व्यवहार की समरूपता पा लेते हैं। रोदनात्मक दुःख को विना दुःखी हुए नहीं ला सकते ग्रौर हर्षात्मक सुख भी विना सुखी हुए नहीं लाया जा सकता—दुःखित या सुखित होकर ही ग्रश्रु या रोमाञ्च का ग्रभिनय किया जा सकता है ग्रतएव इन्हें सात्त्विक भाव कहा जाता है।[27]

तात्पर्य है कि ग्रन्य भावों के समान ही सात्त्विक भावों के भी तीन पक्ष हैं: लोक-पक्ष, ग्रभिनय-पक्ष ग्रौर रसिक-पक्ष। लोक-व्यवहार में क्रोधादि का प्रदर्शन ग्रन्य-मनस्क होने पर भी किया जा सकता है, परन्तु रोमाञ्चादि तभी संभव हैं जव विषय पर मन एकाग्र हो। इसी प्रकार ग्रभिनेता एकाग्र मन से ही ग्रपने में दुःख या सुख की स्थिति का ग्रनुभव कर सकता है ग्रौर तभी उसके शरीर में रोमाञ्चादि प्रस्फुट होते हैं। रसिक भी एकाग्र दशा में इन भावों की ग्रनुभूति पा कर ग्रश्रु, रोमाञ्च ग्रादि विकार प्राप्त करता है। ग्रन्य ग्रनुभाव शुद्ध दैहिक हो सकते हैं परन्तु सात्त्विक ग्रनुभाव मनोदैहिक हैं ग्रतएव इन्हें भाव भी कहा जाता है। ग्रन्य भाव केवल मन में रह जा सकते हैं, उनकी बाह्य ग्रभिव्यक्ति न हो, ऐसा संभव है, परन्तु ये भाव शरीर में प्रकट हुए विना स्वरूपलाभ ही नहीं करते, ग्रत: इन्हें ग्रनुभाव भी माना गया है।

भक्तिरसामृत-सिन्धु में वात्सल्यवश माता के स्तन्यप्रवाह को भी सात्त्विक भाव माना गया है। परन्तु वह ग्रभिनेय नहीं हो सकता ग्रत: भरत को मान्य नहीं। दूसरी बात यह है कि दूध बहना केवल कुछ ही स्त्रीवर्ग में होता है ग्रौर उस का निश्चित समय है ग्रत: साधारणीकरण न हो पाने से सहृदय उसे ग्रनुभूति में नहीं ला सकता; केवल बाह्य ग्रभिव्यक्ति मात्र मान कर ग्रन्य ग्रनुभावों के समान ही ग्राह्य कर सकता है—सहृदय को भावित न करने से वह भाव नाम का ग्रधिकारी नहीं। बाद के कुछ ग्राचार्यों ने जृम्भा (जँभाई) को सात्त्विकों में गिना है जो ग्रनर्गल है। वह शुद्ध दैहिक विकार है, मन:सत्त्व से उसका सम्वन्ध नहीं। ग्रभिनेता एकाग्र हुए बिना ही उस का ग्रभिनय कर सकता है ग्रौर सहृदय देखता भर है, उसकी ग्रनुभूति नहीं कर सकता कि उसे भी जँभाई ग्रा जाय। ग्राठ सात्त्विक ऐसे हैं जो रसवोध की ग्रवस्था में सहृदय द्वारा भी ग्रनुभवगम्य होते हैं।

3. व्यभिचारी भाव: निर्वेद, ग्लानि, शंका, ग्रसूया, मद, श्रम, ग्रालस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, ग्रावेग, जड़ता, गर्व, विषाद, ग्रौत्सुक्य, निद्रा, ग्रपस्मार, सुप्त, विवोध, ग्रमर्ष, ग्रवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास, वितर्क—ये 33 व्यभिचारी भाव हैं जो स्थायी भावों में जन्म लेते ग्रौर लीन हो जाते हैं।[28] ध्वनि निरूपण में इन पर यथापेक्ष प्रकाश डाला जाएगा।

भरत के काव्य विवेचन का सारांश यहाँ प्रस्तुत किया गया जिससे स्पष्ट है कि वह अपने में पूर्ण है। फिर भी आगे विचारधारा प्रवाहित रही। ध्वनि-सिद्धान्त के प्रादुर्भाव से पहले अलंकार सिद्धान्त तथा रीति-गुण-सिद्धान्त सामने आये और इस से ध्वनिमत की भूमिका उर्वर हुई, अतः इन पर संक्षिप्त प्रकाश डालना आवश्यक है।

अलंकार-सिद्धान्त

पूरे काव्यशास्त्र की सभी धाराओं में अलंकारों का महत्त्व मान्य है अतः यह सन्देह न होना चाहिए कि केवल एक ही धारा में अलंकार विवेचित हुए। काव्य में अलंकारों का स्वरूप, महत्त्व और स्थान निर्धारित करने में मतभेद रहे हैं। छठी-सातवीं शताब्दी में भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने सम्पूर्ण काव्यार्थ को 'अलंकार' नाम से लेकर सौन्दर्यमात्र को अलंकारवर्ग में ही गिन लिया। इसी प्रस्थान को अलंकार-सिद्धान्त कहा जाता है और कुछ लोग अलंकार-सम्प्रदाय नाम से भी जानते हैं। भामह प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में इस मत को पुरस्कृत किया। भामह से पूर्व भी यह धारा विद्यमान थी जैसा कि काव्यालंकार के आरंभ में ही स्पष्ट किया गया है।

भामह के समक्ष दो मत थे। एक मत शब्दालंकारों को ही काव्यालंकार मानते हुए शब्द को ही काव्य घोषित करता था जबकि दूसरा मत था कि अर्थ ही काव्य है और अर्थालंकार ही काव्यालंकार हैं। भामह ने दोनों छोरों को अमान्य किया और दोनों प्रकार के अलंकारों को काव्यालंकार माना[29] तथा काव्य को अमर परिभाषा दी :

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।

अर्थात शब्द और अर्थ सम्मिलित रूप से एक ही काव्य के घटक होते हैं—काव्य में दोनों का इतरेतरयोग रहता है। काव्य के शब्द और अर्थ दोनों इस प्रकार अन्योन्याश्रित रहते हैं कि उनमें कोई बदला नहीं जा सकता। बदलने पर वह काव्य नहीं रहता। इस इतरेतरयोग का निर्धारक तत्त्व ही अलंकार है। भामह सभी काव्यतत्त्वों को अलंकार मान कर चले हैं। इसका कारण यह रहा है कि रस, गुण और रीति भी काव्य में शब्दार्थ-साहित्य बनाने वाले तत्त्व हैं—साहित्य ही काव्य है। रस भी उस साहित्य का अंग है, अतः उसे भी अलंकार माना गया है।[30]

लोक-व्यवहार की अपेक्षा काव्य में अतिशय अधिक रहता है। इसी लोकातिक्रान्त उक्ति को अतिशयोक्ति कहते हैं जो मूल अलंकार है। यही तत्त्व अन्य सभी अलंकारों का मूल है जिसे वक्रोक्ति नाम से जाना जाता है। उक्ति की वक्रता से ही काव्य का अर्थ स्फुरित होता है, अतः कवि-कर्म का वही लक्ष्य होना चाहिए।[31] भामह की स्पष्ट धारणा है कि तथ्यकथनमात्र से वाणी में चारुता

नहीं ग्राती, ग्रत: वक्र शब्दार्थमयी उक्ति ही ग्रलंकार है ।[32] रसोक्ति भी इस वक्रता से परे नहीं, ग्रत: 'रसवत्' ग्रलंकार मान्य हुग्रा । भामह बाँकपन की चारुता को ही ग्रलंकार की परिभाषा मानते हुए प्रतीत होते हैं, ग्रपने छोटे-से ग्रन्थ में उन्होंने इससे ग्रधिक ग्रलंकार के स्वरूप पर विचार नहीं किया है ।

दण्डी ने ग्रपने ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में ग्रलंकार को परिभाषित किया है :

काव्य-शोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ।

ग्रर्थात् काव्य की शोभा के कारक (जनक) तत्त्व ग्रलंकार हैं । प्रश्न उठता है— शोभा के बिना तो काव्य नहीं हो सकता ग्रौर तब 'काव्य-शोभा' ही कुछ नहीं । ग्रलंकारों से जनित शोभा पहले होगी तभी कोई वाक्य काव्य होगा ग्रौर काव्य होगा तब उस की शोभा होगी जिसका जनन ग्रलंकार से होगा । यह विचित्र ग्रन्योन्याश्रय दोष है । इसका निराकरण कर ग्राचार्य वामन ने ग्रपना रीति-गुण-सिद्धान्त प्रसृत किया ।

रीति-गुण-सिद्धान्त

ग्राचार्य वामन का ग्रन्थ 'काव्यालंकार-सूत्र' है । उन्हें समझने के लिए पहले 'ग्रलंकार' ग्रौर 'ग्रलंकार्य' पर दृष्टिपात कर लेना चाहिए । वे ग्रलंकार को दो प्रकार से लेते हैं :

1. 'ग्रलंक्रियते इत्यलंकार:' की व्युत्पत्ति से सौन्दर्य ग्रौर ग्रलंकार पर्याय हैं । सौन्दर्यरूप ग्रलंकार ही काव्य द्वारा प्रेषणीय बनता है जिसके लिए काव्य ग्राह्य बनता है ।[33] यह ग्रलंकार (सौन्दर्य) ही काव्य का सर्वस्व है ।

2. 'ग्रलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकार' व्युत्पत्ति से ग्रनुप्रासादि शब्दालंकारों तथा उपमादि ग्रर्थालंकारों को ग्रलंकार नाम से जाना जाता है । जिन से शब्द ग्रौर अर्थ ग्रलंकृत होते हैं, वे ग्रलंकार हैं ।[34]

प्रथम कोटि के ग्रलंकार या सौन्दर्य की निष्पत्ति तीन तत्त्वों से होती है । वे हैं दोषाभाव, गुण ग्रौर ग्रलंकार (दूसरी कोटि के उपमादि) ।[35]

शब्द ग्रौर ग्रर्थ ग्रलंकार्य हैं जिन्हें ग्रलंकृत कर उपमादि ग्रलंकार ग्रपना नाम सार्थक करते हैं । द्वितीय वर्ग के ग्रलंकार का ही विस्तार से विवेचन ग्रन्थ में किया गया है । इन ग्रलंकारों का गुणों से ग्रन्तर स्पष्ट किया गया है जो महत्त्वपूर्ण है ।

वामन के ग्रनुसार उपमादि ग्रलंकारों के बिना भी काव्य हो सकता है, वे काव्य के ग्रपरिहार्य तत्त्व नहीं हैं जबकि ग्रोजोमाधुर्यादि गुणों के बिना कोई काव्य नहीं बन सकता । काव्य में सौन्दर्य के जनक तत्त्व गुण हैं क्योंकि इनके बिना काव्य-शोभा ग्रसंभव है । वे ग्रलंकारों के बिना भी शोभा-जनक होते हैं जबकि ग्रलंकार गुणों के बिना नहीं हो सकते ।[36]

इस प्रकार काव्य-सौन्दर्य के कारक (जनक) तत्त्व गुण होते हैं और गुण-जनित सौन्दर्य को पोषण देने का कार्य अलंकार करते हैं।[37] इस प्रकार गुणहीन काव्यशोभा असंभव है जबकि अलंकारहीन शोभा (भले ही अपुष्ट हो) रह सकती है।

भरत द्वारा प्रतिपादित दस गुण ही वामन को भी मान्य हैं। उन्होंने अपना कोई पृथक् परिगणन नहीं दिया है। विशेषता यह रही है कि वे उन्हीं को शब्दगुण और अर्थगुण में वर्गबद्ध कर बीस कर लेते हैं। वामन के सभी गुणों की योजना मुक्तक में संभव नहीं बनती, अतः शैली का निर्धारण वे प्रबन्ध में करते जान पड़ते हैं जिसमें सभी गुणों का समावेश देखा जा सकता है।

शब्दगुण : (1) 'ओजस्' प्रगाढ़ शब्दबन्ध का नाम है। अक्षरों की पारस्परिक मैत्री ही प्रगाढ़ता है और वही ओजस् है (3/1/4)। (2) बन्ध की शिथिलता 'प्रसाद' गुण है। यह ओजस् का उलटा है। यह कभी ओज के पहले और कभी बाद में आता है तो बन्ध में परिवर्तन घटित होता है (3/1/9)। (3) 'श्लेष' पदबन्ध की वह सघनता (मसृणता) है जिसमें अनेक पद एकपदवत् लगें (3/1/11)। (4) परिवर्तनरहित एकरसता समता है (3/1/12)। (5) आरोह से अवरोह अथवा अवरोह से आरोह के क्रम से वर्ण-मैत्री-योजना 'समाधि' है (3/1/13-20)। (6) पदों की पृथक्ता 'माधुर्य' है (3/1/21)। (7) पदबन्ध का परुष न होना 'सुकुमारता' है (3/1/22)। (8) 'उदारता' उस विकटता को कहते हैं जिसमें सभी पद नाचते-से प्रतीत हों (3/1/23)। (9) स्पष्ट अर्थ वाले पदबन्ध में 'अर्थव्यक्ति' गुण होता है (3/1/24)। (10) पदबन्ध की नवीनता 'कान्ति' है जिसमें काव्य पुराना नहीं लगता (3/1/25)।

अर्थगुण : (1) अर्थ की प्रौढ़ता ओजस् है (3/2/2)। एक पद के लिए वाक्य-प्रयोग, वाक्य के लिए पद-प्रयोग, वाक्यार्थ का संक्षेपण (समास), वाक्यार्थ-विस्तारण (व्यास) और वाक्यार्थ की साभिप्रायता, इन पाँच रूपों में इसे देखा जाता है। (2) अर्थ की वह विमलता 'प्रसाद' है (3/2/3) जिसमें उपादेय अर्थ मात्र का ग्रहण होता है। (3) वर्ण्यवस्तु का क्रम, कथन की विदग्धता, प्रसिद्ध वर्णनरीति और उपपत्ति का एक साथ समावेश 'श्लेष' है (3/2/4)। (4) अर्थगत समरसता और सुगमता में 'समता' गुण होता है (3/2/5-6)। (5) सावधान चित्त में जब कवि अर्थ का दर्शन करता है तब 'समाधि' गुण होता है (3/2/7-10)। यह अर्थ व्यक्त और सूक्ष्म दो प्रकार का है। व्यक्त अर्थ कभी केवल कवि-कल्पना से आता है तब उसे 'अयोनि' कहते हैं, कभी प्रचलित अर्थ में ही कल्पना जुड़ जाती है और तब उस अर्थ को 'अन्यच्छायाजनित' कहा जाता है। इन्हीं दो में सभी वाच्य अर्थ आ जाते हैं। सूक्ष्म अर्थ कहीं भाव्य या संवेद्य होता है जिसमें रस, भाव आदि आते हैं, कभी वासनीय होता है जिसे वे ही लोग समझ पाते हैं

जिनमें काव्यार्थ की वासना होती है (वस्तु व्यंग्य वाले अर्थ इसमें आते हैं)। (6) उक्ति की विचित्रता 'माधुर्य' है (3/2/11)। (7) परुष अर्थ को भी अपरुष बना कर लाना 'सुकुमारता' है (3/2/12)। (8) ग्राम्य अर्थ को भी अग्राम्य रूप में लाना 'उदारता' है (3/2/13)। (9) वस्तु के यथार्थ स्वरूप को यथावत् चित्रित करना 'अर्थव्यक्ति' है (3/2/14)। (10) शृंगारादि रसों को दीप्त रूप में लाना 'कान्ति' है (3/2/14)।

आचार्य वामन ने शब्दगुणों और अर्थगुणों में काव्य के उन सभी तत्त्वों का समावेश कर लिया है जिनसे प्रतिपादन-शैली और प्रतिपाद्य अर्थ की चारुता का सम्पादन होता है। ये गुण ही उनके अनुसार 'रीति' के प्राण हैं। काव्यरीति की कल्पना गुणों पर ही प्रतिष्ठित है। उन्हीं के बल पर रीति काव्यात्मा है :

रीतिरात्मा काव्यस्य।

रीति वस्तुत: गुणों का ही गुम्फन है। वामन ने 'विशिष्ट पदरचना' को 'रीति' नाम दिया है।[38] पदरचना की विशिष्टता गुणरूप होती है।[39] अत: गणों से पृथक् रीति की सत्ता ही संभव नहीं। रीति के घटक गुण ही हैं, जैसे शरीर के घटक विविध धातु (रक्त, चर्म, अस्थि आदि) होते हैं। गुणों का अलग-अलग विवेचन हो सकता है जबकि उन का समवाय 'रीति' नाम पाता है और वही रीति काव्य का स्वरूप (आत्मा) है। आत्मा यहाँ स्वरूपार्थक है, चैतन्यार्थक नहीं। चेतना तो वह सौन्दर्य है जो गुणसमवेत रीति से अस्तित्व में आता है और जो काव्य की उपादेयता का कारण है।

1. वामन के अनुसार उक्त बीसों गुणों से सम्पन्न रीति 'वैदर्भी' है।[40] उनके मत से यही एकमात्र रीति है जो रससिद्ध कवियों में पाई जाती है। निपुण प्रतिभाशाली कवियों का सभी गुणों पर अधिकार होता है, अत: वैदर्भी रीति में ही उत्तम काव्य की रचना होती है। यहाँ ध्यान में रखना चाहिए कि वामन की वैदर्भी ऐसी रीति नहीं है जिसमें समासरहित मधुर पदयोजना की शर्त रहती है और माधुर्य गुण की व्यञ्जना में उसकी सार्थकता मानी जाती है। कोई रस हो, समास हो या न हो या अल्प हो, संयुक्ताक्षर और टवर्ग प्रयुक्त हों या न हों, यदि बीस गुणों का समास है तो वैदर्भी ही रीति होगी जो बड़े कवियों का सर्वस्व है। इस प्रकार प्रबन्धों में ही रीति की परीक्षा होती है।

शिक्षाधीन कवि अभ्यास के अभाववश वैदर्भी का पालन नहीं कर पाते अत: उनकी दो रीतियाँ बन जाती हैं जो अशक्ति की सूचक हैं।

2. 'गौड़ी' रीति में केवल ओजस् और कान्ति गुणों का समावेश हो पाता है।[41]

3. 'पाञ्चाली' में केवल माधुर्य और सुकुमारता गुण होते हैं।[42] वामन की धारणा है कि 'दस अंगूर' कहने में गुणहीन वाक्य है, अत: काव्य

नहीं, अतः दस गुणों से रहित कोई काव्यार्थ नहीं हो सकता, वैसा वाक्य तो कवित्व की दृष्टि से 'अपार्थक' है—व्यर्थप्राय है।[43] काव्य में गुणों के विपरीत तत्त्वों को 'दोष' कहा जाता है।[44] तात्पर्य यह कि वामन गुणाभाव को कथमपि क्षम्य नहीं मानते। वे यह मानकर चलते हैं कि जिस मात्रा में गुणों की कमी होगी, उसी मात्रा में गुण का स्थान दोष लेंगे और उसी मात्रा में काव्य अकाव्य होगा। अतः बीसों गुणों की योजना ही कविशक्ति का निदर्शन है।

ध्वनि-सिद्धान्त के समारम्भ के पूर्व वामन का रीति-गुण-सिद्धान्त अपूर्व प्रतिभा का निदर्शन कहा जा सकता है। भरत और आनन्दवर्धन के मध्य में काव्य तत्त्व का इतना सूक्ष्म विवेचक अन्य नहीं हुआ। वामन के सिद्धान्त में कतिपय त्रुटियाँ लक्षित की जाती हैं :

1. भरत ने दोषाभाव को सर्वप्रथम गुण माना है जबकि वामन उसके विपरीत गुणाभाव को दोष मानते हैं। गुण-सम्पत्ति के रहते हुए भी दोष देखे जाते हैं। आँखों की विशालता गुण है और उसके साथ धब्बा हो तो दोष भी है। अतः दोष का न होना ही पहला गुण है, तभी विशालता का गुण सौन्दर्य का जनक हो जाता है।

2. उत्तम काव्य की एकमात्र रीति वैदर्भी मान लेने पर मुक्तक काव्य छूट जाते हैं क्योंकि वैदर्भी के सभी गुणों का समावेश एक ही मुक्तक में सदा संभव नहीं।

3. गौड़ी और पाञ्चाली रीतियों में दो-दो गुणों का ही समावेश माना गया है, इस पर अनेक आपत्तियाँ हैं। जिन दो गुणों को इन रीतियों के लिए मान्य किया गया है, उन से भिन्न दो-दो गुणों का समावेश भी हो सकता है, परन्तु वामन ने तदर्थ कोई व्यवस्था नहीं दी। जिन चार गुणों के योग से ये दो रीतियाँ बनती हैं, उनको यथावत् मान कर भी 20 गुणों के बहुत से मिश्रण बन सकते हैं, परन्तु रीतिमत इस तथ्य की उपेक्षा कर देता है। ऐसा भी हो सकता है कि गौड़ी के ओज और कान्ति गुणों में से कोई एक ही विद्यमान हो तब रीति क्या होगी। वामन तो तीन से अधिक रीतियाँ ही मान्य नहीं करते।

4. जिस सौन्दर्य (अलंकार) के कारण काव्य को ग्राह्य माना है, उसका स्वरूप, उसके भेद आदि का कोई विवरण नहीं है। जब सौन्दर्य ही प्रेषणीय है तब केवल सौन्दर्य-साधनों को लेना और सौन्दर्य की उपेक्षा करना विचित्र है।

5. सौन्दर्य के जनक धर्म गुण हैं, यह मान लेने पर भी प्रश्न बना रहता है कि काव्य का स्वरूप क्या है। वामन की स्थापना है कि 'गुणालंकार-संपन्न शब्दार्थ ही काव्य है, लक्षणा से केवल शब्दार्थसंघात को काव्य कहा जाता है।'[45] प्रश्न तब भी समाधान नहीं ले पाता। जिस काव्य के सौन्दर्य के जनक गुण होते हैं वह काव्य क्या है? लाक्षणिक रूप से शब्दार्थ-समूह काव्य है, पर मुख्यार्थ में

काव्य किसे कहा जाय ? अलंकार-रहित काव्य को मान्य कर के वामन परिभाषा में अलंकार का ग्रहण क्यों करते हैं ? गुण भी स्वरूपनिर्धारक तत्त्व नहीं है, गुण-हीन भी मनुष्य हो सकता है। वामन गुणों को ही काव्य का अंगसंघात मानते हैं। तब कहा जायगा कि अंगों (गुणों) की यथोचित योजना होनी चाहिए, इस पर वामन का विचार क्षीण है।

6. वामन कवि-प्रयत्न के शैली-पक्ष पर बल देकर विचार करते हैं, अतः वे रस जैसे तत्त्व पर संक्षिप्त प्रकाश डालकर भी काव्य में उस का महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं निर्धारित करते। समाधि गुण में वे प्रकारान्तर से काव्यार्थ के वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थों पर विचार कर देते हैं और स्फुट रस को कान्तिगुण के माध्यम से आवश्यक मानते हैं, फिर भी वे काव्यार्थ को व्यावहारिक अर्थ से भिन्न करके विवेच्य नहीं बना पाते।

7. रीति काव्य की अंगसंघटना है और गुण काव्य के अंग हैं, यह मन्तव्य लेकर भी वामन गुणों को काव्यात्मा न कह कर रीति को काव्यात्मा मान कर चले हैं।

8. जिन गुणों को मूलतः वे काव्य-सर्वस्व मानते हैं, उनमें से कुछ ऐसे हैं जो अलंकाररूप हैं, जैसे : अर्थव्यक्ति परिकरालंकार है; कुछ दोषाभावरूप हैं, जैसे : उदारता ग्राम्यत्व दोष का अभावरूप है; कुछ सदा गुण नहीं रहते जैसे : सुकुमारता रौद्ररस में गुण नहीं है। अतः गुणों का आटोप महत्त्वपूर्ण नहीं है। ध्वनिमत में माधुर्य, ओजस् और प्रसाद ही गुण मान्य हैं जो रसधर्म हैं और इन्हीं से काम चल जाता है।

9. काव्य को शब्दार्थ-साहित्य मान कर भी ये आचार्य शब्द और अर्थ तत्त्वों पर विशेष विचार नहीं करते जबकि उनके सम्बन्धों पर ही काव्यार्थ की प्रतिष्ठा है।

उक्त अनुपपत्तियों के कारण नवीन काव्यानुशासन की अपेक्षा थी जिसकी पूर्ति ध्वनिमत के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन ने की। आगामी अध्याय में ध्वनि-सिद्धान्त का सामान्य परिचय दिया जायगा।

सन्दर्भ

1. 'त्वया च काव्यमित्युक्तं तस्मात् काव्यं भविष्यति ।'—आदिपर्व, 1/72.
2. अलंकृतं शुभैः शब्दैः समयैर्दिव्य-मानुषैः ।
   छन्दोवृत्तैश्च विविधै रचितं विदुषां प्रियम् ॥—वही, 1/28.

3. धर्मार्थकाममोक्षार्थैः समास-व्यास-कीर्तनैः ।
तथा भारतसूर्येण नृणां विनिहतं तमः ॥—वही, 1/85.
4. सोनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः ।—रामायण, 1/2/40.
5. वही, 1/4/9.
6. उदार-वृत्तार्थ-पदैर्मनोरमैस्तदास्य रामस्य चकार कीर्तिमान् ।
समाक्षरैः श्लोकशतैर्यशस्विनो यशस्करं काव्यमुदार-दर्शनः ॥—वही, 1/2/42.
7. ह्लादयन् सर्वगात्राणि मनांसि हृदयानि च ।
श्रोत्राश्रय-सुखं गेयं तद् बभौ जन-संसदि ॥—वही, 1/4/34.
8. 'छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति नच्छन्दः शब्दवर्जितम् ।'—नाट्य०, 14/45.
9. 'गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम् ।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः ।'—वही, 16/88.
10. 'एते दोषा हि काव्यस्य मया सम्यक् प्रकीर्तिताः ।
गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः ॥'—वही, 16/95.
11. 'श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यभोजः पदसौकुमार्यम् ।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते ॥—वही, 16/96.
12. 'उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा ।
काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः ॥'—वही, 16/40.
13. 'चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता-नाट्यप्रयोक्तृभिः ॥
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चोढ्रमागधी ॥'—वही, 13/37.
अत्राह—प्रवृत्तिरिति कस्मात् ? उच्यते—पृथिव्यां नाना
देश-वेष-भाषाचारा वार्ताः ख्यापयतीति वृत्तिः प्रवृत्तिश्चनिवेदने ।
14. लोक-स्वभाव-संसिद्धा लोकयात्रानुगामिनः ।
अनुभावा विभावाश्च ज्ञेयास्त्वभिनये बुधैः ॥—वही, 7/6.
15. काव्यार्थ-संश्रितैर्विभावानुभाव-व्यञ्जितैः एकोनपञ्चाशद्भावैः
सामान्यगुणयोगेन अभिनिष्पद्यन्ते रसाः…। —वही, 7/7-8.
16. वही.
17. वही, 6/39 तथा अभिनवभारती.
18. 'परचेष्टानुकरणाद् हासः समुपजायते ।'—वही, 7/10.
19. वही, 7/7-8.
20. किं भवन्तीति भावाः, किं वा भावयन्तीति भावाः ? उच्यते-वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान्
भावयन्तीति भावाः ।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते ॥—वही, 7/203.
21. वही, 7/1.
22. 'लक्षणं खलु पूर्वमेवाभिहितमेषां रस-संज्ञकानाम् ।
इदानीं भाव-सामान्य-लक्षणमभिधास्यामः ।'—वही, पृ० 350.
23. 'विभावेनाहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते ।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ॥
— — — — — —
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते ।

'''भावयन्ति रसानिभान् ॥
यस्मात् तस्मादमी भावा:''' वही, 1-3.

24. 'योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भव: ।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥'—वही, 7/7.

25. 'स्थायिन एव भावा रसत्वमाप्नुवन्ति ।'''विभावानुभावव्यभिचारिण: स्थायिभावा नुपाश्रिता भवन्ति ।'''स्थायिभावा रसत्वमाप्नुवन्ति ।'—वही, पृ० 349.

26. 'स्तम्भ: स्वेदोथ रोमाञ्च: स्वरभेदोथ वेपथु: ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मता: ॥'—वही, 7/94.

27. दे० सन्दर्भ 20 तथा 23.

28. नाट्य०, 7/18/21.

29. काव्यालंकार, 1/13-15.

30. वही, 3/6.

31. 'सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत् तां यथागमम् ॥
सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्य: कोलंकारोनया विना ॥'—वही, 2/84-85.

32. 'न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम् ।
वक्राभिधेय-शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृति: ॥'—वही, 1/36.

33. 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात् । सौन्दर्यमलंकार: ।'—काव्यालंकार सूत्र, 1/1/1-2.

34. 'करणव्युत्पत्या पुनरलंकारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते ।'—वही, 1/1/2.

35. 'स दोषगुणालंकार-हानोपादानाभ्याम् ।'—वही, 1/1/3.

36. 'काव्य-शोभाया: कर्तारो धर्मा गुणा: । ये खलु शब्दार्थयोर्धर्मा:
काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणा: । ते चौज: प्रसादादय: । न यमकोपमादय: ।
कैवल्येन तेषामकाव्य-शोभाकरत्वात् । ओज: प्रसादादीनां तु
केवलानामस्ति काव्य-शोभाकरत्वम् ।'—वही, 3/1/1.

37. 'गुणनिर्वर्त्या काव्यशोभा, तस्याश्चातिशय-हेतवोलंकारा: ।'—वही, 4/1.

38. 'विशिष्टा पदरचना रीति: ।'—वही, 1/2/7.

39. 'विशेषो गुणात्मा ।'—वही, 1/2/8.

40. 'समग्र-गुण वैदर्भी ।'—वही, 1/2/11.

41. 'ओज:कान्तिमती गौडीया ।'—वही, 1/2/12.

42. 'माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली ।'—वही, 1/2/13.

43. 'गुणानां दशता-मुक्तो यस्यार्थस्तदपार्थकम् ।
दाडिमानि दशेत्यादि न विचारक्षमं वच: ।'—वही, 3/2/15.

44. 'गुण-विपर्ययात्मानो दोषा:' (काव्यालंकार सूत्र—दोषनिरूपण).

45. 'काव्यशब्दोऽयं गुणालंकार-संस्कृतयो: शब्दार्थयोर्वर्तते ।
भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते ॥'—वही, 1/1/1.

ध्वनिसिद्धान्त का सामान्य परिचय

आनन्दवर्धन का समय आठवीं शताब्दी ई० माना जाता है। उन्होंने 'ध्वन्यालोक' ग्रंथ द्वारा एक ऐसे सिद्धान्त की स्थापना की कि भारतीय समीक्षा को पूर्णता मिल सकी। उनसे पहले और भरत के बाद अलंकारमत और रीति-गुण-मत प्रतिष्ठा पा चुके थे, अतः ध्वनिमत की नव्यतम धारा सामने लाने के लिए बड़ी प्रतिभा अपेक्षित थी और आनन्दवर्धन में वह प्रतिभा पर्याप्त थी। उन्होंने सर्वप्रथम घोषित किया :

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः
तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदय-मनः-प्रीतये तत्स्वरूपम् ॥ 1/1.

अर्थात जो काव्यात्मा है, उसे 'ध्वनि' नाम से काव्यतत्त्व के अनुभवकर्ता सहृदय जानते-मानते आये हैं, फिर भी काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में उसे लेकर अनेक प्रकार से विवाद उपस्थित किये जाते और किये जा सकते हैं, अतः हम सहृदयों की तुष्टि हेतु ध्वनि का स्वरूप-निरूपण कर रहे हैं। विवाद विविध भूमियों पर देखा जा सकता है :

प्रथम विवाद अभाववादी उठाते हैं। उनका कथन है कि शब्दार्थ-साहित्य ही काव्य की परिभाषा है जिस में शब्दालंकार और अर्थालंकार प्रसिद्ध हैं; माधुर्य आदि गुण भी विदित हैं और रीतियाँ भी। इन सबसे भिन्न 'ध्वनि' कोई काव्य-वस्तु नहीं है।

दूसरे अभाववादी कहते हैं कि उक्त प्रस्थानों से पृथक् 'ध्वनि' की कल्पना करने वाले अपने मतानुसार सहृदयों का दल बना लेते हैं और फिर अपना मत उन्हीं के बीच फैलाते हैं। परन्तु सभी विद्वानों को ऐसा कोई मत प्रीतिकर नहीं हो सकता क्योंकि इसमें प्रचलित परम्परा का व्यर्थ विरोध किया गया है।

तीसरे अन्तर्भाव का प्रस्ताव रखने वाले लोग हैं जो प्रचलित अलंकारादि में ही ध्वनि का समावेश मानते हुए कहते हैं कि अपूर्व नाम 'ध्वनि' रख देने भर

से कोई नई बात नहीं आ सकती। मान लें कि कोई छोटी बात पूर्वाचार्यों से छूट गई हो तो उसे लेकर नया मत नहीं खड़ा हो सकता।

उक्त तीनों ध्वनि की सत्ता ही अमान्य कर देते हैं जबकि अन्तर्भाववाद की एक स्थिति यह है कि लक्षणा में ही 'ध्वनि' का अन्तर्भाव मान लिया जाता है। आगे चल कर 'लक्षणा' पर विचार होगा। यहाँ द्रष्टव्य है कि लक्षणा के क्षेत्र से बाहर ध्वनि का अधिकतर विस्तार है परन्तु लक्षणावादी इस सबकी उपेक्षा कर देता है।

कुछ ऐसे आचार्य हैं जो 'ध्वनि' की सत्ता तो मान्य करते हैं, परन्तु परिभाषित करने से कतराते हुए उसे अनिर्वचनीय घोषित करते हैं।

ऐसी स्थिति में नया ध्वनि-प्रस्थान लाने से पूर्व काव्यार्थ का परिचय आवश्यक हो जाता है।

अर्थभेद

काव्य सहृदय-सापेक्ष रचना होती है। काव्य का अर्थ ही सहृदयों की प्रशंसा पाता है। यह अर्थ काव्य में दो प्रकार से देखा जाता है—वाच्य और प्रतीयमान (1/2)। इनमें वाच्य अर्थ उपमा आदि अलंकारों का रूप ले कर सहृदयों की श्लाघा पाता है और इस पक्ष पर पूर्ववर्ती आचार्यों ने पर्याप्त प्रकाश डाला है (1/3)। परन्तु प्रतीयमान अर्थ काव्य का असाधारण तत्त्व है जो महाकवियों की वाणियों में उपस्थित रहता है। यह चमत्कारी अर्थ वाच्यार्थ और वाचक शब्द तथा अलंकारादि में रहता हुआ भी उन सबसे भिन्न भासित होता है, जैसे अङ्गनाओं में अलंकृत अङ्गों से पृथक् उन्हीं अङ्गों से व्यक्त लावण्य शोभा पाता है जिससे सहृदयों को परितोष मिलता है। यही प्रतीयमान अर्थ ध्वनि है।[1] यह प्रतीयमान या व्यङ्ग्य अर्थ स्थूल रूप में तीन प्रकार का है जो लोक-प्रचलित वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न है :

वस्तुरूप प्रतीयमान अर्थ

राम राम रट विकल भुआलू।
जिमि बिनु पंख बिहंग बेहालू।। (मानस)

यहाँ पक्षहीन पक्षी की तुलना से 'राजा के भावी मरण' की व्यञ्जना है जो वाच्यार्थ की सीमा से परे है।

प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई। (मानस)

से व्यङ्ग्य है कि 'दशरथ का मरण निश्चित है'।

अलंकाररूप प्रतीयमान अर्थ

भरतहि होइ कि राजमदु विधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरन्हि छीर-सिन्धु बिनसाइ ॥ (मानस)

यहाँ दृष्टान्त वाच्य अलंकार है, परन्तु भरत और क्षीरसागर, विधि-हरि-हर-पद और काँजी-सीकर, राजमद और बिनसना में उपमा व्यक्त हुई है तथा इस उपमा से भरतमहिमा की अतिशयोक्ति आती है। तीन में से प्रथम अलंकार ही वाच्य है, शेष दो प्रतीयमान हैं।

अंग अंग नग जगमगत दीपसिखा-सी देह।
दिया बढ़ाए हूँ रहै अधिक उजारौ गेह ॥ (बिहारी)

यहाँ देहज्योति के समक्ष दीपज्योति के प्रकाशहीन होने में अतिशयोक्ति अलंकार की व्यञ्जना है जो वाच्यार्थ की सीमा में नहीं आती।

रसरूप प्रतीयमान अर्थ

परिरम्भ-कुम्भ की मदिरा
निःश्वास-मलय के झोंके।
मुख-चन्द्र चाँदनी-जल से
मैं उठता था मुख धो के ॥ (प्रसाद : आँसू)

यहाँ सम्भोग-शृङ्गार की व्यञ्जना है जो स्मृति-भावरूप व्यङ्ग्य का अङ्ग है और स्मृति के अनन्तर विप्रलम्भ-शृङ्गार व्यक्त होता है। ये तीनों अर्थ वाच्यार्थ से एकीभूत लगते हैं, फिर भी वे वाच्यार्थ में नहीं आते।

प्रतीयमान अर्थ का स्वरूप

यही प्रतीयमान अर्थ, विशेषत: रसादि व्यङ्ग्य ही काव्यात्मा है। काव्य का इतिहास साक्षी है कि आदिकवि वाल्मीकि का शोक ही श्लोक रूप में परिणत हुआ था—उनकी प्रथम रचना ही करुणरसमयी बनी।[2] भावतत्त्व ही काव्य का प्रेरक एवं सर्वस्व है। यह प्रतिभानिष्पन्न प्रतीयमान अर्थ केवल शब्द और अर्थ की शिक्षा से हृदयंगम नहीं होता, उसके ज्ञानार्थ काव्यतत्त्व का ज्ञान अपेक्षित होता है।[3] प्रतीयमान अर्थ ही काव्यार्थ है, उसे व्यक्त करने वाला कोई विशिष्ट शब्द होता है, इन दोनों को महाकवि प्रयत्नपूर्वक काव्यबद्ध करता है अत: उनकी पहचान के लिए भी प्रयत्न करना चाहिए।[4]

प्रकाश पाने हेतु दीपशिखा के लिए यत्न करना पड़ता है, उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ की प्राप्ति हेतु वाच्यार्थ में यत्न किया जाता है। वाच्यार्थ केवल साधन है, प्रतीयमान अर्थ साध्य है। काव्य का वाच्यार्थ तभी सफल है जब उससे प्रतीयमान की सिद्धि होती हो (1/9)।

ध्वनि शब्द के अर्थ

'ध्वनि' शब्द के पाँच अर्थ किए जाते हैं जिन में से तीन का स्पष्ट निर्देश अभिनव-गुप्त ने किया है :

ध्वनतीति वा, ध्वन्यत इतिवा, ध्वननमिति वा ध्वनिः। (लोचन, 1/1)

अर्थात् ध्वनित करने वाला, ध्वनित होने वाला और ध्वनन व्यापार ये तीन ध्वनि शब्द के अर्थ हैं। इनके अतिरिक्त कहा जा सकता है :

ध्वन्यते येन सः, ध्वनति यस्मिन् स वा ध्वनिः।

इन पाँचों का यथापेक्ष विवरण इस प्रकार है :

1. ध्वनतीति ध्वनिः। जो शब्द या अर्थ वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति कराता है, उसे 'ध्वनि' कहते हैं। इस प्रकार शब्दार्थ-युगल को ध्वनि कहा जाता है जो काव्य-शरीर के घटक हैं।

2. ध्वन्यते इति ध्वनिः। जो वाच्य से भिन्न अर्थ दूसरे अर्थ या शब्द से प्रतीत होता है वह प्रतीयमान या व्यङ्ग्य अर्थ ध्वनि है।

3. ध्वननं ध्वनिः। शब्द और अर्थ का वह भाव या व्यापार ध्वनि है जिसे व्यञ्जना नाम से जाना जाता है।

4. ध्वन्यते येन स ध्वनिः। जिस व्यापार से प्रतीति का कार्य सम्पन्न होता है, वह शब्दार्थ-सम्बन्ध (व्यञ्जना) ध्वनि है। अभिवनगुप्त इसे तीसरे वर्ग में ही ले लेते हैं परन्तु व्यञ्जना-व्यापार अर्थबोध की क्रिया न होकर उसका साधन है (दे०, 'काव्यप्रकाश', 2 : व्यञ्जना निरूपण)।

5. ध्वनति यस्मिन् स ध्वनिः। जिस काव्य में शब्द और अर्थ प्रतीयमान अर्थ की व्यञ्जना करते हैं, वह काव्य ध्वनि है।[5] इसी को उत्तम काव्य माना गया है जिस पर आगे विचार किया जायगा। आचार्य अभिनव इसे प्रथम वर्ग में लेते हैं। उनका अभिप्राय है कि शब्द और अर्थ ही काव्य है और वे ही प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करते हैं।[6]

प्रतीयमान अर्थ के अनुसार काव्यभेद

'ध्वनि' शब्द के पाँचवें अर्थ पर ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट होगा कि व्यङ्ग्यार्थ के आधार पर काव्य में श्रेणीगत अन्तर आ जाता है। व्यङ्ग्य कहीं प्रधान रहता है, कहीं गौण हो जाता है और कहीं सर्वथा तिरोहित होता है। इस प्रकार उत्तम, मध्यम और अवर काव्यों की व्यवस्था है जिन्हें क्रमशः ध्वनि, गुणीभूत-व्यङ्ग्य और चित्र काव्य कहते हैं।

ध्वनि अथवा उत्तम काव्य

जिस काव्य में व्यङ्ग्य (प्रतीयमान) अर्थ की प्रधानता रहती है, उसे ध्वनिकाव्य

कहते हैं, यही उत्तम काव्य है। इसके कुछ उदाहरण ऊपर आ चुके हैं। समस्त ध्वनिवादी ग्रन्थों में इस वर्ग पर विस्तृत विचार किया गया है अतः पृथक् अध्याय में परिशीलन किया जायगा।

गुणीभूतव्यङ्ग्य अथवा माध्यम काव्य

किसी प्रकार प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ गौण हो जाय तो गुणीभूतव्यङ्ग्य नाम का मध्यम काव्य बनता है। यह गौणता आठ प्रकार से मानी गयी है जिसका संकलन आचार्य मम्मट ने किया है—व्यङ्ग्य अगूढ़ हो, अन्य अर्थ का अङ्ग हो, वाच्यार्थ का अङ्ग हो, अस्फुट हो, सन्दिग्ध प्रधानता वाला हो, तुल्य प्रधानता वाला हो, काकु से आता हो अथवा असुन्दर हो तो गुणीभूत-व्यङ्ग्य होता है।[7] आचार्य आनन्दवर्धन ने इन सभी पर एकत्र प्रकाश नहीं डाला है अतः मम्मट के ही अनुसार विवरण किया जा रहा है।

व्यङ्ग्य की अगूढ़ता : वाच्यार्थ के समान व्यङ्ग्यार्थ पूर्णतया स्पष्ट हो कि सभी उसे समझ सकें तो व्यङ्ग्य की गरिमा गौण हो जाती है।

वेगि बिदेह नगर निअराया। (मानस)

यहाँ व्यङ्ग्य है कि मार्गशोभा आदि में उलझे रहने के कारण राम को अपने चलने के श्रम का भास नहीं हुआ, प्रत्युत ऐसा लगा कि जनकपुर ही समीप चला आया हो। परन्तु ऐसे व्यङ्ग्य गूढ़ नहीं हैं, वाच्य के समान ही बोलचाल के व्यवहार में भी प्रचलित हैं।

व्यङ्ग्य की अपराङ्गता : एक व्यङ्ग्य जब दूसरे व्यङ्ग्य का अङ्ग हो जाता है और प्रथम व्यङ्ग्य दूसरे की अपेक्षा वर्णन में अधिक महत्त्व का दिखाई पड़ता है, तब प्रथम व्यङ्ग्य का दूसरे व्यङ्ग्य के प्रति गौण हो जाना काव्य को मध्यम श्रेणी का कर देता है :

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी।
तुम्ह देखी सीता मृगनैनी।। (मानस)

इत्यादि से विप्रलम्भ शृङ्गार आरम्भ करके आगे उसे 'एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी। मनहुँ महा बिरही अति कामी' कहकर भक्ति का अंग बना दिया है। भक्तिरस की दृष्टि से कितना भी महत्त्व हो, परन्तु भक्ति का भी मधुर-विप्रलम्भ कवि की दास्य भावना के प्रति गौण हो गया है अतः यह अंश उत्तम काव्य नहीं।

व्यङ्ग्य की वाच्याङ्गता : यह स्थिति प्रायः तब आती है जब महत्त्वपूर्ण व्यङ्ग्य देने वाला उपवाक्य व्यङ्ग्यरहित प्रधान उपवाक्य का अङ्ग हो जाता है :

कह सीता, बिधि भा प्रतिकूला।
मिलिहि न पावक, मिटिहि न सूला।।
देखिअत प्रगट गगन अंगारा।
अवनि न आवत एकउ तारा।। (मानस)

यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार का अति सुन्दर चित्रण है, परन्तु प्रधान उपवाक्य 'कह सीता' के वाच्यार्थ का अङ्ग है। यह स्थिति अन्य प्रकार से भी देखी जाती है जब पूरे पद्य में प्रतीयमान अलंकार का निर्वाह नहीं हो पाता—अधिक भाग में अलंकार प्रतीयमान रहता है और एक अंश में वही अलंकार वाच्य वना दिया जाता है, फलतः उस वाच्य अलंकार की पूर्ति में सब-का-सव प्रतीयमान अर्थ गौण वन जाता है :

रस के प्रयोगनि के सुखद सुजोगनि के
जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं।
तिन के चलावन की चरचा चलावै कौन
देत ना सुदर्सन हू यों सुधि सिराई हैं॥
करत उपाय ना सुभाय लखि नारिनि के
भाय क्यों अनारिनि के भरत कन्हाई हैं
ह्याँ तौ विषम ज्वर वियोग की चढ़ाई
यह पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं। (रत्नाकर : उद्धवशतक)

उद्धवशतक के इस कवित्त में रत्नाकर ने रूपक अलंकार का व्यङ्ग्य निभाना चाहा है, परन्तु अन्त में 'विषम ज्वर वियोग' कहकर रूपक को वाच्य वना दिया है—'वियोग' शव्द न होता तो भी अर्थ में कोई कमी न आती।

व्यङ्ग्य की अस्फुटता : प्रतीयमान अर्थ यदि स्पष्ट न हो, तो भी वह गौण हो जाता है। उदाहरणार्थ, चित्रकूट प्रसंग में भरत के आने को सुन कर राम चिन्तित होते हैं :

वहुरि सोचवस भे सियरदनू।
कारन कवन भरत आगवनू॥ (मानस)

यहां चिन्ता का कारण स्पष्ट नहीं—(1) भरत राम पर आक्रमण करने आ रहे हैं, (2) राज्य पर कोई संकट आ गया है, दो कारण हो सकते हैं, कोई भी स्फुट नहीं। प्रथम कारण की पुष्टि आगे होने लगती है जब लक्ष्मण के कोप पर राम तव तक भरत के पक्ष में कुछ नहीं कहते जव तक आकाशवाणी द्वारा शङ्का को निराधार नहीं वताया जाता। राम और भरत के विशाल चरित्र को देखते हुए कवि की यह असावधानी है कि व्यङ्ग्य को अस्फुट रहने दिया। वस्तुतः संकट की संभावना ही राम की चिन्ता का कारण वताना अभीष्ट है, परन्तु उसे स्पष्ट नहीं किया गया।

व्यङ्ग्य की सन्दिग्ध प्रधानता : वाच्य और व्यङ्ग्य में किसे कवि प्रधान मान कर चला है, यह सन्दिग्ध हो जाय तो भी व्यङ्ग्य अर्थ अल्प महत्त्व का हो कर गौण हो जाता है :

सोहत संगु समान सों यहै कहै सबु लोगु।
पान पीक ओठन लसै काजर नैनन जोगु ।। (बिहारी)

उपयुक्त सम्बन्ध की प्रशंसा वाच्य है और खण्डिता नायिका का वचन होने पर व्यङ्ग्य आता है कि नायक के ओठों पर कज्जलरेखा और आँखों में पान की पीक अनुपयुक्त है। परन्तु व्यङ्ग्य की प्रधानता सन्दिग्ध है—कवि को वही अभीष्ट है या नहीं, स्पष्ट नहीं, यद्यपि सहृदय को वैसा व्यङ्ग्य भासित अवश्य होता है।

व्यङ्ग्य की तुल्य प्रधानता : व्यङ्ग्य के समान ही वाच्य अर्थ भी प्रधान दिखता हो तो भी व्यङ्ग्य को गौण माना जाता है :

काजर की कोठरी में कैसौ हू सयानो जाइ।
एक लीक काजर की लागिहै पै लागिहै ।। (ठाकुर)

यहाँ कुसंग से बचने का उपदेश व्यङ्ग्य है जो वाच्यार्थ के समान ही प्रधानता रखता है, वाच्यार्थ स्वयं भी व्यङ्ग्य से कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

व्यङ्ग्य का काकु से आगमन : विशेष प्रकार की कण्ठध्वनि को 'काकु' कहते हैं जिससे वाच्यार्थ के विपरीत अर्थ की व्यंञ्जना हो जाया करती है। ऐसा व्यङ्ग्य अधिक स्पष्ट रहता है, अतः गौण माना जाता है :

सत्य सराहि कहेहु बर देना।
जानेहु लेइहि मागि चबेना ।। (मानस)

यहाँ कैकेयी के काकु से आया हुआ व्यङ्ग्य है—'मैं कोई छोटा वरदान नहीं चाहती'—जो गौण है क्योंकि कवि सरलता से वैसा कर लेता है—वार्तालाप में ऐसे व्यङ्ग्य प्रचलित रहते हैं अतः उनमें विशेष चमत्कार नहीं देखा जाता।

व्यङ्ग्य की असुन्दरता : अनेकत्र देखा जाता है कि व्यङ्ग्य अर्थ तो होता है, परन्तु उसकी अपेक्षा वाच्यार्थ ही अधिक सुन्दर होता है, अतः व्यङ्ग्यार्थ असुन्दर होने से गौण रहता है :

का बरषा सब कृषी सुखानें।
समय चुकें पुनि का पछितानें ।। (मानस)

चित्र अथवा अवर काव्य

एक स्थिति ऐसी होती है जहाँ व्यङ्ग्य या प्रतीयमान अर्थ नितान्त तिरोहित रहता है। वहाँ वह प्रधान होना तो दूर, गौण होकर भी उपस्थित नहीं देखा जाता। फलतः ऐसा काव्य न ध्वनि काव्य कहा जा सकता है और न ही गुणीभूत-व्यङ्ग्य वर्ग में आ पाता है। उस दशा में काव्य 'चित्र' नाम से जाना जाता है।[8] यह चित्रकाव्य दो प्रकार से देखा जाता है : कहीं उसे शब्दचित्र कहते हैं और कहीं वाच्यचित्र।[9] ऐसे काव्य में कोई स्फुट व्यङ्ग्य नहीं होता, केवल गुणों और अलंकारों का चमत्कार रहता है अतएव वह अवर या अधम काव्य है।[10]

शब्दचित्र : इसमें मुख्य रूप से शब्दालंकारों का चमत्कार होता है :

तो पर वारौं उरबसी सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी है उरबसी समान ।। (बिहारी)

यहाँ यमक अलंकार ही मुख्य है। शृङ्गार रस व्यङ्ग्य सर्वथा तिरोहित है।

अर्थचित्र : इसमें मुख्यत: अर्थालंकार का चमत्कार रहता है :

रनित भृंग घंटावली झरित दान मधु नीर।
मंद मंद आवतु चल्यौ कुंजर कुंज समीर ।। (बिहारी)

यहाँ रूपक अलंकार पर ही कवि का सर्वस्व प्रतिष्ठित है, शृङ्गार का उद्दीपन वसन्त ऋतु वर्ण्य है, परन्तु शृङ्गार रस स्वत: तिरोहित ही है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने (ध्वन्यालोक 3/42) इस विषय का विस्तार से विवेचन किया है। (1) ऐसा कोई काव्य संभव नहीं जिसमें किसी-न-किसी प्रकार का रस न आता हो, पर कवि जब उसकी उपेक्षा करके केवल शब्द या अर्थ के चमत्कार में ही उलझ कर रह जाता है तब रसादि व्यङ्ग्य अर्थ अप्रकट या तिरोभूत हो जाता है फलत: उसकी प्रतीति नहीं हो पाती। (2) अर्थ से रस-भावादि सभी कहीं निकल आते हैं, परन्तु कवि का प्रयत्न जब पूर्णतया अलंकारों पर रहता है, तब वह प्रतीति अत्यन्त दुर्बल हो जाती है, इसी कल्पना के आधार पर चित्रकाव्य की व्यवस्था है। (3) कवि जब प्रतीयमान अर्थ देने हेतु सावधान नहीं रहता, तब उसकी वाणी विश्रृङ्खल हो जाती है अत: चित्रकाव्य ही बन पाता है। (4) जो कविता का प्रशिक्षण लेने का अभ्यास करते होते हैं, वे भी प्राय: चित्रकाव्य ही बना पाते हैं। (5) किसी प्रकार रसभाव का अर्थ निकाल लेना ही पर्याप्त नहीं है, कवि पर उत्तरदायित्व है कि शब्द-चमत्कार और अर्थ-चमत्कार उसी मात्रा में लाया जाय कि व्यङ्ग्य अर्थ का प्रकाश मन्द न पड़े। आचार्य का अभिप्राय समझने हेतु संगीत का उदाहरण ले सकते हैं : गान की संगति में ताल और लय प्रकट करने हेतु वाद्य की योजना होती है, परन्तु वाद्य की प्रबलता में गान इतना दब जाय कि वह मन्द पड़कर तिरोहित हो जाय तो संगीत का आनन्द जाता रहता है, उसी प्रकार अलंकार यदि प्रतीयमान अर्थ को तिरोभूत कर दें तो काव्य-रस जाता रहता है।

चित्रकाव्य को लेकर ध्वनिमत के अनुयायियों ने पर्याप्त विचार किया है और कुछ मतभेद भी उभर कर सामने आये हैं जिन्हें देख लेना चाहिए :

1. अप्पय दीक्षित ने 'चित्रमीमांसा' ग्रन्थ लिख कर चित्रकाव्य पर विस्तृत प्रकाश डाला है। उन्होंने बड़े-बड़े कवियों में भी चित्रयोजना के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इसे उसी ग्रन्थ में देखना चाहिए।

2. आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' नामक अपने ग्रन्थ में चित्रकाव्य को अमान्य करके ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य इन दो ही काव्य-भेदों को मान्यता दी

है। उनके अनुसार रसात्मक वाक्य ही काव्य है, अतः जब रस ही सहृदय की प्रतीति में उभर कर नहीं आया तब उसे काव्य नहीं कहा जा सकता। रसहीन काव्य केवल अलंकार-योजना के बल पर काव्य न होकर काव्य का चित्रमात्र है, अतः उसे 'चित्रकाव्य' कहा जाता है।

3. पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने 'रसगङ्गाधर' ग्रन्थ में चित्रकाव्य के दो वर्ग कर लिये हैं। उनका मत है कि अर्थचित्र निश्चय ही शब्दचित्र की अपेक्षा उच्च ठहरता है, अतः दोनों को एक ही वर्ग में रखना अयोग्य है। तदनुसार काव्य के चार वर्ग निर्धारित होते हैं: ध्वनिकाव्य उत्तमोत्तम है, गुणीभूत व्यङ्ग्य उत्तम है, अर्थचित्र मध्यम है तथा शब्दचित्र अधम है।

ध्वनि-सम्मत व्यञ्जनावृत्ति की परम्परा

आगामी अध्याय में शब्दवृत्तियों पर विचार किया जायगा। यहाँ यह विचारणीय है कि प्रतीयमान अथवा व्यङ्ग्य अर्थ देने वाले शब्द को व्यञ्जक कहा जाता है। व्यञ्जक शब्द का वह व्यापार (वृत्ति) व्यञ्जना है जिससे व्यङ्ग्य अर्थ निकलता है। इस व्यञ्जनावृत्ति पर आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम विस्तृत विचार करके काव्य के भेद निर्धारित किये हैं। देखना यह है कि व्यञ्जनापरक चिन्तन की क्या परम्परा रही है। समूचा साहित्यिक चिन्तन भाषाशास्त्रीय है अतः भाषाविषयक विवेचन के विना उसे आधार ही नहीं दिया जा सकता। ध्वनिसिद्धान्त के पूर्व वैसा चिन्तन सामने नहीं आया था परन्तु प्रकारान्तर से व्यञ्जना को मान्यता मिलती रही है।

व्याकरणमत

1. व्याकरण में वाच्य अर्थ के अतिरिक्त 'द्योत्य' अर्थ भी मान्य है। जब किसी के बुलाने पर उत्तर मिलता है—'अभी आया' तब भविष्यत् के लिए भूतकालिक प्रयोग त्वरित क्रिया का द्योतन करता है (पा. सू. 3/3/132)। ऐसे अनेक प्रयोगों की पाणिनि ने व्याख्या की है। अतः द्योतन भी शब्दव्यापार मान्य है जिसे व्यञ्जना ही कहना चाहिए। यह अर्थ से अर्थ की व्यञ्जना है।

2. स्फोट-सिद्धान्त व्याकरण की विशिष्ट स्थापना है। मान्यता यह है कि चैतन्य ही मन में शब्दरूप लेता है और वह अर्थबोध कराता है। यह मानस शब्द ही 'स्फोट' है जिससे अर्थ स्फुटित होता है। बाह्य शब्द उच्चारित करने से पूर्व वक्ता अपने भीतर स्फोट में ही अर्थ लेता है तथा श्रोता सुने हुए शब्द से अपने मानस शब्द (स्फोट) का ग्रहण करता है जिससे उसे अर्थबोध होता है। बाह्य शब्द आन्तर स्फोटशब्द का व्यञ्जक होता है, स्फोटशब्द व्यङ्ग्य है और व्यञ्जना शब्द-व्यापार है। पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रथम आह्निक में श्रव्य शब्द को 'ध्वनि' नाम दिया है क्योंकि उससे स्फोटशब्द ध्वनित (व्यक्त) होता है।

ग्रानन्दवर्धनाचार्य ग्रपने को उसी परम्परा में मानते हैं केवल 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग वे शब्द ग्रौर ग्रर्थ दोनों के लिए करते हैं, यदि उनसे विशिष्ट ग्रर्थ की व्यञ्जना होती हो।[11] देखा जा चुका है कि ग्रर्थ से ग्रर्थ का द्योतन भी व्याकरण में मान्य है।

3. प्रत्येक ध्वनि ग्रन्तर्मानस स्फोटशब्द का ध्वनन (व्यञ्जना) करके ही सार्थक है। उच्चारण द्वारा शब्द की ग्रभिव्यक्ति के ग्रनन्तर वैकृत ध्वनियाँ होती हैं, स्फोट प्राकृत ध्वनि है, वही शब्द है। वैकृत ध्वनियों में लयजनित भेद (द्रुत, मध्य, विलम्बित नाम से काल भेद) देखे जाते हैं जबकि स्फोट में ये भेद नहीं होते। वाग्यन्त्र से वैकृत शब्द की ही निष्पत्ति होती है जो शब्दज शब्द है।[12] शब्दज शब्द स्फोटशब्द का जिस प्रकार व्यञ्जक होता है, उसी प्रकार कोई शब्द या ग्रर्थ ग्रन्य ग्रर्थ का व्यञ्जक होता है।

भरतमत

नाट्यशास्त्र में व्यञ्जनावृत्ति के पुष्कल संकेत हैं। वहाँ वेष-रचना, ग्राङ्गिक ग्रभिनय ग्रौर सात्त्विक भावों से वाक्यार्थ की व्यञ्जना बतायी गयी है।[13] स्थायी भावों की व्यञ्जना भावाभिनयों द्वारा होती है, तभी सहृदयों को ग्रास्वाद मिलता है।[14] भाव ग्रनुभावों ग्रौर विभावों से व्यञ्जित होते हैं।[15]

भामह और व्यञ्जना

भामह ने यद्यपि भाषाशास्त्रीय दृष्टि को प्रधानता नहीं दी है, फिर भी काव्यालंकार के पाँचवें-छठे ग्रध्यायों में प्रसंगत: शब्द-विवेचन किया ही है। उनके ग्रनुसार शुद्ध दृष्टान्त ग्रलंकार तभी होता है जब दृष्टान्त से साध्य ग्रौर साधन की व्यञ्जना होती हो। जैसे किसी को भरत, दिलीप, पुरुरवा, प्रद्युम्न ग्रौर नरवाहन कहा जाय तो इन साधनभूत राजाग्रों के गुण व्यक्त होते हैं ग्रौर साध्य या वर्ण्य में उन गुणों की स्थिति भी व्यक्त होती है, किसी एक ही पद से सभी गुणों की व्यञ्जना ग्रसंभव है।[16] ग्रन्य स्थान पर भामह व्यञ्जन-चारुता को ग्रलंकारों से बढ़कर मानते हैं।[17] ग्रत: भामह भी ध्वनि के विरोधी नहीं कहे जा सकते।

वामन ग्रौर व्यञ्जना

ग्राचार्य वामन व्यञ्जनावृत्ति का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं करते, लक्षणा को मान्य करते हैं।[18] परन्तु जब वह कहते हैं कि 'माला' शब्द ही पर्याप्त है ग्रत: यदि 'पुष्पमाला' कहा जाता है तो पुष्पों की उत्कृष्टता की प्रतिपत्ति (प्रतीति) होती है।[19] यह उत्कर्ष प्रतीयमान ही हुग्रा ग्रत: 'प्रतिपत्ति' कह कर वे व्यञ्जना को मान्य करते जान पड़ते हैं। दूसरे स्थान पर वे काव्य में रसों के 'दीप्त' होने की

बात करते हैं।[20] यह दीप्ति भी प्रकारान्तर से व्यञ्जना ही है।

अन्य तथ्य

1. अवयवों को अङ्ग इसीलिए कहा जाता है कि उनकी संघटना से अङ्गी व्यक्त होता है। व्यञ्जक अङ्गों द्वारा व्यङ्ग्य अङ्गी की व्यञ्जना होती है, अन्यथा अंङ्गों को छोड़कर अङ्गी की सत्ता नहीं होती। फिर भी अङ्गी ही प्रधान रहता है। इसी प्रकार शब्द और वाच्यार्थ काव्याङ्ग हैं जिनसे प्रधनीभूत रसादि की व्यञ्जना होती है, तभी उनकी सार्थकता है।

2. 'व्यञ्जन' शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है। खाद्य पदार्थों में व्यञ्जनों की अपने आप में सार्थकता नहीं है, स्वाद को व्यक्त करके ही वे सार्थक हैं। अथवा स्वाद-रूप में व्यक्त होते हैं अतएव व्यञ्जन की सार्थकता है।[21] इसी प्रकार काव्य द्वारा रसादि की व्यञ्जना होती है, तभी सार्थकता है।

3. प्रकाश या द्युति स्वयंप्रकाश है, फिर भी अन्य के प्रकाशन द्वारा ही उसकी सार्थकता है। काव्य के शब्दार्थ भी अन्य अर्थ (प्रकाश्य) के प्रकाशक हो कर ही सार्थक हैं।

4. काव्य कवि-कर्म का नाम है जो अन्य शब्दार्थ-समूहों (इतिहासादि) की अपेक्षा विशिष्ट रचना है, तभी उसका पार्थक्य संभव है। यह विशिष्टता प्रतीयमान अर्थ देकर ही बन सकती है।

5. अलंकारादि-योजना साधन है, साध्य नहीं। आचार्य वामन स्वयं ही रीति को रेखातुल्य मानते हैं और उन्हीं के द्वारा काव्य-चित्र का उभरना स्वीकार करते हैं।[22] अतः चित्र के स्थान पर साध्य काव्य रीतिमात्र नहीं है, उससे व्यक्त होने वाला तत्त्व है।

उक्त सभी तथ्यों को ध्यान में लेकर प्रतीयमान या व्यङ्ग्य अर्थ की महिमा प्रतीत होती है जिसके लिए व्यञ्जना नामक शब्दवृत्ति को समझना आवश्यक हो जाता है। व्यञ्जना को जानने से पूर्व अन्य शब्दवृत्तियों का परिज्ञान आवश्यक है, अतः सभी वृत्तियों पर आगामी अध्याय में अपेक्षित विचार किया जा रहा है।

सन्दर्भ

1. 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
   यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥'—ध्वन्यालोक, 1/4.
2. 'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।

क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ: शोक: श्लोकत्वमागत: ॥'—वही, 1/5.

3. 'शब्दार्थ-शासन-ज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥ —वही, 1/7.

4. 'सोऽर्थस्तद्व्यक्ति-सामर्थ्य-योगी शब्दश्च कश्चन ।
यत्नत: प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवे: ॥—वही, 1/8.

5. 'यत्रार्थ: शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्त: काव्यविशेष: स ध्वनिरिति सूरिभि: कथित: ॥' —वही, 1/13.

6. तेन वाच्योपि ध्वनि:, वाचकोपि शब्दो ध्वनि:, द्वयोरपि व्यञ्जकत्वं ध्वनतीति कृत्वा । संमिश्र्यते विभावानुभाव-संवलनयेति व्यङ्ग्योपि ध्वनि:, ध्वन्यत इति कृत्वा । शब्दनं शब्द:, शब्द-व्यापार:, न चासावभिधादिरूप:, अपि त्वात्मभूत: सोऽपि (व्यञ्जना व्यापार:) ध्वननं ध्वनि: । काव्यमितिव्यपदेश्यश्च योर्थ: सोपि ध्वनि:, उक्त-प्रकार-ध्वनि-चतुष्टयमयत्वात् ।—लोचन, 1/13.

7. 'अगूढमपरस्याङ्ग वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्ध-तुल्य-प्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदा: स्मृता: ।'—काव्यप्रकाश, 5/66.

8. प्रधान-गुण-भावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते ।
काव्ये उभे, ततोन्यद्यत् तच्चित्रमभिधीयते ॥

9. 'चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् ।
तत्र किंचिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमत: परम् ॥ —ध्वन्यालोक, 3/41-42.

10. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ।
चित्रमिति गुणालंकार-युक्तम् । अव्यङ्ग्यमिति स्फुट-प्रतीयमानार्थरहितम् ।
अवरमधमम् । —काव्यप्रकाश, 1/4.

11. प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणा: व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम् । ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति । तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभि: सूरिभि: काव्यार्थतत्त्व-दर्शिभिर्वाच्यवाचकसंमिश्र: शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्त: । —ध्वन्यालोक, 1/3. दे. काव्यप्रकाश, 1/4.

12. दे. ध्वन्यालोक-लोचन 1/13 तथा वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड.

13. अङ्ग-नेपथ्य-सत्त्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि ॥ —ना. शा. 14/2.

14. नाना-भावाभिनय-व्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति । —ना. शा. (अभिनव भारती), 6/32-33.

15. विभावानुभाव-व्यञ्जितै: एकोनपञ्चाशद्भावै: सामान्य गुणयोगेन अभिनिष्पद्यन्ते रसा: । —ना.शा. 8/7-8.

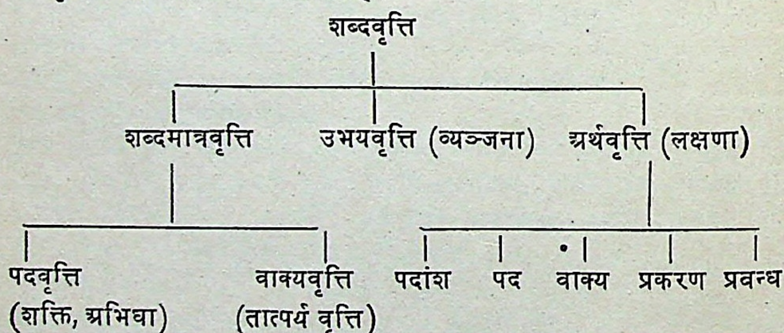
16. यत्र दृष्टान्तमात्रेण व्यज्येते साध्य-साधने ।
तमाहु: शुद्ध-दृष्टान्तं तन्मात्राविष्कृतेर्यथा ।
भरतस्त्वं दिलीपस्त्वं त्वमेवैल: पुरूरवा: ।
त्वमेव वीर प्रद्युम्नस्त्वमेव नरवाहन: ॥
कथमेकपदेनैव व्यज्येरन्नस्य ते गुणा: । —काव्यालंकार, 5/58-60.

17. क्रमागतं श्रुतिसुखं शब्दमर्थ्यमुदीरयेत् ।
अतिशेते ह्यलंकारमन्यं व्यञ्जनचारुता ॥ —वही, 6/28.

18. 'काव्यालंकारसूत्र', 5/1/15-16.
19. पुष्पमाला-शब्दे मालाशब्देनैव गतार्थं पुष्पपदं प्रयुज्यते,
उत्कर्षस्य प्रतिपत्त्यर्थम् । उत्कृष्टानां पुष्पाणां मालेति ।—वही, 2/2/16.
20. दीप्ता रसा: शृंगारादयो यस्य स दीप्तरस: ।—वही, 3/2/15.
21. नाट्यशास्त्र, 6/32-33.
व्यज्यते इति व्यञ्जनं चानुपानादिरसोऽत्राभिप्रेतः ।—अभिनव-भारती, 6/33.
22. एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितम् ।
—काव्यालंकार सूत्र, 1/2/13.

शब्दवृत्ति-विचार

वृत्ति और व्यापार एकार्थक शब्द हैं। जब 'शब्दवृत्ति' कहते हैं तब तात्पर्य यह रहता है कि शब्द और अर्थबोध के मध्य में कोई-न-कोई व्यापार रहता है जिसके द्वारा शब्द अर्थ का बोधक और अर्थ शब्द का बोधक बनता है। यह वृत्ति शब्द से अर्थबोध का व्यापार हो सकती है अथवा अर्थ से भी अर्थान्तर के बोध का व्यापार हो सकती है। इन्हें हम क्रमशः शब्दवृत्ति और अर्थवृत्ति नाम तो दे सकते हैं, परन्तु वस्तुतः अर्थवृत्ति भी शब्द के बिना नहीं हो सकती अतएव 'शब्दवृत्ति' ही कहने की प्रथा है। सुविधा के लिए हम शब्दवृत्ति और अर्थवृत्ति के विभाग करके विविध शब्दवृत्तियों का वर्गीकरण कर सकते हैं।



यहाँ एक भ्रान्ति की ओर दृष्टिपात आवश्यक है। कभी-कभी सभी शब्दवृत्तियों के लिए 'शब्दशक्ति' कह लिया जाता है जो अशास्त्रीय है। लेखक के ग्रन्थ 'ध्वनि सिद्धान्त तथा तुलनीय साहित्य-चिन्तन' में भी यह भ्रान्ति बनी रही है जिसका यहाँ निराकरण कर दिया गया है।

पदवृत्ति (शक्ति अथवा अभिधा)

1. शक्ति को समझने हेतु 'संकेत' जान लेना आवश्यक है। शब्द और अर्थ में एक प्रकार का अभेद स्थापित हो जाता है : हम 'गाय' शब्द और 'गाय' अर्थ में भेद नहीं कर पाते, दोनों इतने सम्पृक्त रहते हैं कि रहते हुए भी अन्तर की व्यावहारिक प्रतीति नहीं होती। इसी अध्यास या तादात्म्य या आरोपित अभेद

को 'संकेत' नाम से जाना जाता है। यह व्याकरणमत है जिसे आधार बना कर शक्ति या अभिधा की साहित्य में परिभाषा की जाती है

2. न्याय-दर्शन में 'संकेत' एक अनादि इच्छा है जो प्रत्येक शब्द में रहती है कि इस शब्द से यह अर्थ जाना जाय। न्याय के अनुसार यह संकेत ही शक्ति या अभिधा नाम का व्यापार है।

3. व्याकरणानुसार (साहित्य में) शब्द संकेतक है, अर्थ संकेतित होता है और दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध संकेत कहा जाता है। व्याकरण में शक्ति वाक्य-वृत्ति है, पद में संकेत रहता है जो यहाँ अनावश्यक मान कर छोड़ा जा रहा है।

4. संकेतित अर्थ का बोध कराने वाली शब्दवृत्ति या शब्द-व्यापार अभिधा अथवा शक्ति है। इसी को वाचकत्वशक्ति भी कहा जाता है। इसके आधार पर शब्द को अभिधायक, वाचक और शक्त कहते हैं तथा अर्थ को अभिधेय, वाच्य और शक्य कहा जाता है।[1] अभिधा एक पद की वृत्ति है, एक ही अभिधा अनेक पदों में नहीं रहती, अतः वह वाक्य की वृत्ति नहीं है। यही साहित्य में मान कर चला जाता है।

वाक्यवृत्ति (तात्पर्यवृत्ति)

1. व्याकरण में शक्ति ही वाक्यवृत्ति है, पदवृत्ति संकेत है, परन्तु कुमारिल-मीमांसा में तात्पर्यवृत्ति नाम से वाक्यवृत्ति पर पृथक विचार किया जाता है। ध्वनिमत के आचार्यों को व्यञ्जना-स्थापन हेतु उसे समझाने की आवश्यकता रहती है।

2. वाक्य में प्रत्येक पद को स्वतंत्र मान लिया जाय तो अखण्ड वाक्यार्थ नहीं बन सकता। अतः वाक्य में एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से सम्बन्ध रखता है, तभी वाक्य और वाक्यार्थ अखण्ड बनते हैं। यही वाक्य-व्यापार 'तात्पर्यवृत्ति' नाम से जाना जाता है। इसके द्वारा आयात वाक्यार्थ को तात्पर्य कहा जाता है।

लक्षणा

1. ऊपर जिस संकेतित अथवा वाच्य अर्थ की चर्चा हुई, उससे कभी-कभी तात्पर्य संगत नहीं बैठता। उदाहरणार्थ 'गङ्गा पर घर' कहा जाय तो गङ्गा का संकेतित अर्थ 'प्रवाह' है जिस पर घर हो नहीं सकता। इसे 'मुख्यार्थ-बाध' नाम से जाना जाता है, इसी को 'तात्पर्यानुपपत्ति' भी कहते हैं।

2. वाच्य अर्थ ही मुख्यार्थ होता है, उसका बाध होने पर प्रसङ्ग में ऐसा अर्थ लिया जाता है जो उस मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखता हो। उक्त उदाहरण में गङ्गा-प्रवाह से सम्बन्ध रखने वाला 'गङ्गातट' अर्थ लिया जाता है। इस स्थिति को 'मुख्यार्थ-योग' कहा जाता है।

3. मुख्यार्थ-बाध होने पर मुख्यार्थ-योग वाला अर्थ तभी लिया जाता है जब वैसा अर्थ 'रूढ़ि' या लोक-प्रसिद्धि से आता हो, अथवा वैसा अर्थ देने में वक्ता का कोई प्रयोजन निहित हो। यदि कहा जाय 'अमरीका धनी है' तो रूढ़िवश 'अमरीका' का अर्थ 'अमरीकावासी' लिया जाता है जबकि मुख्यार्थ भूभागविशेष है। 'गङ्गा पर घर' कहने में वक्ता का प्रयोजन है कि 'घर में शीतलता, पावनता, स्नानादि की सुविधा विद्यमान है'।

4. रूढ़िवश या प्रयोजनवश मुख्यार्थबाध से जो मुख्यार्थ-सम्बन्धी अर्थ लिया जाता है, उसे 'लक्ष्यार्थ' कहा जाता है। लक्ष्यार्थ देने वाला शब्द 'लाक्षणिक' होता है। इस शब्दवृत्ति का नाम 'लक्षणा' है।[2]

5. मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग तथा रूढ़ि या प्रयोजन ये तीन 'लक्षणाबीज' कहे जाते हैं जिनके आधार पर संकेतित से अन्य अर्थ देने वाली वृत्ति लक्षणा है। यह शब्दवृत्ति प्रत्यक्षत: अर्थवृत्ति है क्योंकि अर्थ में ही असंगति पाकर अर्थ से ही अर्थान्तर का बोध होता है।

व्यञ्जना

1. कभी ऐसा होता है कि बिना मुख्यार्थबाध या रूढ़ि के ही ऐसा असंकेतित अर्थ स्वत: आ जाता है जो मुख्यार्थ-सम्बन्धी भी हो सकता है और न भी हो सकता है। 'मानव का जीवन सदा गतिशील है' कहा जाय तो 'जीवन' का प्रासंगिक मुख्यार्थ 'प्राणधारण' है, परन्तु अप्रासंगिक 'जल' अर्थ स्वत: आ जाता है जो मुख्यार्थ का सम्बन्धी नहीं है, फिर भी उपमा अलंकार बन जाता है कि जलधारा के समान जीवन में गति है। यहाँ शब्द नानार्थक है, अत: द्वितीय अर्थ आया है।

2. योगरूढ़ शब्द पर अभिधाभेद के प्रसंग में यहीं विचार किया जायगा। योगरूढ़ शब्द के प्रयोग में कभी-कभी रूढ़ प्रासंगिक अर्थ के साथ अप्रासंगिक यौगिक अर्थ ले लिया जाता है। 'भीम को देखते ही कौरव पलायन करने लगे' कहें तो 'भीम' का प्रासंगिक रूढ़ अर्थ 'मध्यम पाण्डव' है, परन्तु साथ ही यौगिक अर्थ 'भयानक' भी आ जाता है। यहाँ भी शब्द से ही द्वितीय अर्थ आया है।

3. ऐसा भी होता है कि विशेष अर्थयोजना से ही अन्य अर्थ प्रकट हो जाय। 'मानउँ एक भगति कर नाता'—(मानस) से प्रकट होता है कि भाई, पिता, पुत्र आदि के नाते अमान्य हैं। यही आर्थी व्यञ्जना कही जाती है जिसमें लक्षणा का योग नहीं है।

4. प्रयोजनवती लक्षणा के स्थलों में अर्थ की प्रथम कक्ष्या संकेतित वाच्यार्थ की है, दूसरी वाच्यार्थ-सम्बन्धी अर्थ की और तीसरी वक्ता के प्रयोजन की बनती है, जैसा कि ऊपर देखा गया। इनमें प्रथम कक्ष्या अभिधा की, दूसरी लक्षणा की और तीसरी व्यञ्जना की है क्योंकि तृतीय कक्ष्या का अर्थ ही प्रतीयमान कहा

जाता है।

5. इस प्रकार व्यञ्जना वह व्यापार है जो नानार्थक शब्दों में अप्रासंगिक अवाच्य अर्थ, योगरूढ़ शब्दों में यौगिक अर्थ, अर्थयोजना से वाच्यभिन्न अर्थ और लक्षणा के प्रयोजनरूप अर्थ को प्रकाशित करता है।[3]

6. व्यञ्जना से अर्थ देने वाला शब्द या अर्थ व्यञ्जक होता है और उसके अर्थ को व्यङ्ग्य कहा जाता है।

7. (क) कभी पदांश ही व्यञ्जक होता है। जैसे, बुलाने के उत्तर में कहें 'अभी आया' तो भूतकाल वाले अंश से शीघ्रता की व्यञ्जना होती है। (ख) ऊपर आये हुए जीवन, भीम तथा गङ्गा उदाहरणों में पद व्यञ्जक है। (ग) 'मानउँ एक भगति कर नाता' में ऊपर वाक्य द्वारा अभीष्ट अर्थ की व्यञ्जना हुई है। (घ) कभी पूरा प्रकरण व्यञ्जक होता है। सुन्दरकाण्ड प्रवन्धकाव्य का प्रकरण है जिससे हनुमान के पराक्रम, बुद्धिमत्ता और कर्मकौशल के साथ विनयशीलता की व्यञ्जना होती है—पूरा प्रकरण हनुमान के विशाल चरित्र का व्यञ्जक है। (ङ) पूरा प्रबन्ध भी व्यञ्जक होता है। रामचरितमानस प्रवन्धकाव्य है जिसके द्वारा आसुरी शक्तियों के पराजय और दिव्यशक्ति के विजयवैभव के साथ कवि की भक्तिभावना व्यङ्ग्य है। व्यञ्जना और व्यङ्ग्य अर्थ को लेकर आगे विशेष विचार किया जायगा।

8. व्यङ्ग्य (प्रतीयमान) अर्थ ही काव्य का सर्वस्व है जो रसरूप में भी आता है जिस पर पृथक् विचार किया जायगा। इस प्रकार व्यञ्जना शब्दवृत्ति और अर्थवृत्ति होकर भी सहृदय का संस्कार है जो उसे व्यङ्ग्यार्थ तक ले जाता है। संस्कार या वासना के अभाव में व्यङ्ग्य का बोध नहीं हो पाता।

अभिधा के भेद

देखा गया कि अभिधा, शक्ति और वाचकत्व ये एक ही शब्द-व्यापार के नाम हैं। यही मुख्य व्यापार है अतः उसके द्वारा संकेतित अर्थ मुख्यार्थ कहा जाता है क्योंकि उसकी सत्ता पर ही लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थ प्रतिष्ठा पाते हैं। मुख्यार्थ-रहित होकर कोई शब्द नहीं होता। प्रसंगवश उसी के रहते हुए अन्य अर्थ लक्षित या व्यक्त होते हैं। अभिधा के भेद नीचे दिये जा रहे हैं :

रूढ़ि-शक्ति : प्रकृति-प्रत्यय-विभाग-रहित शब्द रूढ़ कहे जाते हैं जिनमें व्युत्पत्ति नहीं होती। उनके अर्थ को भी रूढ़ कहा जाता है। ऐसे शब्दों की शक्ति 'रूढ़ि' नाम से जानी जाती है। मण्डप, मुण्ड, ढेला, बखिया आदि शब्द रूढ़ हैं जिनका रूढ़ अर्थ देने वाली शक्ति रूढ़ि है।

योग-शक्ति : प्रकृति-प्रत्यय विभाग-सहित अर्थ देने वाले शब्द यौगिक, उनके अर्थ यौगिक और शक्ति 'योग' है। पाचक, पालक, शिक्षक, हरण, भिक्षा, भिक्षुक

आदि को उदाहरण में ले सकते हैं। समास में भी इसी योगशक्ति को देखा जाता है जहाँ दोनों पदों का अर्थ लेकर ही समस्त अर्थ बनता है। राजदूत, सुपुत्र, सन्मार्ग आदि उदाहरण हैं।

योगरूढ़ि-शक्ति : कभी कभी उक्त दोनों ही शक्तियाँ एक ही शब्द में काम करती देखी जाती हैं। पङ्कज, जलद, जलधि, रत्नाकर आदि शब्द योगरूढ़ हैं जो योग-रूढ़ अर्थ देते हैं और शक्ति को 'योगरूढ़ि' कहा जाता है क्योंकि यौगिक अर्थ रहते हुए भी इन शब्दों से रूढ़ अर्थ ही लिया जाता है। योगशक्ति आच्छादित हो जाती है, रूढ़ि प्रधान होकर, विशिष्ट अर्थ ही देती है, फलतः पङ्क से जनित घोंघा, सीपी आदि को 'पङ्कज' नहीं कहा जाता, कमल को ही कहा जाता है।

यौगिकरूढ़ि-शक्ति : यौगिक और रूढ़ दोनों ही अर्थों को यथावसर देने वाला शब्द यौगिकरूढ़ कहा जाता है और उसकी शक्ति 'यौगिकरूढ़ि' होती है। 'गोपाल' कृष्ण के लिए रूढ़ है परन्तु गाय पालने वाले किसी के लिए भी यौगिक रूप में आ सकता है। 'भीम' शब्द भयानक अर्थ में यौगिक है, परन्तु पाण्डव-विशेष के अर्थ में रूढ़ है।

अभिधा-नियन्त्रण

ऊपर चार प्रकार की शक्तियों के अनुसार चार प्रकार के शब्द देखे गये। इनमें यौगिक शब्दों की अभिधा को लेकर कोई सन्देह नहीं होता। योगरूढ़ि में रूढ़ि-शक्ति योगशक्ति को नियन्त्रित कर देती है—'रूढ़िर्योगापहारिणी' का सिद्धान्त है (रूढ़ि योग का अपहरण करती है)। परन्तु रूढ़ शब्द कभी-कभी अनेकार्थक ही रहते हैं। उनमें कौन अर्थ कहाँ लिया जाय, यह सन्देह खड़ा होता है। इसका निर्धारक प्रसङ्ग होता है। यह प्रसङ्ग अनेक प्रकार से बनता है जिससे अभिधा नियन्त्रित हो जाती है और एक प्रसङ्ग में एक ही अर्थ लिया जाता है। ऐसे नियन्त्रणकारी तथ्यों को 'अभिधानियामक' कहा जाता है। भर्तृहरि ने अभिधा-नियामकों का परिगणन इस प्रकार किया है :

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृति हेतवः॥ —'वाक्यपदीय', 2/317-18, 'काव्यप्रकाश' 2/19.

अर्थात् संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ (प्रयोजन), प्रकरण, लिङ्ग (चिह्न), अन्य-शब्द-सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति (स्त्रीलिङ्ग-पुंलिङ्ग-नपुंसक), स्वर (तथा चेष्टा) ऐसे तत्त्व हैं जो शब्दार्थ-संशय होने पर विशेष अर्थ का ज्ञान कराते हैं।

संयोग : हरि शब्द विष्णु, सूर्य, वानर, सिंह, इन्द्र आदि अनेक अर्थों में रूढ़ है, परन्तु 'शङ्खचक्रसहित हरि' कहने पर अभिधा, विष्णु के अर्थ में नियमित हो जाती है। इसी प्रकार 'वज्रधारी हरि' कहने पर इन्द्र का अर्थ ही लिया जायगा। 'मुरलीधर गोपाल' कहें तो गोपाल का अर्थ कृष्ण ही होगा क्योंकि उन्हीं से मुरली का संयोग प्रसिद्ध है।

वियोग : जिनसे संयोग प्रचलित होता है उन्हीं से वियोग कहा जाता है अत: 'शङ्खचक्ररहित हरि', 'वज्रहीन हरि' या 'मुरलीरहित गोपाल' कहने पर क्रमश: विष्णु, इन्द्र और कृष्ण अर्थ होंगे।

साहचर्य : कभी-कभी दो व्यक्तियों के साथ-साथ रहने की प्रसिद्धि होती है, तब यह सहचार ही अभिधा का नियामक बनता है। 'राम-लक्ष्मण' कहने पर दोनों दशरथ-पुत्र लिए जाएंगे, परशुराम और दुर्योधनपुत्र नहीं क्योंकि उन्हीं का साहचर्य प्रसिद्ध है। इसी प्रकार 'राधा-माधव' कहें तो राधा के साथ माधव कृष्ण ही होंगे, वैशाखमास नहीं और राधा वृषभानुपुत्री ही ली जाएंगी, कर्ण की माता नहीं।

विरोध : 'राम-रावण' कहने पर 'राम' से दशरथपुत्र का ही ग्रहण होगा क्योंकि रावण से उन्हीं का विरोध प्रसिद्ध है। 'भीम-दु:शासन' कहें तो पाण्डुपुत्र भीम और धृतराष्ट्रपुत्र दु:शासन का ग्रहण होगा क्योंकि उन्हीं का विरोध विदित है।

अर्थ या प्रयोजन : 'मुक्तिदाता घनश्याम' कहने पर 'घनश्याम' से कृष्ण अर्थ ही लेंगे, बादल नहीं क्योंकि मुक्ति का प्रयोजन कृष्ण से ही सिद्ध होता है।

प्रकरण : अयोध्याकाण्ड में 'भरत' से दशरथपुत्र का ही अर्थ लिया जाता है, ऋषभपुत्र या शकुन्तलापुत्र का नहीं। प्रकरण ही अभिधा का नियामक है। 'मोहन ने पाली संभाल ली' कहें तो प्रकरण से ही पाली भाषा या खेल की पाली का अर्थ लिया जायगा।

लिङ्ग (चिह्न) : 'कुपित काम' कहें तो काम का इच्छा अर्थ न होकर 'मदन' अर्थ ही होगा क्योंकि कोप उसी का सूचक है।

अन्य-शब्द-सन्निधि : 'यदुवंशी गोपाल' में यदु शब्द की सन्निधि से गोपाल को कृष्ण अर्थ में लिया जाता है।

सामर्थ्य : 'वज्र-कपाट' कहने पर लोह-विशेष अर्थ में ही 'वज्र' नियन्त्रित होता है क्योंकि उसी में कपाटरचना का सामर्थ्य है। अत: हीरा या इन्द्रायुध अर्थ निरस्त हो जाते हैं।

औचित्य : भोजन के समय 'सैन्धव' लाने को कहा जाय तो नमक (सेंधा) का ही औचित्य है और सवारी के समय सिन्धुदेश के घोड़े का औचित्य है। यहाँ औचित्य देखकर अभिधा नियन्त्रित होती है।

देश : 'मध्यप्रदेश में कैलास' कहने पर देश नियामक है, इससे कैलासचन्द्र जोशी या किसी और प्रसिद्ध व्यक्ति का ही अर्थ लेंगे, पर्वत-विशेष का नहीं।

काल : 'चित्रभानु' दिन में सूर्य और रात में अग्नि अर्थ देगा।
व्यक्ति (स्त्री-पुं-नपुंसक) : 'पुत्री' स्त्रीलिङ्ग हो तो सुता-पर्याय और पुंलिङ्ग हो तो 'पुत्रवान्' अर्थ देने वाला होगा।
स्वर : वेदों में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वर अर्थ में नियामक होते हैं।
चेष्टा : 'इतना बड़ा' कहने पर हाथ या हाथों की चेष्टा द्वारा बड़े-छोटे का अर्थ लिया जाता है।

ध्वनिकाव्य-विवेचन के संदर्भ में विशेष रूप से देखा जायगा कि नियन्त्रित अभिधा से व्यञ्जना होने पर काव्यात्मक प्रयोग बनते हैं। व्यञ्जना-भेद के विवेचन में भी इस तथ्य पर यथापेक्ष प्रकाश डाला जायगा। पीछे भी व्यञ्जना के निरूपण में यत्किंचित् देखा जा चुका है। ऐसे अवसरों पर अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना होती है।

लक्षणा के भेद

लक्षणा के विभाग कई प्रकार से किये जाते हैं। यहां काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास के आधार पर विविध वर्गभेद दिये जा रहे हैं :

(क) लक्षणा के तृतीय बीज (रूढ़ि अथवा प्रयोजन) को लेकर रूढ़ा और प्रयोजनवती—ये दो लक्षणा-भेद बनते हैं। इन्हें क्रमशः अव्यङ्ग्या और सव्यङ्ग्या भी कहा जाता है क्योंकि रूढ़ा व्यङ्ग्यरहित लक्षणा है जबकि प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन व्यङ्ग्य रहता है। अव्यङ्ग्या रूढ़ा का विवेचन काव्य में अनावश्यक है, अतः सव्यङ्ग्या प्रयोजनवती को ही विचारणीय बनाया जा रहा है। प्रयोजनवती लक्षणा में व्यङ्ग्य कभी अगूढ़ रहता है और कभी गूढ़ होकर सहृदयों को आनन्द देता है।

अगूढ़व्यङ्ग्या : कभी-कभी प्रयोजनवती लक्षणा का प्रयोजन वाच्य के समान ही स्पष्ट रहता है, वहाँ व्यङ्ग्य के अगूढ़ रहने से 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' की व्यवस्था है। किसी कार्य की पूर्णता को 'फल' कहा जाता है तो लक्ष्यार्थ 'पूर्ति' है जिस से कार्य-सम्पादन की कुशलता का प्रयोजन व्यङ्ग्य है जो अगूढ़ है।

गूढ़व्यङ्ग्या : यह काव्योपयोगी प्रयोजनवती लक्षणा है जिसका प्रयोजनरूप व्यङ्ग्य सहृदयों को ही ज्ञात होता है, अतः गूढ़ कहा जाता है :

कपट कलेवर कलिमल भाँड़े। (मानस)

यहाँ 'मल' का लक्ष्यार्थ 'पाप' है और 'भाण्ड' से आधार का लक्ष्य लिया जाता है जिससे प्रयोजन व्यङ्ग्य है 'मलपात्र के समान अत्यंत जुगुप्सित आचरण करने वाला घृणास्पद व्यक्तित्व' और यह गूढ़ है।

(ख) द्वितीय लक्षणाबीज मुख्यार्थयोग है। इसके आधार पर लक्षणा के दो विभाग बनते हैं : गौणी और शुद्धा।

गौणी लक्षणा : मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का सादृश्य सम्बन्ध हो तो गौणी लक्षणा होती है। सादृश्य गुणों के आधार पर बनता है अतएव गौणी नाम पड़ा है। यहाँ मुख्य और लक्ष्य अर्थों में गुण की मध्यस्थता रहती है। किसी मनुष्य को सिंह कहा जाय तो वीरता गुण से सादृश्य बनता है, अतः गौणी लक्षणा है। वीरता का अतिशय व्यङ्ग्य है और वही प्रयोजन है। इसी लक्षणा को उपचार कहते हैं।

शुद्धा लक्षणा : सादृश्य से भिन्न सम्बन्ध वाली लक्षणा शुद्धा होती है। जैसे 'गङ्गा पर घर' में गङ्गा से तट लक्ष्यार्थ लिया जाता है। दोनों में सामीप्य सम्बन्ध है जिसमें गुण की मध्यस्थता नहीं है।

(ग) आरोप और अध्यावसान के आधार पर लक्षणा के अन्य दो भेद बनते हैं : सारोपा और साध्यवसाना।

सारोपा लक्षणा : जब मुख्यार्थ (विषयी) और लक्ष्यार्थ (विषय) दोनों का ग्रहण हो तो सारोपा लक्षणा होती है। जैसे : यह मनुष्य सिंह है। यहाँ सिंह विषयी है और वीर पुरुष विषय है, दोनों का ग्रहण है अतः आरोप हुआ जो रूपक अलंकार में होता है। इसी आरोप के कारण लक्षणा सारोपा कही जाती है।

साध्यवसाना लक्षणा : विषयी का ही वाक्य में ग्रहण हो, विषय उसी में लीन जान पड़े तो इस स्थिति को 'अध्यवसान' कहा जाता है। इसी को विषयी द्वारा विषय का निगरण (निगलना) भी कहते हैं। अध्यवसानयुक्त लक्षणा साध्यवसाना होती है। जैसे, वीर पुरुष को देखकर कहा जाय—सिंह आ रहा है, तो 'सिंह' विषयी में ही 'वीर पुरुष' विषय लीन कर लिया गया है, अतः साध्यवसाना लक्षणा है। यह अतिशयोक्ति अलंकार का आधार है।

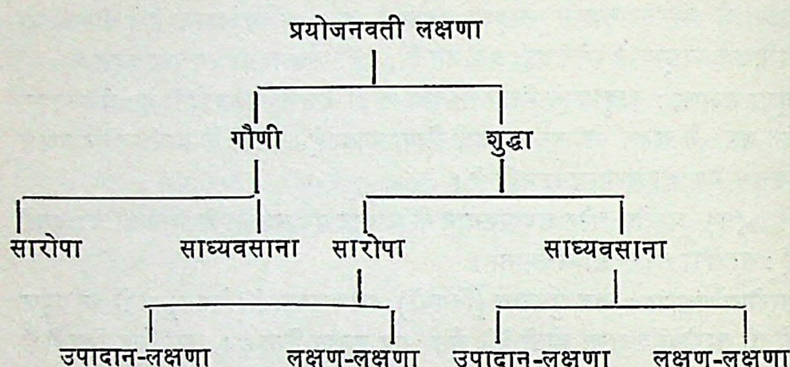
(घ) लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ के ग्रहण और त्याग को लेकर अन्य लक्षणावर्ग बनता है : उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा।

उपादान लक्षणा : जब लक्ष्यार्थ की सीमा बड़ी होती है और वाच्यार्थ का भी उसमें उपादान (ग्रहण) हो जाता है तब उपादान लक्षणा होती है। जैसे : 'कोई गांधी ही भारत का उद्धार कर सकता है' कहने पर मोहनदास करमचन्द गांधी वाच्यार्थ है, उनके समान दृढ़-निश्चय पुरुष लक्ष्यार्थ है। लक्ष्यार्थ में अन्यों के साथ वाच्यार्थ (महात्मा गांधी) का भी ग्रहण है। अतिशय कर्मण्यता, निष्ठा, त्याग-परायणता, उत्सर्ग आदि प्रयोजन व्यङ्ग्य है। इस लक्षणा को 'अजहत्स्वार्था' और 'अजहल्लक्षणा' भी कहते हैं।

लक्षण लक्षणा : लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ का पूर्ण त्याग होने पर लक्षण लक्षणा होती है। इसे 'जहत्स्वार्था' और 'जहल्लक्षणा' भी कहते हैं। 'गङ्गा पर घर' कहने पर प्रवाहरूप वाच्यार्थ का घर से कोई सम्बन्ध नहीं बनता, अतः उसका परित्याग है, केवल लक्ष्यार्थ 'तट' ही प्रसंग में ग्राह्य है।

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में अंतिम दो भेद शुद्धा लक्षणा में ही मान्य

किये हैं। रूढ़ा लक्षणा को काव्योपयोगी न मान कर छोड़ देने पर निम्नलिखित वृक्ष बनता है :



इस प्रकार छह मुख्य लक्षणा-भेद हैं जिनके काव्य में यथापेक्ष प्रयोग देखे जाते हैं।

लक्षणा के काव्यात्मक प्रयोग

गौणी सारोपा लक्षणा

राम नाम सुन्दर करतारी।
संसय विहग उड़ाव निहारी।। (मानस)

यहाँ राम-नाम और संशय विषय (वर्ण्य) हैं, करतारी और विहग विषयी हैं। दोनों का सादृश्य सम्बन्ध उड़ाने की क्रिया से बनता है अतः गौणी लक्षणा है। विषय और विषयी दोनों का वाक्य में प्रयोग है अतः सारोपा है। राम का नाम मात्र ही सभी संशयों को आत्यन्तिक और ऐकान्तिक रूप से निरस्त करने में समर्थ है, यह गूढ़ व्यङ्ग्य है।

गौणी साध्यवसाना लक्षणा

देव देखि तव बालक दोऊ।
अब न आँखि तर आवत कोऊ।। (मानस)

यहाँ आँख से दर्शन, श्रवण, स्मृति आदि के सभी साधनों का लक्ष्यार्थ है जिनका समावेश 'आँख' में ही किया गया है—विषयों का पूर्ण वर्णन नहीं किया गया है, अतः साध्यवसाना है। राम के उदात्त व्यक्तित्व की असीमता और दर्शन-शक्तियों की संकुचित सीमा व्यङ्ग्य प्रयोजन है।

शुद्धा सारोपा उपादान-लक्षणा

जो आकर्षण बन हँसती थी,
रति थी अनादिवासना वही। (कामायनी)

यहाँ आकर्षण-कारण रति को आकर्षणरूप कहने से तथा विषय 'रति' और विषयी 'आकर्षण' दोनों के ग्रहण से सारोपा है तथा आकर्षण-कारण में आकर्षण-रूप वाच्यार्थ भी सम्मिलित है अतः उपादान लक्षणा है।

शुद्धा साध्यवसाना उपादान-लक्षणा

हरिहउँ सकल भूमि गरुआई। (मानस)

गुरुता के कारणभूत पापियों के लिए 'गरुआई' शब्द का प्रयोग है, विषय का ग्रहण न होने से साध्यवसाना है और पापियों में पाप की गुरुता रहती है अतः उपादान-लक्षणा है। पाप के लिए गुरुता का प्रयोग होने से लक्षण-लक्षणा भी है, परन्तु तब गौणी होगी।

शुद्धा सारोपा लक्षण-लक्षणा

आरम्भिक वात्या उद्गम मैं,
अब प्रगति बन रहा संसृति का। (कामायनी)

यहाँ 'मैं' विषय का ग्रहण है, अतः सारोपा है; प्रगतिकरण को 'प्रगति' कहा गया है, अतः लक्षण-लक्षणा है : प्रगतिकरण में प्रगति नहीं होती, संसार में होती है।

शुद्धा साध्यवसाना लक्षण-लक्षणा

प्रत्येक नाश विश्लेषण भी
संश्लिष्ट हुए बन सृष्टि रही। (कामायनी)

यहाँ नश्वर के लिए 'नाश' विषयी का प्रयोग है, विषय का ग्रहण न होने से साध्यवसाना और लक्ष्यार्थ में वाच्य-समावेश न होने से लक्षण-लक्षणा है।

व्यञ्जना के भेद

देखा गया कि प्रयोजनवती लक्षणा की परिणति व्यञ्जना में होती है क्योंकि लक्षणा का प्रयोजन व्यङ्ग्य रहता है। इसे लक्षणामूला व्यञ्जना नाम दिया जाता है। अभिधा से सीधे भी व्यञ्जना होती है। ऐसा या तो तब होता है जब अभिधा एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है और दूसरा अर्थ भी घण्टारणन के अनुरणन के समान प्रतिभासित होता है, अथवा तब होता है जब अर्थयोजना ही इस प्रकार की होती है कि वाच्यार्थ से अन्य अर्थ भी निकलता है। इन दोनों को

अभिधामूला व्यञ्जना कहा जाता है जिनमें प्रथम शब्दशक्तिमूला और दूसरी अर्थशक्तिमूला नाम पाती है। इनके अन्य भेद वस्तुव्यञ्जना, अलंकारव्यञ्जना और रसादिव्यञ्जना हैं जिन पर प्रथम अध्याय में कुछ प्रकाश डाला जा चुका है। व्यञ्जना के एक व्यङ्ग्य अर्थ से दूसरे की भी व्यञ्जना हो सकती है और तब उसे व्यञ्जनामूला कहेंगे।

लक्षणामूला व्यञ्जना

लक्षणामूला व्यञ्जना को 'अविवक्षितवाच्य व्यञ्जना' भी कहा जाता है क्योंकि इसमें वाच्यार्थ कथ्य नहीं होता। लक्षणा के दो भेद—उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा—ऊपर आ चुके हैं, तदनुसार क्रमशः 'अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य व्यञ्जना' और 'अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य व्यञ्जना' नाम दिये जाते हैं। उपादान-लक्षणा में वाच्य अर्थ रहता है पर अर्थान्तर में संक्रमण कर जाता है जबकि लक्षण-लक्षणा में वाच्यार्थ पूर्णतः तिरस्कृत कर दिया जाता है।

1. अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य व्यञ्जना (उपादान-लक्षणामूला)

जौं हौं राम त कुलसहित कहिहि दसाननु आइ। (मानस)

यहाँ 'राम' का वाच्यार्थ 'दशरथ-पुत्र' यथावत् है, पर राम स्वयं कह रहे हैं अतः मुख्यार्थबाध होता है, फलतः प्रयोजनवश तत्सम्बन्धी 'प्रतिज्ञावीर राम' इतना अर्थ आता है। व्यङ्ग्य है कि राम शत्रुविनाश में अतिशय निपुण, दृढ़निश्चय तथा अत्यन्त पराक्रम से सम्पन्न हैं।

2. अत्यन्त तिरस्कृत-वाच्य व्यञ्जना (लक्षण-लक्षणामूला)

चलहिं कुपंथ वेदभगु छाँड़े। (मानस)

यहाँ 'कुपन्थ' का ऊबड़-खाबड़ मार्ग वाच्य है, परन्तु उससे संगति नहीं मिलती, अतः वाच्यार्थ का अत्यन्त तिरस्कार करके 'कदाचार' का लक्ष्यार्थ ही लिया जाता है। व्यङ्ग्य प्रयोजन 'अतिशय गर्हित पापाचरण' है।

अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना

अनेकार्थक रूढ़, योगरूढ़ तथा यौगिकरूढ़ शब्दों के अभिधानियामक बताये जा चुके हैं। प्रसंग में अभिधा एक ही अर्थ देती है, परन्तु कभी-कभी दूसरा अर्थ भासित हो चलता है जो व्यञ्जना से आता है। यह व्यङ्ग्य कभी वस्तुरूप और कभी अलंकाररूप होता है।

1. सिव बिरोध ध्रुव भरनु हमारा। (मानस)

यहाँ प्रसंग में 'शिव' उमापति के ही अर्थ में नियन्त्रित है, परन्तु व्यञ्जना से

'कल्याण' अर्थ भी आता है, फलतः व्यङ्ग्य अर्थ निकलता है कि कल्याण का विरोध करने वाला परम अकल्याण (मृत्यु) का भागी होता ही है। यह वस्तुरूप व्यङ्ग्य है।

2. महूँ सनेह सँकोच बस सनमुख कहे न बैन। (मानस)
'स्नेह' प्रेम अर्थ में प्रसंगतः नियन्त्रित है, परन्तु 'घृतादि' अर्थ व्यङ्ग्य है अतः उपमा अलंकार बनता है—जिस प्रकार घृत मुँह में हो तो मुख संकुचित हो जाता है और सामने बात करने को सिर नहीं उठ पाता, उसी प्रकार भरत प्रेम से संकुचित होने से राम के समक्ष बोल नहीं पाये।

3. चली बिचारि बिबुध मति पोची। (मानस)
यहाँ 'विबुध' शब्द योगरूढ़ है। योगशक्ति से 'विशेष ज्ञानी' का अर्थ आता है और रूढ़ि से 'देव' अर्थ निकलता है। रूढ़ि से योगशक्ति नियन्त्रित हो जाती है, अतः प्रसंगप्राप्त अर्थ 'देव' है, परन्तु व्यञ्जना से यौगिक अर्थ भी आ जाता है जिससे वस्तु व्यङ्ग्य निकलता है : स्वार्थवश ज्ञानियों की बुद्धि भी नीच हो जाती है।

4. है भीड़ लग रही दर्शन की। (कामायनी)
यहाँ 'दर्शन' योगरूढ़ है। दर्शनशास्त्र के रूढ़ अर्थ से 'देखना' यौगिक अर्थ नियन्त्रित है जो व्यञ्जना से आता है अतः उपमालंकार व्यङ्ग्य है : जिस प्रकार किसी मनोरञ्जक दृश्य के देखने की भीड़ लगा करती है, उसी प्रकार परमतत्त्व के विचारार्थ दर्शनशास्त्रों की भीड़ पाई जाती है।

5. तजि श्रुति-पंथ बाम-पथ चलहीं। (मानस)
यहाँ 'वामपथ' यौगिक रूढ़ है जो कुटिल मार्ग और तान्त्रिक वाममार्ग दोनों अर्थ देता है, पहला यौगिक है, दूसरा रूढ़। प्रसंगवश रूढ़ अर्थ लेने पर यौगिक अर्थ व्यञ्जना से आता है और वस्तुव्यङ्ग्य निकलता है : लोग सीधा प्रसिद्ध मार्ग छोड़ कर कुटिल ऊबड़-खाबड़ मार्ग अपनाते हैं और दुर्गति के भागी बनते हैं।

6. जरहिं विषमजर लेहिं उसासा। (मानस)
'विषमज्वर' का यौगिक अर्थ 'विविध सन्ताप' है जो प्रसंगतः 'विषमज्वर' नामक रोगरूप रूढ़ अर्थ से नियन्त्रित रहता है, फिर भी व्यञ्जना से यौगिक अर्थ भी आ जाता है और उससे उपमा अलंकार की व्यञ्जना बनती है : जिस प्रकार विषमज्वर रोग में रोगी जलन से पीड़ित रहता और ऊँची उलटी साँसें लेता है, उसी प्रकार राम के वियोग के दुर्दम सन्ताप से पीड़ित अयोध्यावासी लोग सन्तप्त थे और आहें भर रहे थे।

अभिधामूला आर्थी व्यञ्जना

जब वाच्य अर्थ व्यञ्जक होकर स्वभिन्न अर्थ की व्यञ्जना करता है तब अभिधामूला आर्थी व्यञ्जना कही जाती है। इसमें कभी रस, भाव, रसाभास, भावाभास,

भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता की व्यन्जना होती है और तब इस वर्ग को 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' नाम दिया जाता है जिसे एक ही भेद मान कर यहाँ देखा जायगा, शेष विचार आगामी अध्याय में होगा। दूसरे बड़े वर्ग को 'लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' कहा जाता है जिसके स्थूल रूप से चार विभाग हो जाते हैं : वस्तु से वस्तु की व्यन्जना, वस्तु से अलंकार की व्यन्जना, अलंकार से वस्तु की व्यन्जना और अलंकार से अलंकार की व्यन्जना। इन्हें केवल पाँच वर्ग मानकर यहाँ देखा जा रहा है।

1. रसादि-व्यन्जना (असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य)

कह रावनु सुनु सुमुखि सयानी।
मन्दोदरी आदि सब रानी ॥
तव अनुचरीं करउँ पनु मोरा।
एक बार विलोकु मम ओरा ॥ (मानस)

यहाँ रावण में सीता के प्रति अनुचित रति है अतः शृङ्गार रसाभास की व्यन्जना है।

2. वस्तु से वस्तु-व्यन्जना (लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य)

बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू।
राजकुमार देखि किन लेहू ॥ (मानस)

यहाँ वस्तुरूप वाच्यार्थ से वस्तु व्यङ्ग्य है—गौरी का ध्यान न करके तुम राजकुमार का ही ध्यान कर रही हो।

3. वस्तु से अलंकार-व्यन्जना (लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य)

सनमुख बैठि कहइ कटु बानी। (मानस)

लोग पीठ-पीछे कटु बात कहते हैं, कैकेयी सामने कह रही थी, अतः व्यतिरेक अलंकार व्यङ्ग्य है।

4. अलंकार से वस्तु-व्यन्जना (लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य)

कुपथु माग रुज व्याकुल रोगी।
बैदु न देइ सुनहु मुनि जोगी ॥ (मानस)

यहाँ वाच्य अलंकार दृष्टान्त है जिससे वस्तु की व्यन्जना है : भगवान् नारद को सुन्दरता नहीं देंगे।

5. **अलंकार से अलंकार-व्यञ्जना (लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य)**

बंदउँ गुरु पद पदुम परागा।
सुरुचि सुवास सरस अनुरागा।।
अमिय-मूरिमय चूरन चारू।
समन सकल भव रुज परिवारू।। (मानस)

रूपक अलंकार वाच्य है जिससे व्यतिरेक अलंकार की व्यञ्जना है—अन्य चूर्ण किसी एकाध रोग को ही दूर करते हैं जबकि गुरुचरणधूलि से सम्पूर्ण भवरोगों का शमन हो जाता है।

अभिधामूला शब्दार्थोभयजनित व्यञ्जना

इस वर्ग में केवल अलंकार-व्यञ्जना होती है।

औरैं भाँति कुंजन मैं गुंजरत भौंर भीर।
औरैं डौंर झौंरन मैं बौरन के ब्वै गए।
कहै पदमाकर सु औरैं भाँति गलियान
छलिया छबीले छैल औरैं छबि छ्वै गए।।
औरैं भाँति विहग समाज मैं अवाज होत
ऐसे रितुराज के न आज दिन द्वै गए।
औरैं रस औरैं राग औरैं रीति औरैं रंग
औरैं तन औरैं मन और बन ह्वै गए।।

यहाँ ऋतुराज में 'राज' शब्द से राजा होने की शाब्दी व्यञ्जना होती है जबकि शेष छन्द से आर्थी व्यञ्जना होने से उपमा अलंकार बनता है : जिस प्रकार नया राजा आने से राष्ट्र में सब कहीं परिवर्तन हो जाता है, उसी प्रकार वसन्त के आगमन से सर्वत्र बदलाव देखा जाता है।

व्यञ्जनामूला व्यञ्जना

जिस प्रकार अभिधा और लक्षणा के बाद व्यञ्जना होती है, यद्यपि सर्वत्र नहीं, उसी प्रकार कभी व्यञ्जना से व्यञ्जना होती है। अर्थात् एक व्यङ्ग्य अर्थ दूसरे व्यङ्ग्य का व्यञ्जक हो सकता है। ऐसे प्रयोग अतिनिपुण कवि ही कर पाते हैं। यहाँ भी आर्थी व्यञ्जना के सभी विभाग लागू होते हैं।

1. **वस्तुव्यङ्ग्य से रसादि-व्यञ्जना**

ज्यों ज्यों पट झटकति हठति नटति नचावति नैन।
त्यों त्यों अधिक उदारहू फगुआ देत बनै न।। (बिहारी)

यहाँ नायक की इच्छा वस्तु व्यङ्ग्य है कि नायिका देर तक वैसा ही करे। इससे शृङ्गार रसाभास की स्पष्ट व्यञ्जना होती है।

2. वस्तुव्यङ्ग्य से वस्तु-व्यञ्जना

तनय मातु पितु तोषनिहारा।
दुरलभ जननि सकल संसारा।। (मानस)

प्रथम वस्तु व्यङ्ग्य है कि राम दुर्लभ पुत्र हैं, उससे व्यञ्जना है कि राम का चरित्र लोकोत्तर तथा संसार से परे है।

3. वस्तुव्यङ्ग्य से अलंकार व्यञ्जना

सीय चकित चित रामहि चाहा।
भए मोहबस सब नरनाहा।। (मानस)

वस्तु व्यङ्ग्य है कि सीता ने राम को छोड़ और किसी को देखा तक नहीं, फिर भी अकारण सभी राजा मोहवश हो गये, अतः विभावना अलंकार की व्यञ्जना है।

4. अलंकारव्यङ्ग्य से अलंकार-व्यञ्जना

सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू।
लोक लाहु परलोक निबाहू।। (मानस)

अतिशयोक्ति अलंकार व्यङ्ग्य है कि रामनाम के स्मरणमात्र से सुख, लोकलाभ और परलोक निर्वाह होते हैं। इससे पुनः व्यतिरेक अलंकार की व्यञ्जना है कि अन्य स्मरणीय विषयों से लोक-परलोक-सुख नहीं बनते, अतः रामनाम सबसे बढ़कर हैं।

5. अलंकारव्यङ्ग्य से वस्तु-व्यञ्जना

आदिहु तें सब आपनि करनी।
कुटिल कठोर मुदित मन बरनी।। (मानस)

कुटिलता और कठोरता के कारण ही कैकेयी सहर्ष अपनी करतूत का वर्णन कर सकी—काव्यलिङ्ग अलंकार व्यङ्ग्य है और उससे वस्तुव्यञ्जना द्वारा कैकेयी की निर्दयता, निर्लज्जता, स्वार्थ-परायणता आदि अर्थ मिलते हैं।

निष्कर्ष

ऊपर व्यङ्ग्यार्थ से व्यञ्जना का जो विवरण दिया गया उसमें द्वितीय व्यङ्ग्य गौण रहता और प्रायः अलंकाररूप में उपयोगी रहता है जबकि प्रथम व्यङ्ग्य

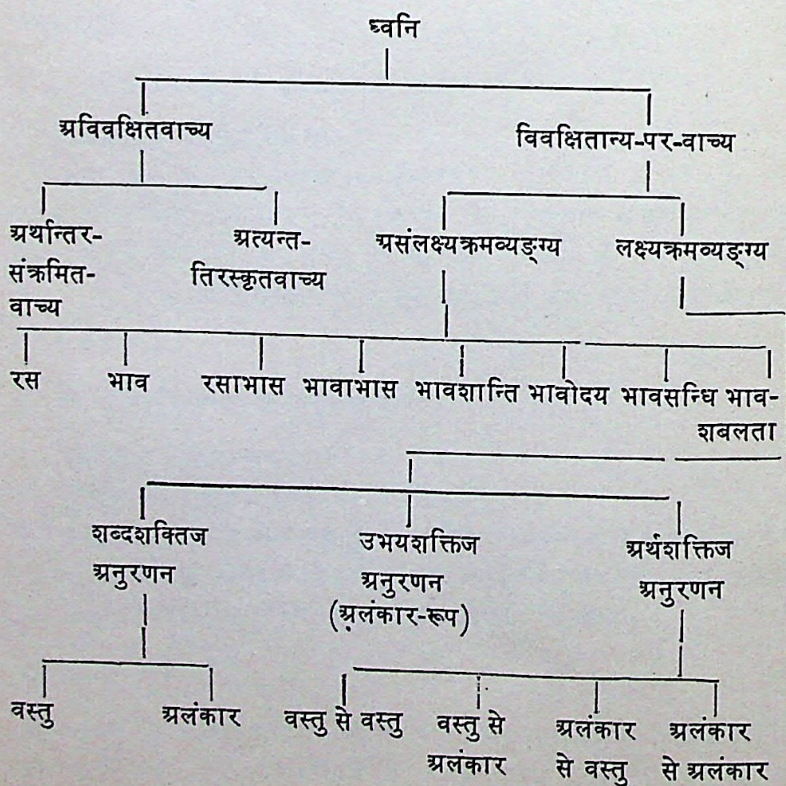
ही काव्यस्वरूप का निर्धारक रहता है। अन्य व्यञ्जनाओं वाले व्यङ्ग्यार्थ जब प्रधानता लेते हैं तभी ध्वनिकाव्य बनता है, अन्यथा गुणीभूतव्यङ्ग्य या चित्रकाव्य की व्यवस्था है जिस पर यथापेक्ष विचार हो चुका है। आगामी अध्याय में ध्वनि-काव्य की विविधता विवेचनीय है।

सन्दर्भ

1. 'साक्षात् संकेतितं योर्थमाभिधत्ते स वाचकः ।
   स मुख्योर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोस्याभिधोच्यते ।।'—काव्यप्रकाश, 2/78.
2. 'मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोथ प्रयोजनात् ।
   अन्योर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ।।'—वही, 2/9.
3. दे० वही, द्वितीय उल्लास—'व्यञ्जनानिरूपण ।'

ध्वनि काव्य

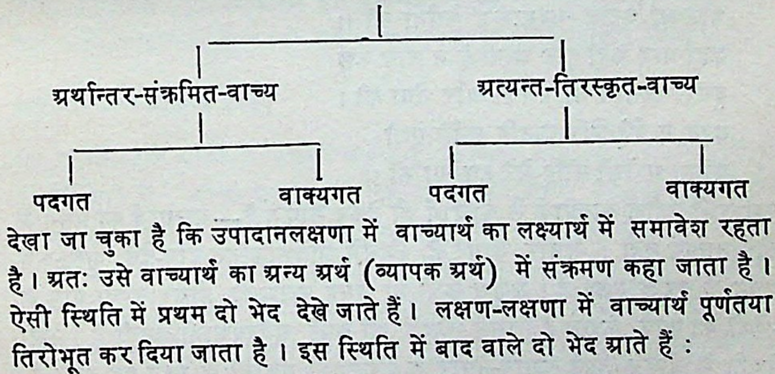
ध्वनि काव्य में शब्द और वाच्यार्थ गौण होकर अन्य व्यङ्ग्य अर्थ को देकर चरितार्थ होते हैं और वही व्यङ्ग्य अर्थ काव्य का सर्वस्व होता है जिस पर उसकी महिमा प्रतिष्ठित होती है।[1] विगत अध्याय में व्यञ्जनाओं की विविधता पर प्रकाश डाला जा चुका है, तदनुसार व्यङ्ग्य अर्थ विविध होते हैं। उसी के आधार पर ध्वनिकाव्य के भेद किये जाते हैं :



इन भेदों तथा उनके उपभेदों का सोदाहरण विवेचन अपेक्षित है। अध्येता को यह ध्यान में रखना चाहिए कि ध्वनिसिद्धान्त का समस्त चिन्तन भाषाशास्त्र की भूमि पर प्रतिष्ठा पाता है। अत: शब्दव्यापारों का यथावत् ज्ञान लेकर ही इसे समझा जा सकता है।

अविवक्षित-वाच्य ध्वनि काव्य

'ध्वनि' कहने से स्पष्ट है कि इस काव्य में व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता होनी चाहिए। 'अविवक्षित-वाच्य' नाम से तात्पर्य है कि इसमें वाच्यार्थ का कथन अभीष्ट नहीं होता, अर्थात् प्रसंग में वाच्यार्थ अनुपयुक्त रहता है, अत: लक्ष्यार्थ लिया जाता है और फिर लक्षणा का व्यङ्ग्य प्रयोजन ही प्रधान रहता है। इस प्रकार अर्थ की तीन कक्ष्याएँ बनती हैं : वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य। यह एक प्रकार का प्रतीक-काव्य है जिसमें 'साध्यवसाना' लक्षणा का उपयोग होता है। अत: इसके प्रयोग पदों या वाक्यों में ही मिलते हैं क्योंकि लक्षणा या तो एक ही पद में होती है या अधिक से अधिक समूचे वाक्य में देखी जाती है। इस प्रकार उक्त भेदों में पदगत और वाक्यगत भेद जोड़ कर इसके चार भेद बनेंगे :



देखा जा चुका है कि उपादानलक्षणा में वाच्यार्थ का लक्ष्यार्थ में समावेश रहता है। अत: उसे वाच्यार्थ का अन्य अर्थ (व्यापक अर्थ) में संक्रमण कहा जाता है। ऐसी स्थिति में प्रथम दो भेद देखे जाते हैं। लक्षण-लक्षणा में वाच्यार्थ पूर्णतया तिरोभूत कर दिया जाता है। इस स्थिति में बाद वाले दो भेद आते हैं :

पदगत अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य

इस पर व्यञ्जनानिरूपण में विचार हो चुका है।

वाक्यगत अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य

जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनै दससीसा।
आपन उठि धावै रहै न पावै धरि सब घालै खीसा।
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धरम सुनिअ नहिं काना।
तेहि बहु बिधि त्रासै देस निकासै जो कह बेद पुराना।। (मानस)

यहाँ जप-योग आदि के अतिरिक्त समस्त धर्माचरणों को लक्ष्यार्थ में लेना अभीष्ट है, सुनना तो वाच्य है जबकि देखना लक्ष्य है, अपने-आप दौड़ पड़ने के अतिरिक्त उसका सैन्य-संचालन भी लक्ष्य है, धर्म के सुने न जाने से लक्षित है कि धर्माचरण देखा और किया भी न जाता था, त्रासने से अन्य दण्ड-विधाएँ भी लक्ष्य हैं और वेद-पुराण के साथ समस्त धार्मिक साहित्य लक्ष्यार्थ के रूप में ग्राह्य है। सभी लक्ष्यार्थों से सम्पन्न सम्पूर्ण वाक्यार्थ द्वारा प्रयोजन की व्यञ्जना है: रावण का अतिशय कदाचार, धर्म पर अधर्म की पूर्ण विजय आदि। यह व्यङ्ग्य ही कवि का प्रतिपाद्य है और प्रधानीभूत काव्यार्थ-वस्तु है।

पदगत अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य

इसे पीछे देखा जा चुका है।

वाक्यगत अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य

प्रलै के पयोनिधि लौं लहरें उठन लागीं
लहरा लग्यौ त्यौं होन पौन पुरवैया कौ।
भीर भरी झाँझरी विलोकि मझधार परी।
धीर ना धरात 'पदमाकर' खेवैया कौ॥
कहाँ वार कहाँ पार जानी है न जात कछू
दूसरौ दिखात ना रखैया और नैया कौ।
बहन न पैहै घेरि घाटहि लगैहै ऐसौ
अमित भरोसौ मोहि मेरे रघुरैया कौ॥

यहाँ सभी प्रतीक वाच्यार्थ से लक्ष्यार्थ ही देकर सार्थक हैं—वाच्यार्थ का प्रसंग में कोई तात्पर्य नहीं। संसार सागर है जिसमें अविद्याजनित राग-द्वेष, मृत्यु-भय आदि के तरङ्ग उठते हैं। अशुभ कर्मों का समूह फलमुखी होकर पुरवा वायु के झोंकों का कार्य करता है जिससे क्लेशों की वर्षा अवश्यंभावी लगती है। उसी स्थिति में जीवन-नौका संसार-सागर के संकटरूपी तूफानों के मध्य पड़ गयी है, नाव पर शुभाशुभ कर्मों की, असंख्य कलुषों और वासनाओं की भीड़ है और वह नाव तप-त्याग आदि से रहित होने के कारण विषयभोगों से जराग्रस्त भी है जिससे दुःखों का जल बाहर से आ-आकर नाव (जीवन) में भरता जा रहा है—जीवन डूब कर अन्त पाने वाला है। अब तो विवेक (केवट) भी काम नहीं करता। संसार (सागर) का आदि और अन्त अज्ञात है, रक्षक नहीं दिखाई पड़ता जो संसार से मुक्त करे। फिर भी ईश्वर का आश्रय अविचल है, वह जीव को परम विश्राम की दशा (घाट) पर लायेगा ही। उक्त लक्ष्यार्थों से समन्वित समग्र

वाक्यार्थ से कवि की भक्ति और ईश्वर के प्रति अतिशयित निष्ठा व्यङ्ग्य है। वही काव्यार्थ है।

विवक्षितान्य-पर-वाच्य ध्वनि काव्य

यह अभिधामूला व्यञ्जना से आये हुये व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता में बनने वाला ध्वनि काव्य है जिसमें वाच्यार्थ विवक्षित (कथ्य) रहता है, फिर भी अन्य (व्यङ्ग्य) की प्रधानता (परता) रहती है—वाच्यार्थ व्यङ्ग्यार्थ-परायण होकर ही आता है, अत: वाच्य गौण ही रहता है। व्यञ्जना-विचार के अवसर पर देखा गया है कि यह कभी रसादि व्यङ्ग्य की प्रधानता में होता है और तब उसे 'असंलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य' काव्य कहते हैं परन्तु वस्तु या अलंकार व्यङ्ग्य की प्रधानता हो तो 'लक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य' होता है। इन्हीं दोनों वर्गों की व्याप्ति पदांश से लेकर प्रवन्ध तक देखी जाती है।

अविवक्षितवाच्य में वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थों की तीन कक्ष्याएँ क्रमश: स्पष्ट रहती हैं, परन्तु विवक्षितान्यपरवाच्य में सर्वत्र वैसा नहीं होता। इस वर्ग में वाच्य और व्यङ्ग्य की दो अर्थकोटियाँ होती हैं और उनका क्रम भी रहता है—पहले वाच्यार्थ आता है और तब व्यङ्ग्य का क्रम है, परन्तु क्रम के भली भाँति न लक्षित होने पर काव्य को 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' कहा जाता है जबकि क्रम स्पष्ट लक्षित होता हो तो उसे 'लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' नाम दिया जाता है।

असंलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य ध्वनि

यह रसादिध्वनि काव्य है जिसमें वाच्यार्थ व्यञ्जक होता है। व्यङ्ग्य रूप में रसादि आते हैं। वाच्य से व्यङ्ग्य तक पहुँचने में इतनी शीघ्रता होती है कि उनका क्रम होते हुए भी स्पष्ट नहीं होता, जैसे, कई पत्ते नीचे ऊपर रखकर सुई से छेदे जाते हैं तो प्रथम से दूसरे पत्र के छेदने में क्रम रहता हुआ भी लक्षित नहीं होता। जिस प्रकार आग सूखी लकड़ी को आग बना लेती है, यद्यपि लकड़ी की सत्ता रहती है, पर अलक्ष्य हो जाती है, उसी प्रकार यहाँ वाच्यार्थ व्यङ्ग्य से ओतप्रोत हो जाता है। सहृदय रसावेश में आ जाता है तो वाच्यार्थ तत्काल तिरोहित-सा हो जाता है और व्यङ्ग्य रसादि उसे आविष्ट कर लेते हैं। इसके आठ भेद हैं :

रसध्वनि

राति की जागी प्रभात उठी
अगिराति जँभाति लजाति लगी हिए। (पद्माकर)

यहाँ संभोग शृङ्गार की व्यञ्जना प्रधान है। आगामी अध्याय में इस पर विस्तार किया जायेगा।

रसाभास ध्वनि : स्थायी भाव के अनुचित होने पर रसाभास होता है। इसकी दो स्थितियाँ होती हैं। एक स्थिति में रसाभास रस न होकर भिन्न काव्य-बोध होता है, जैसे रावण का सीता के प्रति रतिभाव शृङ्गार से भिन्न बोध कराता है। दूसरी स्थिति वह है जहाँ रसबोध तो होता है परन्तु असामाजिकता आदि दोष का परिज्ञान होने पर प्रतीत होता है कि रसाभास है। सामान्य पर-कीया-शृङ्गार आदि में दूसरी कोटि का रसाभास है। छह रसों के रसाभास होते हैं जो निम्नलिखित हैं :

(क) शृङ्गार रसाभास

जप तप कछु न होइ तेहि काला।
हे विधि मिलइ कवन विधि वाला ।। (मानस)

यहाँ राजकुमारी के प्रति नारद का एकाङ्गी प्रेम (रति भाव) अनुचित है अतः उनकी छटपटाहट से रसाभास ही व्यक्त होता है। शृङ्गार रसाभास प्रायः हास्य-रस में परिणत हो जाता है।

(ख) हास्य रसाभास

कहेउ लखन मुनि सीलु तुम्हारा।
को नहिं जान विदित संसारा।।
माता-पितहि उरिंन भए नीकें।
गुर रिन रहा सोचु वड़ जी कें।।
सो जनु हमरेहि माथे काढ़ा।
दिन चलि गए ब्याज बड़ बाढ़ा।।
अब आनिअ व्यवहरिया बोली।
तुरत देउँ मैं थैली खोली ।। (मानस)

यहाँ परशुराम जैसे पूज्य के प्रति लक्ष्मण का हासभाव अनुचित है, अतः हास्य रसाभास है।

(ग) रौद्र रसाभास

मातु पितहि जनि सोच बस करसि महीप किसोर।
गर्भन्ह के अर्मक दलन परसु मोर अति घोर ।। (मानस)

यहाँ बालक लक्ष्मण के प्रति परशुराम का क्रोध अनुचित होने से रौद्र रसा-भास है।

(घ) वीर रसाभास

सुनहु सकल रजनीचर जूथा।
हमरे बैरी बिबुध बरूथा।।

ते सनमुख नहिं करहिं लराई।
देखि सबल रिपु जाहिं पराई।।
तेन्ह कर मरन एक बिधि होई।
कहउँ बुझाइ सुनहु अब सोई।।
द्विज भोजन मख होम सराधा।
सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा।। (मानस)

यहाँ सदाचार के विनाश हेतु रावण का उत्साह अनुचित है, अतः वीर रसाभास है।

(ङ) भयानक रसाभास

रावन आवत सुनेउ सकोहा।
देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा।। (मानस)

यहाँ देवों का भय अनुचित है अतः भयानक रसाभास है। देवों का युद्धविमुख होकर पलायन उचित नहीं कहा जा सकता।

(च) शान्त रसाभास

अब लगि मोहि न मिलेउ कोउ मैं न जनावउँ काहु।
लोकमान्यता अनल सम कर तप कानन दाहु।। (मानस)

यह कपट-मुनि का निर्वेद है जो मिथ्या है, अतः शान्त रसाभास की व्यञ्जना है।

हास्यरसाभास को छोड़कर शेष पाँच रसाभास हास्यरस की ही व्यञ्जना करते हैं।

भावध्वनि : ध्वनि-सिद्धान्त में भावध्वनि दो रूपों में मान्य है[2] : प्रथम वह है जहाँ स्त्री-पुरुष के अतिरिक्त छोटे-बड़े के मध्य रतिभाव होता है। यह भक्ति और वात्सल्य रूपों में देखा जा सकता है। जब बराबरी में रतिभाव देखा जाता है तब उसे 'सख्य' कहते हैं। इस प्रकार रति स्थायी भाव को लेकर तीन भावध्वनियों का एक वर्ग बनता है। दूसरा वर्ग 33 व्यभिचारी भावों का है जब वही प्रमुख होकर व्यक्त होता है।

(क 1) **भक्ति** : ईश्वर, राजा, गुरु और माता-पिता आदि बड़ों के प्रति रतिभाव की व्यञ्जना इस वर्ग में आती है :

सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी।
जो पितु-मातु चरन अनुरागी।। (मानस)

ज्येष्ठ भ्राता के प्रति रति भी इसी में समाविष्ट है जैसे भरत या लक्ष्मण का राम के प्रति प्रेम।

(क 2) **वात्सल्य** : पुत्र, शिष्य, भक्त, अनुज आदि लघुजनों के प्रति प्रेम इस वर्ग में आता है :

राम रूपु गुन सील सुभाऊ।
प्रमुदित होइ देखि सुनि राऊ।। (मानस)

(क 3) **सख्य** : मैत्री भाव में सख्य होता है :

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी।
तिन्हहि बिलोकत पातक भारी।
निज दुख गिरि सम रज करि जाना।
मित्रक दुख रज मेरु समाना।।
जिन्हकें असि मति सहज न आई।
ते सठ कत हठि करत मिताई।। (मानस)

(ख) भावध्वनि का प्रधान वर्ग 33 व्यभिचारी[3] भावों का है। जब कोई व्यभिचारी भाव प्रधान व्यङ्ग्य होता है तब वही प्रधान काव्यार्थ बनता है, अतः स्थायी भाव मुख्य नहीं रहता जिससे रसध्वनि न होकर भावध्वनि काव्य कहा जाता है।

(ख 1) **निर्वेद** : तिरस्कार, इष्टवियोग आदि से उत्पन्न मानसिक विरक्ति को निर्वेद कहते हैं :

हृदउ न विदरेउ पंक जिमि बिछुरत प्रीतम नीरु।
जानत हों मोहि दीन्ह विधि यह जातना खरीरु।। (मानस)

यहाँ राम-वियोग से दशरथ में शरीरादि के प्रति निर्वेद है।

(ख 2) **ग्लानि** : उस दुःखविशेष का नाम ग्लानि है जो रोग, चिन्ता, थकावट आदि से उत्पन्न होता है :

दृग थिरकौहैं अधखुलें देह थकौहैं ढार।
सुरत-सुखित-सी देखियति दुखित गरभ कें भार।। (बिहारी)

यहाँ गर्भवती स्त्री की ग्लानि का चित्र है।

(ख 3) **शंका** : अनिष्ट की संभावना की चित्तवृत्ति शङ्का है :

भृगुपति कर सुभाउ सुनि सीता।
अरध निमेष कलप सम बीता।। (मानस)

(ख 4) **असूया** : अन्य के उत्कर्ष आदि से जनित ईर्ष्या का नाम असूया है। किसी भी वस्तु के प्रति निन्दा या दोषारोपण में असूया देखी जाती है :

जस कौसिलाँ मोर मल ताका।
तस फल देउँ उन्हहि करि साका।। (मानस)

यहाँ कैकेयी में कौसल्या के प्रति असूया प्रधान व्यङ्ग्य है।

(ख 5) **मद** : मदिरा आदि से जनित उल्लास मद है :

करत मनोरथ जस जियँ जाके।
जाहिं सनेह सुराँ सब छाके।।

सिथिल अंग पग मग डगि डोलहिं ।
विह्वल बचन पेम बस बोलहिं ।। (मानस)

इस वर्णन में प्रेम को मदिरा के रूप में लेकर 'मद' भाव का प्रधान रूप से चित्रण हुआ है।

(ख 6) **श्रम :** थकावट से उत्पन्न चित्त की शिथिलता श्रम है। (ग्लानि में शारीरिक निर्बलता प्रधान होती है जब कि श्रम में बलहानि न होने पर भी विश्राम की इच्छा होती है ।)

सरद परब बिधु बदन पर ।
लसत स्वेद कन जाल ।। (मानस)

इसमें स्वेद अनुभाव से श्रम की व्यञ्जना हुई है ।

(ख 7) **आलस्य :** चित्त की निष्क्रियता-प्रिय वृत्ति आलस्य है । (ग्लानि में निर्बलता होती है, आलस्य में मनुष्य कर्म से विरत होना चाहता है ।) यह वृत्ति श्रम, गर्भ, व्याधि, अतितृप्ति आदि से जन्म लेती है जिसके अँगड़ाई, पड़े रहने की इच्छा आदि अनुभाव होते हैं ।

लरिका श्रमित उनीद बस सयन करावहु जाइ । (मानस)

(ख 8) **दैन्य :** हीनता की अनुभूति दैन्य है जो दुःख, दरिद्रता, अपराध आदि विभावों से उत्पन्न होती है :

अति आरति सब पूछहिं रानी ।
उतरु न आव बिकल भइ बानी ।। (मानस)

यहाँ सुमन्त्र के निरुत्तर होने से राम-वियोग-जनित दैन्य की व्यञ्जना हुई है ।

(ख 9) **चिन्ता :** स्मृति की निरन्तरता अथवा अविच्छिन्न ध्यान को चिन्ता कहते हैं जो इष्टवियोग या अनिष्टसंयोग से उत्पन्न होती है :

नाहिन रह्यौ मन मैं ठौर ।
नन्दनन्दन अछत कैसें आनिए उर और ।। (सूर)

(ख 10) **मोह :** विवेक-हीनता को मोह कहते हैं जो भय, विरह आदि से उत्पन्न होता है । इसकी उत्पत्ति गर्व, क्रोध आदि से भी देखी जाती है :

चले निसाचर आयसु मागी ।
गहि कर भिंडिपाल बर साँगी ।।
जिमि अरुनोपल निकर निहारी ।
धावहिं सठ खग माँस अहारी ।।
चोंच भंग दुख तिन्हहि न सूझा ।
तिमि धाए मनुजाद अबूझा ।। (मानस)

(ख 11) **स्मृति :** प्रत्यक्ष के संस्कार से जनित क्षणिक बोध स्मृति है :

सघन कुंज छाया सुखद सीतल सुरभि समीर।
मनु ह्वै जात अजौं वहै उहि जमुना के तीर ।। (बिहारी)

(ख 12) **धृति** : विकार के कारण के होने पर भी निर्विकार चित्तवृत्ति का नाम धृति है :

मन मुसुकाइ भानुकुल भानू।
रामु सहज आनन्द निधानू ।। (मानस)

राम कैकेयी के उत्तेजक वचन सुनकर भी शान्त रहते हैं।

(ख 13) **व्रीडा (लज्जा)** : एक प्रकार की संकोचात्मक चित्तवृत्ति का नाम व्रीडा है जो स्त्रियों में पुरुषदर्शन आदि से और पुरुषों में पराभव आदि से उत्पन्न होती है :

बिहसति सकुचति सी दिएँ कुच आँचर बिच बाँहि।
भीजें पट तट कौं चली न्हाइ सरोवर माँहि ।। (बिहारी)

(ख 14) **चपलता** : राग या द्वेष आदि के कारण बिना विचार के कोई कार्य करने वाली चित्तवृत्ति चपलता है :

मातहि पितहि उरिन भए नीकें।
गुर रिन रहा सोचु बड़ जी कें ।। (मानस)

यहाँ परशुराम के प्रति लक्ष्मण के वचनों से चपलता की व्यन्जना है।

(ख 15) **हर्ष** : इष्टसंयोग या अनिष्ट-निवारण से उत्पन्न सुखविशेष को हर्ष कहते हैं :

सुनि पाती पुलके दोउ भ्राता।
अधिक सनेहु समात न गाता ।। (मानस)

(ख 16) **आवेग** : चित्त के संभ्रम (हड़बड़ी) का नाम आवेग है जो भय, प्रेम आदि के अतिशय से होता है :

बाँध्यौ जलनिधि नीरनिधि जलधि सिंधु बारसी।
सत्य तोयनिधि कम्पति उदधि पयोधि नदीस ।। (मानस)

सेतुबन्ध सुनकर रावण दसों मुखों से बड़बड़ाया। अतः स्पष्ट ही आवेग की व्यन्जना है।

(ख 17) **जड़ता** : कर्तव्य-निश्चय-हीन चित्तदशा को जड़ता कहते हैं। चिंता, उत्कण्ठा, प्रेम, विरह भय आदि इसके कारण हैं :

जाइ समीप राम छबि देखी।
रहि जनु कुवँरि चित्र अवरेखी ।। (मानस)

(ख 18) **गर्व** : अपने उत्कर्ष की अनुभूति गर्व है जिसकी निम्न कोटि के पात्रों में प्रकट दशा देखी जाती है, फलतः वे दूसरों का तिरस्कार आदि करते हैं :

जौं आवइ मर्कट कटकाई ।
जिअहिं बिचारे निसिचर खाई।। (मानस)

स्त्रियों में रूप, प्रेम और गुण का विशेष गर्व देखा जाता है :

तीज दिवस सौतिन सजे भूषन बसन सरीर।
सबै मरगजे मुँह करी वहै मरगजें चीर।। (बिहारी)

(ख 19) **विषाद** : इष्टवियोग, अपराध की अनुभूति आदि से जनित पश्चात्ताप विषाद है :

जौं जनतेउँ वन बंधु बिछोहू ।
पिता वचन मनतेउँ नहिं ओहू।। (मानस)

(ख 20) **औत्सुक्य** : तत्काल इष्ट-प्राप्ति की तीव्र इच्छा को औत्सुक्य (उत्कण्ठा) कहते हैं :

एहि अवसर चाहिअ परम सोभा रूप बिसाल।
जो बिलोकि रीझै कुअँरि तब मेलै जयमाल ।। (मानस)

(ख 21) **निद्रा** : श्रम आदि से जनित नेत्रनिमीलन आदि से युक्त चित्त की बाह्य संज्ञाशून्यता निद्रा है :

नींदउ बदन सोह सुठि लोना।
मनहुँ साँझ सरसीरुह सोना।। (मानस)

(ख 22) **अपस्मार** : मूर्छाजनक व्याधिविशेष अपस्मार है जो वियोग, शोक, भय आदि से उत्पन्न होता है :

सोच बिकल बिबरन महि परेऊ।
मानहु कमल मूलु परिहरेऊ ।। (मानस)

(ख 23) **सुप्त (स्वप्न)** : निद्रा से उत्पन्न अनुभवविशेष को स्वप्न कहते हैं जो जाग्रत् के संस्कारों को दृश्य बनाता है :

देखौं जागि त वैसियै साँकर लगी कपाट।
कित ह्वै आवत जात भजि को जानै केहि बाट।। (बिहारी)

(ख 24) **प्रबोध (विबोध)** : निद्रा-निवृत्ति अथवा तत्त्वज्ञान को विबोध कहते हैं :

उठे लखनु निसि बिगत सुनि अरुनसिखा धुनि कान। (मानस)

यहाँ निद्रानिवृत्तिरूप प्रबोध है।

अपने अपने मत लगे बादि मचावत सोरु।
ज्यों त्यों सबकौं सेइबौ एकै नंदकिसोरु।। (बिहारी)

यह तत्त्वज्ञानरूप विबोध है ।

(ख 25) **अमर्ष** : तिरस्कार आदि से जनित असहिष्णुता अमर्ष है। (क्रोध शत्रु

के प्रति होने वाला स्थायी भाव है जबकि अमर्ष प्रेम आदि के साथ भी संचारी होकर आता है।)

सुनि लछिमन विहसे बहुरि नयन तरेरे राम। (मानस)

(ख 26) **अवहित्थ** : व्रीडा आदि से जनित गोपन-वृत्ति को **अवहित्थ** कहते हैं :

बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी।
पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी।।
खंजन मंजु तिरीछे नैननि।
निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सैननि।। (मानस)

(ख 27) **उग्रता** : अपकार के लिए प्रत्यपकार वाली चित्तवृत्ति उग्रता है :

छत्रि जाति रघुकुल जनमु राम अनुग जगु जान।
लातहुँ मारें चढ़ति सिर नीच को धूरि समान।। (मानस)

यहाँ भरत के प्रति लक्ष्मण की उग्रता है।

(ख 28) **मति** : विवेकजनित शङ्काहीन अर्थनिश्चय मति है :

कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह कृपासिन्धु कर दास।। (मानस)

(ख 29) **व्याधि** : रोग, विरह आदि से जनित मनस्तापविशेष को व्याधि कहते हैं :

नगर व्यापि गइ बात सुतीछी।
छुअत चढ़ी जनु सब तन बीछी।। (मानस)

(ख 30) **उन्माद** : विरह, शोक, आनन्द आदि के कारण अन्य वस्तु में अन्य का अवभास उन्माद है :

निसि दिन माधव-माधव रटइत
सुंदरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल
आपन गुन लुबुधाई।। (विद्यापति)

(ख 31) **मरण** : मृत्यु की पूर्वदशा की चित्तवृत्ति को काव्य में मरण कहा गया है :

प्रिया बचन मृदु सुनत नृपु चितयउ आँखि उघारि।
तलफत मीन मलीन जनु सींचत सीतल बारि।। (मानस)

(ख 32) **त्रास** : घोर वस्तु के दर्शन या श्रवण से उत्पन्न दुःखात्मक चित्तवृत्ति त्रास है जो क्षणिक होती है (जबकि भय स्थायी भाव है)।

थर-थर कांपहिं पुर नर नारी। (मानस)

(ख 33) **वितर्क** : ऊहापोह वाली चित्तवृत्ति वितर्क है :

चलन चहत बन जीवन नाथू ।
केहि सुकृती सन होइहि साथू ।।
की तन प्रान कि केवल प्राना ।
विधि करतबु कछु जाइ न जाना ।। (मानस)

भावाभास ध्वनि : अनुचित आलम्बन आदि को लेकर होने वाला भाव भावाभास होता है। उसकी प्रधानता में भावाभास ध्वनि काव्य माना जाता है :

कछु न परीछा लीन्हि गोसाई।
कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहिं नाई।। (मानस)

यहाँ शिव के प्रति सती का अवहित्थभावाभास है।

यह द्वैत अरे यह द्विविधा तो
है प्रेम बाँटने का प्रकार।
भिक्षुक मैं ? ना, यह कभी नहीं,
मैं लौटा लूँगा निज विचार।। (कामायनी)

मनु के मन में अपने ही भावी पुत्र के प्रति असूयाभास है।

भावोदय ध्वनि : जब कोई व्यभिचारी भाव किसी निमित्त से अचानक उदय लेता है तब उसे भावोदय कहते हैं। उसी की व्यञ्जना प्रधान हो तो भावोदय ध्वनि काव्य होता है :

बिछुरें जिए सँकोच इहिं बोलत बनत न बैन।
दोऊ दौरि लागे हिएँ किएँ लजौहैं नैन।। (विहारी)

यहाँ आवेग भाव का उदय ही चमत्कारी है।

भावशान्ति ध्वनि : अचानक किसी पूर्ववर्ती भाव का शमन भावशान्ति है जिसके प्रधान व्यङ्ग्य होने पर ध्वनिकाव्य होता है :

भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौन। (मानस)

यहाँ शोक भाव की शान्ति में चमत्कार है।

भावसन्धि ध्वनि : जब दो विरोधी भाव एक साथ समान रूप से व्यङ्ग्य होकर प्रधान चमत्कारी होते हैं तब भावसन्धि ध्वनि काव्य होता है :

नख सिख चिरखि राम कै सोभा।
सुमिरि पिता पनु मनु अति छोभा।। (मानस)

यहाँ हर्ष और विषाद की सन्धि है।

भावशबलता ध्वनि : जहाँ दो से भी अधिक भाव समान चमत्कार के साथ प्रधान रूप में व्यङ्ग्य होते हैं, वहाँ भावशबलता ध्वनि काव्य होता है :

ध्यान आनि ढिग प्रानपति रहति मुदित दिनराति।
पलकु कँपति, पुलकति पलकु, पलकु पसीजति जाति।। (बिहारी)

कम्प से मिलनपूर्व का शङ्काभाव, पुलक से हर्ष और प्रस्वेद से ग्लानि की एक

साथ चित्रवर्ण (शवल) व्यञ्जना है।

लक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य ध्वनि

इस वर्ग में मूलत: वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि का समावेश होता है। हम इस वर्ग को तीन उपवर्गों में विभक्त कर सकते हैं—शब्द शक्तिज, अर्थ शक्तिज और उभयशक्तिज। इनमें अन्तिम उपवर्ग केवल अलंकारध्वनिरूप ही होता है, शेष दो वस्तुरूप और अलंकाररूप होते हैं।

उभयशक्तिज लक्ष्यक्रमध्वनि

जब एक ही कविता में कुछ शब्द अनेक अर्थों वाले होते हैं, और कुछ एकार्थक रहते हैं तब यह ध्वनि-वर्ग बनता है। अनेकार्थक शब्दों की अभिधा प्रसंगवश एक ही अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है और तब दूसरा अर्थ व्यञ्जना से आता है। एकार्थक शब्दों में अर्थशक्तिज व्यञ्जना रहती है। फलत: उभयविध व्यङ्ग्यार्थ मिलकर अलंकारध्वनि का सम्पादन करते हैं।

औरैं भाँति कुंजन मैं गुंजरत भौंर भीर,
औरैं डौंर भौंरन मैं बौंरन के ह्वै गए।
कहै पदुमाकर सु औरैं भाँति गलियान
छलिया छवीले छैल औरैं छबि ह्वै गए॥
औरैं भाँति बिहग समाज मैं अवाज होत,
ऐसे रितुराज के न आज दिन द्वै गए।
औरैं रस, औरैं राग, औरैं रीति, औरैं रंग,
औरैं तन, औरैं मन, औरैं बन ह्वै गए॥

इसमें 'रितुराज' शब्द के 'राज' अंश से नये राजा की व्यञ्जना होती है। शेष पद एकार्थक ही हैं, फिर भी उपमा अलंकार प्रधान व्यङ्ग्य बन जाता है: जिस प्रकार नवीन राजा के शासन में सर्वत्र परिवर्तन हो जाता है, उसी प्रकार वसन्तागमन से प्रकृति में परिवर्तन हो गया है।

यहाँ और आगे भी इस सन्दर्भ में वाच्य अलंकार से तात्पर्य नहीं है। अलंकार जब व्यङ्ग्य होकर आता है तथा प्रधान काव्यार्थ बन जाता है तब वह अलंकार्य का रूप लेता है, भले ही व्यवहारवश अलंकारध्वनि नाम दिया जाता है।

शब्दशक्तिज लक्ष्यक्रमध्वनि

इसमें अनेकार्थ शब्दों का प्रयोग होता है। अभिधा प्रासंगिक अर्थ में नियमित हो जाती है और दूसरा अर्थ व्यञ्जना वृत्ति से आता है। ऐसे व्यङ्ग्यार्थ की

प्रधानता होने पर शब्दशक्त्युत्थ लक्ष्यक्रमध्वनि काव्य होता है। व्यङ्ग्य अर्थ के कभी वस्तुरूप और कभी अलंकाररूप होने से दो भेद बनते हैं।

1. **शब्दशक्तिज लक्ष्यक्रम वस्तुध्वनि**

केहि पटतरौं बिदेहकुमारी। (मानस)

'विदेह' के दो अर्थ हैं : जनकराज और देहरहित। सीता का प्रसंग होने से जनकराज वाला अर्थ अभिधा से आता है, अतः वाच्यार्थ हुआ कि जनक की पुत्री की उपमा किस से दी जाय। परन्तु व्यञ्जना से द्वितीय अर्थ प्रधान होकर उभरता है कि जो देहहीन से उत्पन्न हुई है, वह किसी सदेह वस्तु से उपमित नहीं हो सकती, वह सौंदर्य लोकोत्तर है।

2. **शब्दशक्तिज लक्ष्यक्रम अलंकारध्वनि**

जरहिं विषमजर लेहिं उसासा।
कवनि राम विनु जीवन आसा।। (मानस)

राम के प्रवास का प्रसंग है। वनयात्रा सुनकर सबको विषम सन्ताप हुआ। अतः 'विषमज्वर' का प्रासंगिक तथा वाच्य अर्थ 'घोर सन्ताप' है। परन्तु उसका अन्य अर्थ सान्निपातिक ज्वर भी है, अतः उपमा अलंकार की व्यञ्जना होती है :

> जिस प्रकार विषमज्वर में मनुष्य को तीव्र सन्ताप होता है, ऊर्ध्व श्वास चलते हैं और जीवनाशा न रह जाने पर रामनाम के सहारे रोगी को छोड़ दिया जाता है, उसी प्रकार अयोध्यावासी लोग राम-वियोग के विषम सन्ताप से तप्त हो रहे थे, आहें भर रहे थे और कह रहे थे कि राम के बिना अब हमारे जीने की आशा ही क्या रह गई।

अर्थशक्तिज लक्ष्यक्रमध्वनि

जब वाच्यार्थ से दूसरे अर्थ की व्यञ्जना होती है और वही व्यङ्ग्य अर्थ प्रधान होता है तब अर्थशक्त्युत्थ लक्ष्यक्रमध्वनि काव्य होता है जिसके पूर्ववत् दो भेद हैं।
1. **अर्थशक्तिज लक्ष्यक्रम वस्तुध्वनि :** यह कभी वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य होता है, और कभी अलंकार से वस्तु व्यङ्ग्य होकर आता है :

(क) वस्तु से वस्तु

जानसि भोर सुभाउ बरोरू। (मानस)

'बरोरू' शब्द कैकेयी का विशेषण होकर वस्तुरूप वाच्यार्थ देता है जिससे राजा दशरथ की भोगलिप्सा व्यङ्ग्य है।

(ख) अलंकार से वस्तु

कपट कलेवर कलि मल भाँड़े। (मानस)

मलभाण्ड एक रूपकीय प्रयोग है। इस अलंकार से जुगुप्सनीय चरित्ररूप वस्तु की व्यञ्जना हुई है।

2. **अर्थशक्तिज लक्ष्यक्रम अलंकार ध्वनि** : इसके भी दो भेद होते हैं :

(क) वस्तु से अलंकार

निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार ।। (मानस)

यहाँ वस्तु से व्यतिरेक अलंकार व्यङ्ग्य है कि अन्य पुरुष अपने कर्मों से पराधीन वासनावश जन्म लेते हैं जबकि भगवान् स्वेच्छा से अवतीर्ण होते हैं।

(ख) अलंकार से अलंकार

श्रीगुरुपदनख मनिगन जोती ।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती ।। (मानस)

गुरुचरणों के नखों को मणिगण के रूपक में लिया गया है। इस रूपक से व्यतिरेक अलंकार व्यङ्ग्य है—अन्य मणियों की ज्योति के स्मरण से दर्शनकार्य नहीं होता, हृदय की दृष्टि नहीं खुलती, दिव्यदृष्टि न होकर लौकिक दृष्टि ही होती है जबकि गुरुपदनखों की ज्योति स्मरणमात्र से हृदय में दिव्य दृष्टि उत्पन्न कर देती है।

व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता में ही ध्वनिकाव्य होता है जिसे उत्तमकाव्य माना गया है।[4] यह तभी होता है जब वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य अधिक चमत्कारी हो। व्यङ्ग्य के गौण या तिरोभूत होने पर मध्यम या अवरकाव्य बनते हैं।

सन्दर्भ

1. दे० सन्दर्भ 2/5.
2. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः ।
   भावः प्रोक्तः······।।'—'काव्यप्रकाश', 4/35.
3. निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूया-मद-श्रमाः ।
   आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ।।
   व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जड़ता तथा ।
   गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ।।

सुप्तं प्रबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः॥
—वही, 4/31-34; ना०शा० 6/18-21.

4. 'इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्
ध्वनिर्बुधैः कथितः।'—वही, उल्लास 1.

ध्वनितत्त्व की परिव्याप्ति

विगत अध्याय में ध्वनिकाव्य के प्रकारों का परिशीलन किया गया। कभी-कभी पद और पदांश में भी ऐसा चमत्कारी प्रतीयमान अर्थ आ जाता है कि वह पूरी रचना को प्रकाशित कर देता है। इनके अतिरिक्त वाक्य, प्रकरण और सम्पूर्ण प्रवन्ध के व्यङ्ग्यार्थ होते हैं जिनके आधार पर काव्य-भेद निर्णीत होते हैं। प्रस्तुत अध्याय में इन भेदों पर विचार करते हुए अन्य आवश्यक तथ्यों का विवेचन करना अपेक्षित है। पदांशगत ध्वनि को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है: पदपूर्वार्ध ध्वनि और पदपरार्धध्वनि। इस प्रकार प्रथमत: छह भेद विचारणीय हैं :

पद-पूर्वार्ध-ध्वनि (पदांशगत)

पद की रचना प्रकृति और प्रत्यय के योग से होती है। कभी-कभी प्रकृतिभाग व्यञ्जक होता है और उस स्थल में उसी का व्यङ्ग्य प्रधान देखा जाता है, तब पदांशगत पदपूर्वार्ध-ध्वनि मान्य है :

प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम। (मानस)

'राम' शब्द की निष्पत्ति 'रम्' धातु से हुई है जिसका 'रमण' अर्थ होता है : राम में ही सब रमण करते हैं। अतएव वह प्राणों, जीवों, और सुखों का अधिष्ठान है। इस प्रकार राम शब्द के पूर्वार्ध से ही परमानन्दरूप की व्यञ्जना होती है।

पद-परार्ध-ध्वनि (पदांशगत)

कभी-कभी पद के घटक प्रत्यय से विशेष अर्थ की व्यञ्जना देखी जाती है :

छुअत सिला भइ नारि सुहाई। (मानस)

'छुअत' में 'त' प्रत्यय वर्तमानकालिक है अत: प्रतीयमान अर्थ आता है : छूने के साथ ही, छूते ही, स्पर्श के समय में ही। इससे कारण और कार्य के साथ होने की अतिशयोक्ति व्यक्त होती है।

पदध्वनि

देखा गया है कि पद के पूर्वार्ध और परार्ध से होने वाले व्यङ्ग्य अर्थ पूरे पद को चमत्कारी बना देते हैं, फलतः उससे समग्र वाक्य व्यञ्जना की गरिमा प्राप्त करता है। कभी-कभी पूरा पद इस प्रकार की व्यञ्जना का चमत्कार लाता है :

कौसल्याँ अब काह बिगारा। (मानस)

में 'अब' पद से ध्वनित होता है कि जब तारुण्य का समय था, राजा को स्वाधीन रख कर कौसल्याजी सपत्नी कैकेयी का अहित कर सकती थीं, तब तो वे निरीह बनी रहीं, पुत्रों के युवा होने के बाद सपत्नीभाव का दंश शून्य हो जाता है और तब कैकेयी का सौतिया-डाह अकारण है।

वाक्यध्वनि

प्रायः एक समूचा वाक्य ही काव्यरूप में लिया जाता है और रसादि का वही व्यञ्जक देखा जाता है। इसके ही उदाहरण विगत अध्याय में विविधता के साथ लाए गए हैं। जिस प्रकार पदांशध्वनि पदध्वनि का अङ्ग बन जाती है, उसी प्रकार पद ध्वनि पूरे वाक्य की ध्वनि का अङ्ग बनती है। उदाहरणार्थ :

पानिसरोज सोह जयमाला।
औचट चितए सकल भुआला॥
सीयँ चकित चित रामहि चाहा।
भए मोह-बस सब नरनाहा॥ (मानस)

यहाँ प्रायः सभी पद व्यञ्जक हैं जिनके व्यङ्ग्यों से सम्पन्न होकर पूरा वाक्य ध्वनिकाव्य बनता है, साथ ही पूरे वाक्य से सीता का राम के प्रति पूर्वराग प्रधान या अङ्गी है जिसके प्रति समर्पित होकर अङ्गभूत पदध्वनियाँ अलंकार का कार्य कर चलती हैं : (1) सरोजपद से कमल-कुसुम के अभिनव विकास तथा आर्द्रता की व्यञ्जना होती है। (2) पाणि उपमेय की स्वेद सात्त्विक से क्लिन्नता सरोज उपमान से व्यक्त होती है। (3) साथ ही हाथ की सुकुमारता, सौरभ आदि की भी व्यञ्जना होती है। (4) पुष्पतुल्य हाथ में पुष्पों की वरमाला अतिरिक्त शोभा देती है। (5) 'औचट' पद उपेक्षा का द्योतक है, सभी राजाओं पर सीता द्वारा अवज्ञा की दृष्टि है। (6) 'चितए' से प्रतीत है कि सभी राजाओं को प्रसंगतः देखा भर गया, उनके प्रति कोई भाव नहीं था। (7) 'सकल' से प्रकट है कि सहस्रशः राजे एक ही दृष्टिपात में देख लिए गए, एक-एक को अलग-अलग देखने की प्रवृत्ति न थी। (8) जिन्हें इस अवमानना के साथ देखा गया वे साधारण लोग न होकर भूपाल (भुआल) थे, इससे सीता की राम के प्रति एकान्त प्रीति व्यक्त है। (9) 'चकित' से संकोच, व्रीडा, विनय, शील आदि व्यक्त हैं। (10) चित्त में ही संकोच आदि थे, सीता ने उन्हें ऊपर कायिक चेष्टाओं में प्रकट नहीं

होने दिया, इससे धृति की व्यञ्जना होती है। (11) राम पद रमणार्थक है, अतः व्यक्त होता है कि सीता का एकमात्र प्राप्य वही है। (12) 'चाहा' पद प्रेम तथा औत्सुक्य की व्यञ्जना करता है। (13) सीता द्वारा देखे जाने से राम को मोहित होना चाहिए था जबकि अन्य राजे, जिन्हें उपेक्षा से ही देखा था, मोहग्रस्त हुए। (14) 'वश' पद सूचित करता है कि वे राजे पूर्णतया मूर्छा की-सी स्थिति में हो गए, उन्हें सीता की ओर राग-दृष्टि डालने की सुध-बुध भी नहीं रही। (15) यह स्थिति 'सब' राजाओं की थी जिससे सौन्दर्य का सर्वातिशायी प्रभाव व्यक्त हुआ है। (16) ये मोहित होने वाले 'नर' मात्र न थे, 'नरनाथ' थे जो नरों को वशीभूत रखते थे पर यहाँ स्वयं परवश हो गए थे।

यों तो वाक्य एक मुख्य क्रिया के साथ कारकों के योग से बनता है, परन्तु अनेक वाक्यों की एकवाक्यता से महावाक्य बनता है। तात्पर्य यह कि प्रकरण या प्रबन्ध भी इस एकवाक्यता के आधार पर वाक्य कहे जाते हैं। फलतः प्रकरण और प्रबन्ध से आने वाले व्यङ्ग्यों को वाक्यध्वनि में ही लिया जा सकता है, फिर भी इनको अलग करके विचारणीय बनाया जाता है। अनेक वाक्यों से आने वाले व्यङ्ग्य प्रकरण-ध्वनि के अङ्ग बनते हैं और प्रकरणध्वनियाँ प्रबन्धध्वनि का अङ्ग बनती हैं।

प्रकरणध्वनि

जिस प्रकार कोई वाक्य व्यङ्ग्य-चमत्कार-सम्पन्न होकर काव्य कहा जाता है, उसी प्रकार बहुत-से वाक्यों की एकवाक्यता द्वारा बना हुआ प्रबन्ध का कोई भाग अपनी समग्रता में प्रतीयमान अर्थ देकर काव्य कहा जाता है। प्रकरणध्वनि वाक्यध्वनियों को अङ्गरूप देकर अपने में समेट रखती है, इस प्रकार प्रकरण अङ्गी बन जाता है। किसी प्रबन्धकाव्य के सर्ग ऐसे ही प्रकरण होते हैं। अरण्यकाण्ड को उदाहरण में लिया जाय तो सीताहरण के कारण राम के विप्रलम्भ शृङ्गार को व्यक्त कर पूरा काण्ड एक काव्य कहा जा सकता है। प्रकरण के भी अवान्तर-प्रकरण हो सकते हैं और वे भी काव्यरूप से विवेचनीय बनते हैं। उदाहरणार्थ अरण्यकाण्ड का ही जटायु-प्रसंग लिया जा सकता है जिसमें जटायु की कर्तव्यनिष्ठा को वीररस के रूप से व्यक्त किया गया है। बालकाण्ड का पुष्पवाटिका-प्रसंग अवान्तरप्रकरण है जिससे सीता और राम के पूर्वराग की अद्भुत व्यञ्जना हुई है। अयोध्याकाण्ड का दशरथमरण-पर्यन्त भाग करुण रस की व्यञ्जना में एकवाक्यता लेता है। पूरे अयोध्याकाण्ड से भरत की धर्मवीरता और भ्रातृभक्तिनिष्ठा व्यक्त है। सुन्दरकाण्ड में हनुमान की वीरता प्रधान व्यङ्ग्य है और लङ्काकाण्ड से रामगत उत्साह वीररस का स्थायी बनता है। मानस का उत्तरकाण्ड भक्तिरस में पर्यवसान लेता है।

कामायनी के सर्गों का नामकरण ही सर्गीय प्रतिपाद्यों को लेकर हुआ है। उदाहरणार्थ, लज्जासर्ग में नारी का वह स्वरूप व्यक्त होता है जो लज्जा और श्रद्धा के योग से मानवता के लिए उद्धारक बनता है। वासनासर्ग का व्यङ्ग्य संभोग शृङ्गार है। इस दृष्टि से कर्मसर्ग विशेष महत्त्व का है जिसका प्रतिपाद्य मानवीय यज्ञों में दिव्य और आसुर संस्कारों का मिश्रण है, आकुलि और किलात का अवान्तर प्रकरण व्यक्त करता है कि असुरों की बुभुक्षा-प्रधान प्रवृत्ति मानव-चरित्र में जुड़ गयी जो अनुचित कर्मों की ओर प्रेरित करती है। अन्तिम आनन्द-सर्ग समन्वित आनन्दमय चैतन्य-स्वरूप के मोक्ष की व्यञ्जना करता है जो पूरे प्रबन्ध का प्रतिपाद्य है।

प्रबन्धध्वनि

पूरे प्रबन्ध का व्यङ्ग्य जब एक होता है, तभी उसकी अखण्ड एकवाक्यता बनती है और प्रबन्ध नाम की उसी में सार्थकता है। पदांशव्यङ्ग्य पद-व्यङ्ग्यों के, पद-व्यङ्ग्य वाक्य-व्यङ्ग्यों के, वाक्यव्यङ्ग्य प्रकरणव्यङ्ग्यों के और प्रकरणव्यङ्ग्य प्रबन्धव्यङ्ग्य के अङ्ग होकर एक अविच्छिन्न महावाक्य बनाते हैं। अलग-अलग व्यङ्ग्यों की ही सत्ता हो तो स्वतन्त्र अनेक काव्य हो सकते हैं, पर प्रबन्धकाव्य नहीं बन सकता। वस्तु और नायक के साथ रस की एकता ही प्रबन्ध को एक-रूपता देती है। इस दृष्टि से रामचरितमानस एक महाकाव्य है जिसमें रामावतार-कथा वस्तु है, राम-ब्रह्म नायक है और उनके प्रति भक्ति ही रसध्वनि है। सभी अवान्तर व्यङ्ग्य अन्ततः भक्तिरस-सागर में विभिन्न नदी-प्रवाहों के समान संगम लेते हैं। कवि राम के जिस वीररूप का प्रबन्धव्यापी चित्रण करता है, वह भक्ति का आलम्बन होकर उभरता है। राम-पक्ष के पात्रों के प्रति प्राकरणिक भक्तियाँ व्यक्त हुई हैं जो रामभक्ति का ही अंङ्ग बनती हैं। वाल्मीकि-रामायण का प्रबन्ध-रस करुण बनता है परन्तु गोस्वामी जी का प्रतिपाद्य इससे भिन्न देखा जाता है।

कामायनी में तीन प्रबन्धव्यापी व्यङ्ग्य देखे जाते हैं। पहला रूपक अलंकार व्यङ्ग्य है—मनु मन का प्रतीक है जिसमें श्रद्धा और इड़ा (बुद्धि) वृत्तियों का संघर्ष चला करता है, इसका शमन ही आत्यन्तिक उपलब्धि हो सकती है जिससे दुःखनाश और आनन्द में लय सुलभ हो सकते हैं—पूरा कथानक इसी रूपक के ताने-बाने प्रस्तुत करता है। वस्तुव्यङ्ग्य होकर दूसरा तथ्य सामने आता है—पूरा प्रबन्ध इच्छा, ज्ञान और कर्म के असंतुलन का चित्र देता है जिससे जीवन में अस्वाभाविक दुःख उत्पन्न होते हैं, इनके समन्वय में ही मानव की चरम सार्थकता निहित है। शान्त रस तीसरी प्रबन्धध्वनि है—जब मन के समस्त संघर्ष शान्त हो जाते हैं, मानवमात्र एक अनवच्छिन्न चेतना के रूप में

प्रकाशित होता है, तभी मोक्षदशा मिलती है और वही पुरुष का आरम्भ तथा अवसान है :

सब में घुलमिल कर रसमय
रहता यह भाव चरम है ।

द्वारा प्रसाद ने इसी शान्तरस की व्यञ्जना की है और अन्त में जड़-चेतन के द्वन्द्व से परे परम चेतना में उदय लेने का चमत्कार उपस्थित किया है ।

संसृष्टि और संकर

काव्यप्रकाश (4/43) में ध्वनियों के मेल से बनने वाली ध्वनियों का विवरण दिया गया है । सर्वत्र यह संभव नहीं होता कि शुद्ध रूप से एक ही कोई व्यङ्ग्य प्राप्त हो, प्रायः अनेक व्यङ्ग्य एक साथ आकर अपूर्व चमत्कार देते हैं । इनको संसृष्टि और संकर—दो वर्गों में विभक्त किया जाता है । संसृष्टि का एक ही प्रकार है जबकि संकर के तीन भेद देखे जाते हैं : संदेहसंकर, एकव्यञ्जकानुप्रवेशसंकर और अङ्गाङ्गिसंकर। इस प्रकार चार वर्गों में इन्हें देखना अपेक्षित है :

संसृष्टि

जब कई व्यङ्ग्यों का तिल और चावल के समान मेल होता है जिससे अनेक व्यङ्ग्य पृथक् प्रतीत होकर चमत्कार लाते हैं तब ध्वनि-संसृष्टि होती है। उदाहरणार्थ :

चलन चहत बन जीवन नाथू ।
केहि सुकृती सन होइहि साथू ।।
की तनु प्रान की केवल प्राना ।
बिधि करतबु कछु जाइ न जाना ।। (मानस)

यहाँ दो प्रधान व्यङ्ग्य हैं : (1) जीवननाथ राम प्रवास जा रहे हैं, जीवन शरीर और प्राण दो तत्त्वों से बनता है, इनमें दोनों सुकृती हैं, या एक प्राण ही सुकृती है—जो साथ जाय वही सुकृती है । जीव ही सुकृती हो सकता है, शरीर या प्राण नहीं, परन्तु कवि ने अचेतन तत्त्वों को चेतन से अभिन्न कर दिया है, फलतः अतिशयोक्ति व्यङ्ग्य है । (2) यदि सशरीर सीताजी राम के साथ नहीं जा पातीं तो उनका प्राणधारण असंभव होगा और उनका मरण निश्चित है, यह वस्तुव्यङ्ग्य भी आता है। दोनों की संसृष्टि है।

संदेहसंकर

जब अनेक व्यङ्ग्य आते हों, परन्तु निश्चित न हो कि कौन-सा व्यङ्ग्य कवि

को अभिप्रेत है, तब संदेह-संकर होता है :

नासा मोरि नचाइ दृग करी कका की सौंह।
काँटे लौं कसकैं ति हिय गड़ी कंटीली भौंह ।। (विहारी)

नायिका के अनुभाव दो व्यङ्ग्य दे सकते हैं—(1) नायक की कुटिलता के प्रति उसे अमर्ष था और उसने अपनी असहमतिपूर्ण रिस व्यक्त की थी, अथवा (2) वैलासिक चेष्टाओं द्वारा उसने सहमतिपूर्ण चपलता और औत्सुक्य व्यक्त किये थे। दोनों में से एक व्यङ्ग्य का निर्णायक आधार कुछ भी न होने से सन्देह बना रहता है, अतः सन्देह-संकर है।

एकव्यञ्जकानुप्रवेशसंकर

जब एक ही वाक्य (प्रकरण या प्रबन्ध) व्यञ्जक होता है और उसी में अनेक व्यङ्ग्यार्थ नीर-क्षीरवत् प्रकट होते तब एकव्यञ्जकानुप्रवेशसंकर होता है। ऊपर कामायनी की प्रबन्धध्वनि पर विचार आ चुका है जिसमें तीन प्रबन्धव्यापी व्यङ्ग्य हैं और उनका व्यञ्जक एक ही महावाक्य (प्रबन्ध) है। तीनों ही व्यङ्ग्य घुलमिल कर एकाकार हैं, वे पृथक् सत्ता खोकर परस्पर अनुप्रवेश पा लेते हैं।

अङ्गाङ्गिभावसंकर

जब अनेक व्यङ्ग्यों में से एक प्रधान या अङ्गी होता है और शेष व्यङ्ग्य उसी के पोषक अङ्ग बन जाते हैं तब अङ्गाङ्गिभावसंकर होता है। मानस का कुछ विवेचन ऊपर आ चुका है, उसमें राम का वीररूप उत्तरकाण्ड के पूर्वभाग तक चित्रित हुआ, प्रसंगतः दानवीर, दयावीर, धर्मवीर के साथ युद्धवीर रसों का परिपाक देखा जाता है। परन्तु विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि बालकाण्ड के आरम्भ से ही कवि ने राम को ब्रह्म सिद्ध करने की प्रतिज्ञा की है और आराध्य मान कर ही विविध रसों की अवतारणा की है। उत्तरकाण्ड के उत्तरार्ध में बाल काण्ड के प्रश्नों का उत्तर पूरा होता है और ज्ञान की तुलना में भक्ति को गरीयसी सिद्ध किया गया है। प्रतिपाद्य वस्तु के रूप में भक्ति से वस्तुध्वनि ही बनती है, परन्तु कवि भक्तिरस के रूप में उसे प्रतिष्ठित करता है। रामायण की वस्तु योजना मानस से भिन्न है। वहाँ राम का वीररस चरम परिणति में करुणरस का अङ्ग बन जाता है। महाभारत का वीररस शान्तरस का अङ्ग बनता है।

गौण और प्रधान का विवेचन

अनेक व्यङ्ग्यों में किसे गौण और किसे प्रधान माना जाय यह प्रश्न अङ्गाङ्गि-भावसंकर को लेकर महत्त्वपूर्ण है। ऊपर प्रबन्ध के उदाहरणों को लेकर देखा गया है और उससे स्पष्ट हो जाता है कि व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता का निर्णय

ग्रावश्यक होता है, जिसके बिना शास्त्रीय काव्य को यथावत् समझा ही नहीं जा सकता। मुक्त पद्यों में यह प्रश्न कभी-कभी जटिल हो जाता है। जैसे :

ग्राँखिन तें गिरे ग्राँसु के बुंद सुहासु गयौ उड़ि हंस की नाईं। (देव)

यहाँ ग्रश्रुविन्दु के पतन से ग्रमर्ष के भावोदय की व्यञ्जना होती है ग्रौर हास के उड़ने से हर्षभावशान्ति व्यक्त है, दोनों में किसे प्रधान मानें? यहाँ रचना में ग्रर्थ-योजना का क्रम लेकर ही निर्णय किया जा सकता है। वर्षा-विन्दुग्रों के गिरने पर हंस उड़ जाते हैं, यह प्रसिद्धि है, अतः ग्रश्रुविन्दुवर्षा के ग्रनन्तर हर्षभाव की शान्ति में ही कवि पर्यवसान चाहता है, ग्रमर्षोदय उसका ग्रङ्ग है। इसी प्रकार :

मान्यौ न मानवती गयौ भोरु ह्वै, सोचतै सोइ रहे मनभावन।
तेह तें सासु कह्यौ, दुलही भई बेर कुमार कौं जाहु जगावन।।
मान कौ सोचु जगैबे की लाज, लगी पग-नूपुर पाटी बजावन।
सो छबि हेरि हेराइ रहे हरि, कौन कौ रूसिबौ काकौ मनावन।।

पहले मानिनी में ग्रमर्ष है ग्रौर नायक में विषाद है। सास के ग्रादेश पालन के समय चिन्ता ग्रौर व्रीडा की भावसन्धि है। नायक के विषाद की शान्ति ग्रन्तिम व्यङ्ग्य है जिससे ग्रङ्गी के प्रति ग्रन्य व्यङ्ग्य ग्रङ्ग होकर गौण बनते हैं।

घामु घरीक निवारिऐ कलित ललित ग्रलिपुंज।
जमुना तीर तमाल तरु मिलित मालती कुंज।। (बिहारी)

यहाँ ग्रलिपुञ्ज के गुम्फन से निःशङ्कता, उससे निर्जनता ग्रौर उससे भी संकेत स्थान की उपयुक्तता व्यक्त होती है। यमुना तीर से शीतलता के साथ यह भी व्यङ्ग्य है कि नदी का बड़ा पाट होने के कारण उस पार से कोई देख नहीं सकता ग्रौर उधर से किसी के ग्राने की भी ग्राशङ्का नहीं है। तमालवृक्ष स्वयं कुञ्जाकार होता है, फिर मालती-लता उस पर फैली है, ग्रतः भीतर के रहस्य को इस पार से भी कोई नहीं देख सकता। इस व्यङ्ग्यसमूह के साथ स्वयंदूती ग्रात्मनिवेदन कर पथिक को रोककर प्रच्छन्न विहार का प्रस्ताव रखती है जो ग्रङ्गी है ग्रौर पूर्वोक्त सभी व्यङ्ग्य गौण होकर उसके अङ्ग बनते हैं।

इस प्रकार यहाँ संक्षेप में दिशानिर्देश किया गया। इसी आधार पर ग्रन्यत्र समझा जा सकता है।

रस की व्यापकता

यों तो वस्तुध्वनि ग्रौर ग्रलंकारध्वनि काव्य भी होते हैं जिनमें वस्तु व्यङ्ग्य ग्रौर अलंकार व्यङ्ग्य की प्रधानता होती है, परन्तु अकाव्य से काव्य को विविक्त करने वाले ये तत्त्व नहीं हो सकते क्योंकि इस प्रकार के व्यङ्ग्य सामान्य व्यवहार में भी बराबर देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ : 'आप बड़े बुद्धिमान् हैं' वाक्य मूर्ख के प्रति कहा जाय तो लक्षणा से 'बुद्धिहीन' अर्थ लिया जायगा ग्रौर उससे

'अतिशयित जड़ता' वस्तु व्यङ्ग्य होगी। यहाँ भी व्यङ्ग्यार्थ ही प्रधान है, पर इसे काव्य नहीं कह सकते। इसी प्रकार किसी से सन्दर्भविशेष में कहा जाय : 'आपके सामने दीपक की लौ नहीं ठहरती', तो दो व्यङ्ग्य होंगे : एक यह कि वह पुरुष इतना तेजस्वी है कि दीपक का प्रकाश अत्यन्त मन्द हो जाता है, दूसरा यह कि वह सर्प के समान भयानक है जिसके समक्ष दीपक बुझने की प्रसिद्धि है। प्रथम व्यङ्ग्य अतिशयोक्ति और द्वितीय उपमा अलंकार है। ऐसे वाक्य व्यावहारिक प्रचलन में निरन्तर देखे जा सकते हैं जो लौकिक प्रतिभा का निदर्शन होते हैं। तो क्या ऐसे वाक्य भी काव्य हैं ? यदि हैं तो अकाव्य क्या वचेगा ? अन्यथा व्यङ्ग्य की प्रधानता में उन्हें ध्वनिकाव्य क्यों न माना जाय।

इस प्रश्न का उत्तर यही है कि 'रस' काव्य को काव्येतर वाक्य से पृथक् करता है। आचार्य आनन्दवर्धन ने रस को ही काव्यात्मा मानते हुए कहा है : 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः'। तब प्रश्न उठता है कि वस्तु और अलंकार व्यङ्ग्यों की प्रधानता में वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि काव्य मानने का क्या रहस्य है। सर्वत्र रसध्वनि ही क्यों नहीं ? इस पर आचार्यों का निष्कर्ष यही रहा है कि रस काव्य का व्यापक तत्त्व है, परन्तु वह सर्वत्र प्रधान व्यङ्ग्य नहीं रहता। जहाँ प्रधान रहता है वहीं रसध्वनि की व्यवस्था है, जहाँ किसी प्रकार उसकी अपेक्षा वस्तु या अलंकार व्यङ्ग्य प्रधान चमत्कारी होते हैं, वहाँ रस की व्याप्ति रहते हुए भी वस्तु-काव्य या अलंकार-काव्य कहा जाता है, रसकाव्य नहीं। भावों की प्रधानता में भावकाव्य भी इसी आधार पर बनता है। इस प्रकार रसतत्त्व को चार प्रकार से काव्यों में व्याप्त देखा जाता है :

1. रसध्वनि में किसी न किसी स्थायी भाव की प्रधानतः अभिव्यक्ति होती है, अन्य व्यङ्ग्य अभिभूत रहते हैं अथवा नहीं होते। स्थायी भाव ही सहृदय द्वारा साक्षात् आस्वाद्य बनता है। इसके उदाहरण रसवर्णन के अध्याय में आयेंगे। इसी प्रकार रसाभासध्वनि को जानना चाहिए।

2. भावध्वनि काव्य मुख्यतः संचारी भावों की प्रधान व्यञ्जना में होता है। संचारी भावों का आधार स्थायी भाव ही होता है, अतः अप्रधान होकर भी स्थायी भाव अपना प्रकाश देकर संचारी को प्रकाशित करता है। भावाभास, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि और भावशवलता को भी इसी वर्ग में लेकर देखना चाहिए क्योंकि सभी का अधिष्ठान स्थायी भाव है जो रसरूप लेकर आस्वाद्य बनता है। यथास्थान उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

3. वस्तुध्वनि में प्रधानीभूत वस्तुव्यङ्ग्य की परिणति किसी-न-किसी रस में ही होती है। उदाहरणार्थ :

देखौं जागि त वैसियै साँकर लगी कपाट।
केहि मग आवत, जात भजि ना जानौं केहि बाट॥

यहाँ नायिका द्वारा स्वप्न में नायक का दर्शन वस्तुव्यङ्ग्य है और वही प्रधान चमत्कारी है, परन्तु रति स्थायी भाव की विप्रलम्भ शृङ्गार के रूप में व्यञ्जना भी है। वस्तुव्यङ्ग्य अन्ततः रससामग्री वन जाता है।

4. अलंकारध्वनि नाम भी अलंकार व्यङ्ग्य की प्रधानता को लेकर है, वहाँ भी रस की व्याप्ति रहती ही है।

जरी विषमजुर ज्याइऐ आइ सुदरसनु देहु। (विहारी)

यहाँ विषमज्वरतुल्य विषम विरहसन्ताप दूर करने के लिए सुदर्शनचूर्ण के समान नायक का शुभ दर्शन चाहा गया है जिसमें उपमालंकार प्रधान व्यङ्ग्य है, परन्तु परिणति विप्रलम्भ शृङ्गार में ही होती है, भले ही उसका चमत्कार प्रधान नहीं है।

रसनिष्पत्ति के संदर्भ को सामने रखें तो स्पष्ट होगा कि ध्वनिमत को छोड़कर सभी विचारक रस को ही काव्य-सर्वस्व मानते हैं। ध्वनिमत के अनुसार अनुपद विचार हो चुका। ध्वनिविरोधी आचार्य महिमभट्ट न्याय के अनुसार काव्य की व्याख्या करते हैं और वे भी रस को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। उनकी स्थापना है कि रस वस्तु आदि से अन्तरितमात्र हो सकता है, पर उसके विना काव्य नहीं हो सकता। स्थायी भाव लोक में भी होता ही है और लोक से ही काव्य में लाया जाता है, पर उसकी रसात्मक निष्पत्ति काव्य का ही भाग है, इस पर रसनिष्पत्ति के अध्याय में विशेष रूप से विचार किया जायगा। अब प्रश्न उन सूक्तियों या नीति वाक्यों का रह जाता है जिनमें रसतत्त्व का समावेश कठिनता से कल्पित होता है।

रहिमन अब वे विरिछ कहँ जिन की छाँह गँभीर।
वागन विच विच देखिअत सेहुँड़ कंज करीर।।

यह अन्योक्ति (अप्रस्तुतप्रशंसा) है जिसमें वाच्यार्थ ही इतना मनोरम है कि उसकी अपेक्षा यह व्यङ्ग्य कि उदार जन नहीं हैं, उनके स्थान पर तुच्छ लोगों से दुनिया भरी पड़ी है, गुणीभूत है। व्यङ्ग्य और वाच्य दोनों वस्तुरूप हैं। इस स्थिति में यहाँ रस का स्पर्श भी खोजना कठिन है। इस पद्य में व्यवहार का एक चित्रमात्र है। फिर भी कवि ने 'जगतगति' पर चिन्ता और विषाद भाव अवश्य व्यक्त किए हैं जिनका आधारभूत स्थायी भाव 'क्रोध' है। यह क्रोध व्यवस्था के प्रति आक्रोश के रूप में प्रकट हुआ है।

पण्डितराज ने रसगङ्गाधर के प्रथम सूत्र पर ही विचार करते हुए तर्क दिया है कि ऐसे काव्य सर्वथा वस्तुपरक होंगे, यदि इनमें भी रसस्पर्श माना गया तो अकाव्य कुछ न बचेगा। निश्चय ही व्यावहारिक भाषा में भी कुछ ऐसा नहीं कहा जा सकता जिसमें भावतत्त्व शून्य हो, परन्तु व्यावहारिक भाव भावित नहीं

करता और काव्यभाव भावित कर आस्वाद्य बनता है, यह अन्तर ही काव्य को अकाव्य से पृथक् करता है।

इहीं आस अटक्यो रह्यो अलि गुलाब के मूल।
ऐहैं फेरि वसंत रितु इन डारन वे फूल।। (बिहारी)

यहाँ भी रतिभाव में काव्यार्थ की परिणति है।

राग और द्वेष जीवन के व्यापक तत्त्व हैं और इन्हें ही काव्य में रति और क्रोध नामों से जाना जाता है। यह मान लिया जाता है कि क्रोध शत्रु के प्रति ही होता है अतएव उसकी व्याप्ति अल्प दिखाई पड़ती है। भरत ने क्रोध के भेद गिनाए हैं :

रिपुजो गुरुजश्चैव प्रणयिप्रभवस्तथा।
भृत्यजः कृतकश्चेति क्रोधः पञ्चविधः स्मृतः।। —ना० शा० 7/15

अर्थात् क्रोध पाँच प्रकार का होता है : शत्रुजनित, गुरुजनों से जनित, प्रणयी से जनित, भृत्यजनित और कृत्रिम। इन सबका रसात्मक परिपाक न होने पर भी काव्य हो सकता है क्योंकि 'रस' शब्द से भावों का भी ग्रहण हो जाता है। वस्तुतः स्थायी भाव की सत्ता होने पर यत्किंचित् रसबोध अनिवार्य है, अतएव भरत ने स्पष्ट कहा है :

न हि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। (ना० शा० 6/31-32)

अर्थात् रसहीन कोई काव्यार्थ प्रवृत्त नहीं होता।

कर लै सूँघि सराहि कै सबै रहे गहि मौन।
गंधी, गंध गुलाब कौ गवँई गाहक कौन।। (बिहारी)

यहाँ भी गंधी के प्रति राग और गँवारों के प्रति द्वेष का स्पर्श है, तभी इसे काव्य कहेंगे। हासभाव और हास्य रस तो है ही। सहृदय की भावयित्री प्रतिभा ही प्रमाण है जो भावनारूप है और वही आस्वाद का कारण है।

आचार्य मम्मट की काव्य-परिभाषा पर आगे विचार किया जायगा। वे काव्य में रस का आग्रह नहीं करते। उन्होंने कहीं-कहीं ऐसे उदाहरण भी दिए हैं जिनमें रस का लेश खोजना कठिन है फिर भी राग, द्वेष, हास और विस्मय ऐसे स्थायी भाव हैं जिनकी परिव्याप्ति खोजी जा सकती है। तात्पर्य यह कि क्षीणतम होकर भी रसात्मक परिणति काव्य का आवश्यक तत्त्व मान्य है।

गुणीभूतव्यङ्ग्य की अलंकारता

1. ध्वनिसिद्धान्त को हृदयंगम करने हेतु अलंकार और अलंकार्य शब्दों को तत्त्वतः समझ लेना चाहिए। अलंकार्य वह काव्यार्थ होता है जिसे अलंकृत करने में अलंकार का उपयोग होता है। काव्य-शोभा के पोषक तत्त्व को अलंकार कहा जाता है। ध्वनिसिद्धान्त में व्यङ्ग्य अर्थ ही अलंकार्य की पदवी पाता है अतः

व्यङ्ग्य यदि वाच्य की अपेक्षा में गौण दिखाई पड़े तो उत्तम काव्य नहीं होता। उदाहरण ऊपर आ चुके हैं।

2. दो व्यङ्ग्य हों, उनमें से एक प्रधान हो और दूसरा गुणीभूत हो जाय तो ध्वनि काव्य ही कहा जायगा। उस दशा में गुणीभूत व्यङ्ग्यार्थ प्रधानीभूत व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा में अलंकार का काम करेगा। उदाहरणार्थ :

राउ सुनाइ दीन्ह बनबासू।
सो सुनि भयउ न हरषु हरासू।।
सो सुत बिछुरत गए न प्राना।
को पापी बड़ मोहि समाना। (मानस)

यहाँ राम का वीर रस और दशरथ का करुण रस दो व्यङ्ग्य हैं। करुण प्रधान है। वीर उसका गुणीभूत व्यङ्ग्य अलंकार है। इस प्रकार ध्वनिमत में अलंकारों की व्यवस्था अनन्त हो जाती है। ऐसे स्थलों में प्रधानीभूत व्यङ्ग्य अलंकार्य कहा जायगा।

3. वस्तु, अलंकार और रसादि व्यङ्ग्यों का विगत अध्यायों में विवेचन हो चुका है। गुणीभूत होकर वे सभी अलंकार का कार्य कर चलते हैं और प्रधानीभूत अर्थ ही अलंकार्य रहता है।

(अ) कुंद इंदु सम देह, उमारमन करुना अयन।
जासु दीन पर नेह, करउ कृपा मरदन मयन।। (मानस)

यहाँ दैहिक वर्णन से 'पावनता', उमारमण से 'उल्लास', करुणायन से 'सहज कृपाशीलता', दीनस्नेह से 'कृपा के अवसर और पात्रता', मदनमर्दन से 'सर्वविघ्ननाशकता' के व्यङ्ग्य वस्तुरूप में आकर कविगत शिवभक्तिरूप प्रधान व्यङ्ग्य के अङ्ग (गुणीभूत) होकर अलंकार का कार्य करते हैं।

(आ) लोचन मग रामहि उर आनी।
दीन्हे पलक कपाट सयानी।। (मानस)

यहाँ रूपक अलंकार वाच्य है—जैसे कोई प्रेयसी अपने प्रिय को एकान्त मार्ग से ले जाकर सूने घर में पहुँचाती और फिर कोई देख न ले, इसलिए कपाट बन्द करके मिलती है। इससे व्यतिरेक अलंकार व्यङ्ग्य है—अन्य प्रेयसियाँ प्रिय को घर ला सकती हैं, जहाँ किसी के आने की संभावना बनी रहती है, सीता जी हृदय में प्रिय का दर्शन करती हैं जहाँ सर्वथा एकान्त है। यह व्यतिरेक रामविषयक सीता की रति का अङ्ग है।

(इ) रस के गुणीभूत होने का उदाहरण ऊपर (2 में) आ चुका है। इसी को ध्वनिमत में रसवत् अलंकार कहते हैं।

(ई) जब कोई भाव-व्यङ्ग्य गुणीभूत होकर आता है तब उसे 'प्रेयस्' अलंकार कहते हैं :

सबहि रामु प्रिय जेहि विधि मोही ।
प्रभु असीस जनु तनु धरि सोही ।।
विप्र सहित परिवार गोसाइं ।
करहिं छोहु सब रौरिहि नाइं ।। (मानस)

राजा दशरथ की रामविषयक रति प्रधान है। अन्य जनों की रति गुणीभूत है अतः प्रेयोलंकार है ।

(उ) रसाभास या भावाभास की अङ्गता में ऊर्जस्वी अलंकार बनता है :

ओंठु उँचै, हाँसी भरी दृग, भौंहन की चाल ।
मेरो मनु किन पी लियौ, पियत तमाकू लाल ।। (विहारी)

शृङ्गार रसाभास हास्य रस का अङ्ग है ।

(ऊ) भावशान्ति के गुणीभूत होने पर समाहित अलंकार होता है :

भूप मनोरथ सुभग बनु सुख सु विहंग समाजु ।
भिल्लिनि जिमि छाड़न चहति वचनु भयंकरु बाजु ।। (मानस)

राजा के हर्षभाव की शान्ति कैकेयी के कोप के प्रति गुणीभूत होकर चित्रित है ।

(ए) भावोदय व्यङ्ग्य भी गुणीभूत होकर अलंकार बनता है :

तासुवचन अति सियहि सोहाने ।
दरस लागि लोचन अकुलाने ।।
चली अग्र करि प्रिय सखि सोई ।
प्रीति पुरातन लखइ न कोई ।। (मानस)

सीता में औत्सुक्य भावोदय पुरातन प्रीति के प्रति गुणीभूत है ।

(ऐ) भावसन्धि की अलंकारता भी द्रष्टव्य है :

सुत सनेहु इत बचनु उत संकट परेउ नरेसु ।
सकहु त आयसु धरहु सिर मेटहु कठिन कलेसु ।। (मानस)

यहाँ दशरथ में पुत्रवात्सल्य और वचनपालन की धृति की सन्धि है जो कैकेयी के अमर्ष के प्रति गुणीभूत है ।

(ओ) इसी प्रकार भावशबलता का भी गुणीभाव खोजा जा सकता है :

4. सभी वाच्य अलंकारों में कुछ-न-कुछ व्यङ्ग्य का योग रहता है, तभी उनको काव्यालंकार कहा जाता है । जैसे, राम की ऊँचाई श्याम की ऊँचाई के समान कही जाय तो उसमें केवल गणितीय तथ्यनिरूपण होने से उपमा तो होगी, परन्तु वहाँ उस उपमा को काव्यालंकार नहीं कहा जा सकता । इसके विपरीत काव्यालंकार का उदाहरण द्रष्टव्य है :

लताभवन तें प्रकट भे तेहिं अवसर दुहुँ भाइ ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ ।। (मानस)

इसमें चन्द्र और राजकुमारों का आकर्षण, विलक्षण सौन्दर्य और आह्लादकत्व आदि व्यङ्ग्य रूप से उपस्थित हैं।

अर्थ-व्यञ्जना के आधार

ध्वनिकाव्य हो या गुणीभूतव्यङ्ग्य हो, दोनों में व्यङ्ग्यार्थ का गौरव मान्य है। यह अर्थ व्यञ्जना नामक शब्दव्यापार से आता है। देखा जा चुका है कि शब्द-शक्तिज अभिधामूला व्यञ्जना नियन्त्रित अभिधा के कारण होती है, परन्तु अर्थ-शक्तिज व्यञ्जना के आधार भी विचारणीय हैं। आचार्य मम्मट ने दस वैशिष्ट्यों के आधार पर अर्थव्यञ्जना का प्रतिपादन किया है।[1]

वक्ता का वैशिष्ट्य

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन रामु हृदयँ गुनि।।
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही।
मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्हीं।। (मानस)

वक्ता राम के वैशिष्ट्य से व्यक्त होता है कि राम स्वयं अपने ऊपर भी काम-विजय मान्य करते हैं।

श्रोता (बोद्धव्य) का वैशिष्ट्य

पुनि आउब एहि बेरियाँ काली। (मानस)

यहाँ श्रोता के रूप में सीताजी के वैशिष्ट्य से व्यञ्जना होती है कि आज विलम्ब हो रहा है, चलना चाहिए, कल फिर देख लेना।

काकु-वैशिष्ट्य

लाभ कि रघुपति भगति अकुंठा। (मानस)

यहाँ काकु (कण्ठध्वनिविशेष) की प्रश्न में समाप्ति हो जाती है और फिर भक्ति की लोकोत्तरता व्यक्त होती है।

वाक्य का वैशिष्ट्य

नैकु उतै उठि बैठिऐ कहा रहे गहि गेहु।
छुटी जाति नहँदी छिनकु महँदी सूकन देहु।। (बिहारी)

पूरे वाक्य की विशिष्ट योजना से व्यङ्ग्य है कि नायक के समीप रहने से नायिका उँगलियों तक पसीने में भीग जाती है।

वाच्य का वैशिष्ट्य

तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी।
यह सँजोग विधि रचा बिचारी ।। (मानस)

वाच्यार्थ की योजना ही व्यञ्जक है जिससे शूर्पणखा की तीव्र संभोगेच्छा व्यक्त होती है।

अन्य-सन्निधि-वैशिष्ट्य

न सखी घर साँझ सवेरे रहैं
घनस्याम घरी घरी घेरे रहैं। (पद्माकर)

आस पास कहीं उपस्थित प्रच्छन्न कामुक को ध्यान में रखकर कोई कुलटा भरे घर में कह रही है जिससे व्यञ्जना होती है कि सायंकाल और प्रातः काल जब मेघ बरसने वाले हों तब घर पर आना निर्द्वन्द्व है।

प्रस्ताव (प्रसङ्ग) का वैशिष्ट्य

उदाहरण 1, 2, 4, 5 और 6 में यह वैशिष्ट्य भी है।

देश (स्थान) का वैशिष्ट्य

घामु घरीक निवारिऐ कलित ललित अलिपुंज।
जमुना तीर तमाल तरु मिलित मालती कुंज ।। (विहारी)

यहाँ स्थान की उपयुक्तता वताकर कोई कामुकी व्यक्त करना चाहती है कि मिलन का उपयुक्त अवसर है।

काल का वैशिष्ट्य

देखि दुपहरी जेठ की छाहौ चाहति छाँहि। (बिहारी)

सूनी दोपहरी का समय मिलन हेतु उपयुक्त है, यह व्यञ्जना होती है।

चेष्टा का वैशिष्ट्य

लखि गुरुजन बिच कमल सौं सीसु छुवायौ स्याम।
हरि सनमुख करि आरसी हिएँ लगायी वाम ।। (बिहारी)

यहाँ नायक द्वारा कमल के शिरःस्पर्श से नायिका के प्रति प्रणत प्रार्थना व्यक्त होती है और नायिका की चेष्टा से व्यञ्जना होती है कि दर्पण में प्रतिबिम्ब के समान तुम मेरे हृदय में वास करते हो।

ऊपर के वैशिष्ट्य प्रायः एक साथ अनेक देखे जाते हैं जिसे सातवें उदाहरण

के संदर्भ में देखा गया है। ऊपर 'देश का वैशिष्ट्य' वाले उदाहरण में वक्ता, देश-काल, प्रस्ताव और वाक्य का एक साथ वैशिष्ट्य है। स्पष्टता के लिए ही अनेक उदाहरण खोजे गये हैं।

ध्वनि-सिद्धान्त में भरत की परम्परा मान्य रही है, अतः उसमें रसध्वनि का सर्वोपरि महत्व है। इस वर्ग को 'असंलक्ष्यक्रम' नाम से विगत अध्याय में देखा जा चुका है जिसमें रस-विवेचन पूर्णतया नहीं किया गया है। आगामी अध्याय में रसतत्त्व पर विचार होगा।

सन्दर्भ

1. 'अर्था: प्रोक्ताः पुरा तेषामर्थव्यञ्जकतोच्यते ।
वक्तृ-बोद्धव्य-काकूनां वाक्य-वाच्यान्य-सन्निधेः ।।
प्रस्ताव-देश-कालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ।
योर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ।।—'काव्यप्रकाश', 3/21-22.

रस-विचार

विचारपूर्वक देखा जाय तो 'रस' ही काव्य को अकाव्य से पृथक् करता है। विगत अध्यायों में जो भी वस्तुव्यङ्ग्य और अलंकारव्यङ्ग्य के संदर्भ देखे गए हैं, उनमें भी अन्तिम रूप से कोई-न-कोई रस परिव्याप्त देखा जाता है, भले ही उसकी व्यञ्जना 'असंलक्ष्यक्रम' रूप में न होकर लक्ष्यक्रम होती हो अर्थात् सीधे वाच्य से न आकर व्यङ्ग्यार्थ की परम्परा से रस निकलता हो। उदाहरणार्थ :

ज्यों-ज्यों पट झटकति हठति नटति नचावति नैंन।
त्यों-त्यों अधिक उदारहू फगुआ देत बनै न।। (विहारी)

यहाँ वस्तुव्यङ्ग्य ही प्रधान है कि नायक नायिका के चेष्टा-सौन्दर्य को देखता ही रहना चाहता है। काव्यार्थ इसके भी आगे वढ़ जाता है जब उसी वस्तुध्वनि से नायिका के प्रति नायक के अनुराग की व्यञ्जना (गौण होकर भी) होती है जिससे शृङ्गार रसाभास बनता है।

कहलाने एकत बसत अहि-मयूर मृग-बाघ।
जगतु तपोबन सो कियौ दीरघ-दाघ निदाघ।। (बिहारी)

काल-वैशिष्ट्य और कुलटा के वक्तृत्व से प्रच्छन्न सुरत की प्रार्थना वस्तुरूप में प्रधान व्यङ्ग्य है और उसकी परिणति शृङ्गार रसाभास में देखी जाती है।

जरहिं विषम जर लेहिं उसासा।
कवनि राम बिनु जीवन आसा।। (मानस)

इसमें रूपक या उपमा अलंकारध्वनि पर विचार हो चुका है, परन्तु राम के प्रति नगरवासियों का रतिभाव ही अन्तिम व्यङ्ग्य है।

जहाँ मुख्य रूप में व्यभिचारी भाव व्यङ्ग्य होते हैं, वहाँ भी कोई-न-कोई स्थायी भाव कारण रूप में व्यङ्ग्य रहता है, अत: किसी-न-किसी स्थायीभाव की चरम व्यञ्जना सार्वत्रिक है। ऐसी स्थिति में स्थायी भावों और रसों पर विचार ही काव्यार्थ का मुख्य विचार कहा जा सकता है। यही कारण है कि भरतमुनि ने स्पष्ट कहा है कि—'न रसाद् ऋते कश्चिदर्थ: प्रवर्तते' (ना० शा० 6)—रस से रहित कोई काव्यार्थ नहीं होता।

रस का स्वरूप

प्रथम अध्याय में भरत पर विचार करते हुए संक्षेप में रस का स्वरूप समझा जा चुका है। इस संदर्भ में उसका पुनराकलन आवश्यक है क्योंकि रस-विभाग पर तथा निष्पत्ति पर विचार हेतु उसकी उपस्थापना अपेक्षित है और साथ ही भरत के व्याख्याताओं में रस के स्वरूप को लेकर पर्याप्त मतभेद भी उसकी अपेक्षा रखता है। सर्वसम्मत परिभाषा 'रस' शब्द में ही निहित है :

रस्यते (आस्वाद्यते) इति रसः।

अर्थात् जो आस्वाद का विषय हो, वह रस है। काव्य में स्थायी भाव ही आस्वाद्य होता है अतः वही रस है। यहाँ प्रश्न उठता है कि जब स्थायी भाव ही रस है तब दो नाम रखने की क्या आवश्यकता, एक ही से व्यवहार चलाया जा सकता है। इसके उत्तर में कहा जाएगा :

(क) स्थायी भाव लोक-व्यवहार में भी व्याप्त है जबकि रस केवल काव्य की वस्तु है।

(ख) अनास्वाद्य स्थायी भाव काव्य में भी हो तो भी उसे रस नहीं कह सकते :

रामहि केवल प्रेम पियारा। (मानस)

में प्रेम (रतिभाव) वाच्यरूप में आकर 'रस' नहीं बनता, जबकि 'बरोरू', 'मृगलोचनी' आदि शब्दों के प्रयोगमात्र से आने वाला रतिभाव शृङ्गार रस के रूप में आस्वादनीय हो सकता है।

(ग) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव ये तीन सम्मिलित रूप से रस-सामग्री बनते हैं। रस-सामग्री के माध्यम से आस्वाद-योग्यता पाने वाला स्थायी भाव ही रसरूप लेता है। अतएव भरत का सूत्र है :

विभावानुभाव-व्यभिचारि-संयोगाद् रसनिष्पत्तिः।

इस प्रकार :

1.	विभावादि-संयुक्त	रति	स्थायी	शृङ्गार रस	होता है।
2.	,,	हास	,,	हास्यरस	,,
3.	,,	शोक	,,	करुणरस	,,
4.	,,	क्रोध	,,	रौद्ररस	,,
5.	,,	उत्साह	,,	वीररस	,,
6.	,,	भय	,,	भयानकरस	
7.	,,	जुगुप्सा	,,	वीभत्स रस	,,
8.	,,	विस्मय	,,	अद्भुत रस	,,
9.	,,	शम (निर्वेद)	,,	शान्त रस	,,

(घ) आगे रस-निष्पत्ति के संदर्भ में देखा जायेगा कि प्रमुख चार मतों में पारिभाषिक ऐकमत्य नहीं है। यहाँ रसस्वरूप की वह विविधता द्रष्टव्य है :

1. भट्टलोल्लट के अनुसार विभावादि सामग्री के संयोग से अनुकार्य में उत्पन्न स्थायी भाव रस है जिसका सहृदय आस्वाद पाता है। इस प्रकार काव्य या नाट्य में अनुकृत पात्र (आश्रय) का स्थायी भाव ही रस है, लोकव्यवहार का स्थायी नहीं। इस मत में कवि अथवा नट और सहृदय में रस की स्थिति अमान्य रहती है। कवि अथवा नट द्वारा काव्य या नाट्य में जिस पात्र का अनुकरण होता है, उसी में रस की उत्पत्ति मान्य है।

2. भट्टनायक आदि नैयायिक अनुकारक—कवि या नट—द्वारा अनुकृत और उसी में अनुमित स्थायी भाव को 'रस' नाम देते हैं जिसका आस्वाद सहृदय को होता है। यहाँ भी लोकव्यवहार का स्थायी तब तक रस नहीं है जब तक वह अनुकरण में न लाया जाय।

3. भट्टनायक के अनुसार साधारणीकृत स्थायीभाव ही 'रस' नाम पाता है जिसका भोग या आस्वाद सहृदय को होता है।

4. अभिनवगुप्त आदि ध्वनिवादी आचार्यों के मत से विभावादित्रय से अभिव्यक्त सहृदय का ही वासनारूप स्थायी भाव 'रस' कहा जाता है।

यह तथ्य सर्वसम्मत है कि लोक का स्थायीभाव काव्य या नाट्य में ही रसरूप प्राप्त करता है।

रस-सामग्री

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव—ये तीन—रस-सामग्री हैं। स्थायीभाव के आधार पर इनका स्वरूप इस प्रकार बनता है : (1) लोक में जो स्थायी का कारण होता है, उसे काव्य में विभाव कहते हैं। (2) लोक में स्थायी की कार्यरूप चेष्टाएँ काव्य में अनुभाव नाम से ज्ञातव्य हैं। (3) लोक में स्थायी के सहकारी भाव काव्य में व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं।[1] स्थायी और व्यभिचारी (संचारी) दोनों भाव हैं, अतः इनमें से किसी की कारणसामग्री को विभाव और कार्यसामग्री को अनुभाव नाम से काव्य में जाना जाता है। तात्पर्य यह कि विभाव भाव का पूर्ववर्ती तथा अनुभाव उस का परवर्ती है। उदाहरणार्थ :

आजु सुभायन ही गई बाग, बिलोकि प्रसून की पाँति रही पगि।
ताही समै तहँ आए गोपाल, तिन्है लखि औरौ गयौ हियरौ ठगि ॥
पै द्विजदेव न जानि परयौ धौं कहा तेहि काल परे अँसुआ जगि।
तैं जो कहै सखि लोनौ सरूपु सो मो अँखियान में लोनी गई लगि ॥

नायिका में नायक-विषयक रति स्थायी भाव है जिसका आलम्बन विभाव (कारण) नायक है, उद्दीपन विभाव कुसुमावलि, एकान्त आदि हैं जो भाव की

उत्पादक सामग्री हैं। नायिका का कथन, अश्रु आदि अनुभाव हैं जो भाव से उत्पन्न कार्य हैं। भाव न होता तो ये चेष्टारूप अनुभाव भी न होते। हृदय के ठग जाने में 'जड़ता', अनिश्चय की स्थिति में 'वितर्क' और अन्तत: निर्णय में 'मति' व्यभिचारी भाव हैं। इन सबसे परिपुष्ट स्थायी भाव सहृदय द्वारा आस्वादयोग्य बनता है, अत: शृङ्गार रस है।

भाव

लोकव्यवहार की दृष्टि से किसी में उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति भाव है (भवतीति भाव:)। काव्य में आकर वही भाव रसिक को भावित या वासित कर तन्मय बनाता है (भावतीति भाव:)।[2] यही लौकिक भाव और काव्यभाव में अन्तर है। इसी आधार पर काव्यभाव को अलौकिक कहते हैं। यों तो भाव (चित्तवृत्ति) अनन्त हैं, परन्तु सहृदय का भावन करने वाले भाव 42 हैं—9 स्थायी और 33 व्याभिचारी। इनमें आठ सात्त्विक भी जोड़ लें तो संख्या पचास होती है, परन्तु सात्त्विकभाव अनुभावरूप हैं अत: 42 ही को काव्यभाव मानकर विचार किया जाता है।

स्थायी भाव

कोई भाव स्थायी क्यों कहा जाता है? सर्वप्रथम बात तो यही है कि वह व्यभिचारी भावों का कारण (विभाग) होता है—अनेक व्यभिचारी आते-जाते रहते हैं, जबकि वह सभी का आधार बना रहता है। दूसरी बात है कि काव्य में स्थायी भाव ही रसरूप से सहृदय द्वारा आस्वादित होता है: 'रसावस्थ: परं भाव: स्थायितां प्रतिपद्यते'। तीसरा तथ्य यह है कि रसानुभूति में स्थायी आद्यन्त व्याप्त रहता है जबकि व्यभिचारी भाव उसी में आते-जाते रहते हैं, विरोधी और अविरोधी भाव स्थायी में इस प्रकार उठते-गिरते हैं जैसे सागर में तरङ्ग, स्थायी सभी व्यभिचारियों को आत्मलीन किये रहता है, स्थायी अविच्छिन्न स्थिति रखता है।[3]

व्यभिचारी भाव

विशेषत: स्थायी के अभिमुख या अनुकूल संचरणशील होने वाले भाव व्यभिचारी होते हैं जो स्थायिसागर में तरङ्गवत् उठते-गिरते रहते हैं।[4]

विभाव

उक्त दोनों प्रकार के भावों के कारण को विभाव कहते हैं: लोक में भाव का कारण काव्य में विभाव कहा जाता है। इन्हें दो वर्गों में विभक्त किया जाता है:

उत्पादक कारण को आलम्बन और उद्दीपक कारण को उद्दीपन नाम से जाना जाता है। ऊपर उदाहरण द्रष्टव्य है। विभाव होने के लिए इतना ही आवश्यक है कि वह किसी भाव का कारण बनता हो, फिर चाहे वह भाव ही क्यों न हो, दूसरे भाव का कारण है तो उस भाव का विभाव कहा जायगा; जैसे: स्थायी भाव सदैव व्यभिचारी की अपेक्षा में विभाव रहता है, व्रीडा भाव अवहित्थ का विभाव है।

अनुभाव

भाव के कार्य को अनुभाव कहते हैं जिससे भाव की सत्ता का बोध होता है। एक भाव भी दूसरे भाव का अनुभाव हो सकता है। व्यभिचारी भाव स्थायी के कार्य हैं, अतः वे उसके अनुभाव होते हैं। इसी प्रकार अवहित्थ आदि को व्रीडा आदि का अनुभाव कहा जा सकता है। नाट्य में अनुभाव ही अभिनय में लाये जाते हैं जिनके चार वर्ग हैं:

सात्त्विक भाव : इन पर प्रथम अध्याय में विचार हो चुका है।

आङ्गिक अनुभाव

हँसत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं नैननं ही सब बात।। (बिहारी)

यहाँ नेत्रों की विविध चेष्टाएँ आङ्गिक अनुभाव हैं जिनसे रतिभाव सूचित होता है।

वाचिक अनुभाव

रघुवंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई।
तेहिं समान अस कहइ न कोई।। (मानस)

में वाणी द्वारा अमर्ष की व्यञ्जना हुई है।

आहार्य अनुभाव : उक्त तीनों से भिन्न अनुभाव इस वर्ग में आते हैं जिसमें बाहरी वस्तु के ग्रहण आदि का समावेश हो जाता है : जैसे, व्रीडा में फूल आदि से खेलना, क्रोध में अस्त्र आदि उठाना, शोक में या विरह में भूमिलेखन इत्यादि।

ऊपर रस-सामग्री का सामान्य विवेचन किया गया। रस-निष्पत्ति के चार मतों के आधार पर विचार किया जाय तो विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के स्वरूप-निरूपण में अन्तर पाया जायगा :

1. भट्टलोल्लट के अनुसार अनुकार्यगत स्थायी के कारण को विभाव, कार्य को अनुभाव और पोषक या सहकारी भाव को व्यभिचारी भाव कहा जायगा। अनुकार्य की उपस्थिति अनुकारक (कवि या नट) के माध्यम से होती है, उसी में विभावादि अपना-अपना स्वरूप प्राप्त करते हैं।

2. भट्टशंकुक के मत से अनुकृत कारण, कार्य और सहकारी भाव क्रमशः

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव होते हैं। उन तीनों से अनुकार्य का स्थायी भाव अनुकृत होता है और उन्हीं तीनों से सहृदय द्वारा अनुमित होकर 'रस' नाम पाता है।

3. भट्टनायक साधारणीकृत कारणादि को विभावादि कहते हैं। साधारणीकृत स्थायी भाव ही 'रस' कहा जाता है।

4. अभिनव आदि ध्वनिवादियों के मत से काव्य में आये हुए कारणादि विभावादि कहे जाते हैं और उनके द्वारा रसिक की स्थायी वासना अभिव्यक्त होती है, इसी से विभावादि नाम की सार्थकता है।

रस के भेद

ध्वनिमत में शान्तिसहित नौ रस मान्य हैं जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है। नाट्य में शान्त को छोड़कर आठ रस ही भरत ने परिगणित किये हैं। भरत ने शृङ्गार, रौद्र, वीर, और वीभत्स रसों से क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक की उत्पत्ति बतायी है।[5] इससे यह भ्रम न होना चाहिए कि चार ही मूल रस हैं। भरत का अभिप्राय केवल इतना रहा है कि नाटक आदि में उक्त चार से शेष चार की उत्पत्ति देखी जाती है और उससे सौन्दर्य में अधिकता आ जाती है (यों सभी स्थायी भाव स्वतन्त्र हैं, अतः सभी रस स्वतन्त्र हैं)। उन्होंने स्पष्ट कहा है :

तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः।। (ना० शा० 6/36)

अर्थात् सभी रस भावों के मूल हैं। भरत ने और भी कहा है : शृङ्गार की अनुकृति हास्य है, रौद्र का कर्म करुण होता है, वीर का कर्म अद्भुत कहा जाता है और वीभत्स का दर्शन भयानक है।[6] इसको दशरूपक 4/43-44 पर अधिक स्पष्ट किया गया है।

इन तथ्यों को उदाहरणों में देखा जा सकता है :

शृङ्गारानुकृति हास्य

जप तप कछु न होइ तेहिं काला।
हे विधि मिलै कवन विधि बाला।। (मानस)

यहाँ नारद का रतिभाव अनुचित है, अतः शृङ्गार रसाभास अथवा शृङ्गार का अनुकरण है जिसकी परिणति हास्य रस में होती है। इस प्रकार शृङ्गारानुकृति हास्य का विभाव बन जाती है। भक्ति के प्रसंगों को छोड़कर सर्वत्र परकीया-चित्रणों में ऐसे ही हास्य का योग रहता है। मानस में शूर्पणखा-प्रकरण इसका अच्छा उदाहरण है। सीता के प्रति रावण का रतिभाव हास्य में नहीं परिणत हो पाता क्योंकि वह प्रबल क्रोध का आलम्बन बना रहता है। फिर भी :

तेहि अवसर रावनु तहँ आवा ।
संग नारि बहु किए बनावा ।।

में हास्य का पुट बना ही रहता है ।

रौद्र-कर्म करुण

सौरभ पल्लव मदनु बिलोका ।
भयउ कोपु कंपेउ त्रैलोका ।
तब सिवँ तीसर नयन उघारा ।
चितवत कामु भयउ जरि छारा ।। (मानस)

शिव के रौद्र रस से कामदाह होता है, अतः रौद्र-कर्म ही करुण रस में परिणत देखा जाता है । रति-विलाप उसी का प्रपञ्चन है ।

वीर-कर्म अद्भुत

लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़ें ।
काहु न लखा देख सबु ठाढ़ें ।।
तेहि छन राम मध्य धनु तोरा ।
भरे भुवन धुनि घोर कठोरा ।। (मानस)

धनुर्भङ्ग राम का वीर-कर्म है जो विस्मयपूर्ण अद्भुत रस में परिणत देखा जाता है ।

वीभत्स-दर्शन भयानक

मज्जहिं भूत पिसाच बेताला । प्रथम महा झोटिंग कराला ।।
काक कंक लै भुजा उड़ाहीं । एकते छीनि एक लै खाहीं ।।
खैंचहिं गीध आँत तट भए । जनु बंसी खेलत चित दए ।।
बहु भट बहहिं चढ़े खग जाहीं । जनु नावरि खेलहिं सरि माहीं ।।
जोगिनि भरि-भरि खप्पर संचहिं । भूत पिसाच बधू नभ नंचहिं ।।
जंबुक निकर कटक्कट कट्टहिं । खाहिं हुआहिं अघाहिं दपट्टहिं ।।(मानस)

यहाँ वीभत्स-चित्र ही प्रमुख है जिससे भयानक की निष्पत्ति प्रकट है ।

चार रसों की चार रसों के साथ अन्योन्याश्रय-स्थिति को छोड़ कर भी सभी रस स्वतन्त्र देखे जाते हैं जिन पर अब विचार अपेक्षित है ।

नव-रस

शृङ्गार रस

यह रस दाम्पत्य-रति से निष्पन्न होता है । पति का पत्नि के प्रति या पत्नि का पति के प्रति रति भाव स्थायी होता है । भट्ट लोल्लट के अनुसार

विभावादि से अनुकार्य (आश्रयरूप पति या पत्नी) में उत्पन्न हुआ रतिभाव ही शृङ्गार रस है। शंकुक के मत से अनुकृत विभावादि से अनुकृत रति स्थायी अनुकारक में अनुमित होकर शृङ्गार रस बनता है। भट्टनायक के भावकत्व-सिद्धान्त में कहा जायगा कि साधारणीकृत विभावादि के साथ साधारणीकृत रति-भाव शृङ्गार रस है। अभिनवगुप्त आदि ध्वनिवादियों के अनुसार विभावादि द्वारा अभिव्यक्त सहृदय का वासनारूप रतिभाव शृङ्गार रस होकर आस्वादित होता है। शृङ्गार रस प्रथमतः दो प्रकार का होता है : संभोग और विप्रलम्भ। विप्रलम्भ के तीन प्रकार मान्य हैं : पूर्वराग, मान और प्रवास। इस प्रकार चार भेद हैं।

पूर्वराग : विवाह से पूर्व नायक-नायिका का परस्पर अनुराग पूर्वराग कहा जाता है। काव्य में विभावादि के योग से वही शृङ्गार रस के रूप में आस्वादित होता है :

लता ओट तब सखिन्ह लखाए।
स्यामल गौर किसोर सुहाए।।
देखि रूप लोचन ललचाने।
हरषे जनु निज निधि पहिचाने।।
थके नयन रघुपति छबि देखें।
पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें।। (मानस)

यहाँ सीता आश्रय, राम आलम्बन विभाव, एकटक देखना आदि अनुभाव, औत्सुक्य, हर्ष, जड़ता आदि व्यभिचारी भाव हैं जिनसे युक्त रति स्थायी भाव शृङ्गार रस के रूप में सहृदय द्वारा आस्वादित होता है।

मान : प्रणयकोप को मान कहते हैं :

बाल कहा लाली भई लोयन कोयन माँहि।
लाल तिहारी दृगन की परी दृगन में छाँहि।। (बिहारी)

नायक आलम्बन विभाव, उसके उनींदे नेत्र उद्दीपन, वाचिक अनुभाव, अमर्ष, असूया आदि व्यभिचारी से संयुक्त रति स्थायी मान-शृङ्गार रस के रूप में आस्वादित होता है।

प्रवास : पति का परदेश जाना प्रवास है। किसी अन्य कारण से भी कान्त और कान्ता का दूर रहना प्रवास में आता है :

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा।
जानत प्रिया एक मनु मोरा।।
सो मनु रहत सदा तव पाहीं।
जानु प्रीतिरस एतनेइ माहीं।। (मानस)

राम आश्रय, सीता आलम्बन, वाचिक अनुभाव, चिन्ता आदि व्यभिचारी के

योग से प्रवास-रति का शृङ्गार रूप में ग्रास्वादन होता है।

संभोग : अनुकूल स्थिति में दम्पत्ति का मिलन संभोग कहा जाता है जिसका विस्तृत विवेचन कामशास्त्र में देखा जाता है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा :

जो तुम चाहौ सो करौ ना जानौं भल मन्द।
जो भावै सो होइ मोहि तुम पिउ चहौं ग्रनन्द ।। (जायसी)

हास्य रस

हास नाम स्थायी भाव हास्यरस के रूप में ग्रास्वादित होता है। भट्टलोल्लट के मत से ग्रनुकार्यगत (आश्रयगत) उत्पन्न हास ही रस है, भट्टशंकुक के ग्रनुसार ग्रनुकारक द्वारा अनुकृत ग्रौर उसी में सहृदय द्वारा ग्रनुमित स्थायी हास्यरस है, भट्टनायक का ग्रभिमत है कि साधारणीकृत हास ही हास्यरस है और ध्वनिमत में सहृदय की ग्रभिव्यक्त हासवासना हास्यरस होकर आस्वादित होती है। इस रस के विभावादि पर विशेष विचार ग्रपेक्षित है।

(क) विकृत चेष्टा, वचन ग्रादि ग्रथवा उनका कर्त्ता यहाँ विभाव होता है। मुख्यतया हास्यरस में इसी का चित्रण देखा जाता है। कवि-कल्पना विभाव को ही प्रस्तुत करने में परिसमाप्त देखी जाती है।

(ख) उक्त चेष्टा ग्रादि देखने वाला आश्रय ही ग्रनुभाव का ग्राधार हो सकता है जिसमें मुख-विकार ग्रादि से हासकी प्रतीति हो, परन्तु चित्रों में ग्रनुभाव-योजना का महत्त्व नहीं देखा जाता। कहीं-कहीं ग्रनुभावचित्र देखे जाते हैं, परन्तु उनका महत्त्व ग्रल्प ही रहता है :

मुनि ग्रति विकल मोहँ मति नाठी।
मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी।।
तब हरगन बोले मुसुकाई।
निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई।। (मानस)

यहाँ प्रथम अर्धाली में नारद (विभाव) का चित्रण ही हास्य के लिए पर्याप्त है, दूसरी ग्रर्धाली द्वारा रुद्रगणों की मुस्कुराहट ग्रौर वचन अनुभावरूप में वर्णित हैं, पर उनके बिना भी हास्य में कमी नहीं आ सकती :

मरकट बदनु भयंकर देही

इतना ही हास्य के लिए पर्याप्त है। ऐसी स्थिति में कवि ग्रथवा रसिक को ही हासभाव का ग्राश्रय मानना चाहिए, अनुभावयोजना काव्य में ग्रपेक्षित नहीं।

(ग) भरत ने ग्रनुभाव की दृष्टि से विशद एवं विस्तृत विवेचन करते हुए उत्तम जनों में स्मित ग्रौर हसित, मध्यम प्रकृति वालों में विहसित ग्रौर उपहसित तथा ग्रधम जनों में अपहसित और अतिहसित की व्यवस्था दी है :

1. स्मित वह धीर हास है जिसमें कपोलों का स्वल्प विकास, कटाक्ष-सौष्ठव

रहता है, दाँत नहीं खुलते ।

2. हसित में कपोलों का अधिक विकास तथा मुख और नेत्रों की उत्फुल्लता देखी जाती है ।
3. विहसित में मुख का रङ्ग बदलता, नेत्रों और कपोलों में सिकुड़न आती तथा मधुर ध्वनि होती है ।
4. उपहसित में अङ्गों तथा मस्तक में सिकुड़न, नेत्रों में वक्रता और नासिका में उत्फुल्लता देखी जाती है ।
5. अपहसित अनवसर-हास्य है जिसमें कन्धे और सिर काँप उठते तथा आँसू आ जाते हैं ।
6. अतिहसित में आँसू, उद्धत देहकम्प, विकृत स्वर आदि दृश्य बनते हैं और हँसने वाला हाथों से पसलियों को दबा कर उछाल रोकने का प्रयास करता देखा जाता है ।

ऊपर छह वर्गों में हास के अनुभावों को देखा गया, परन्तु ऐसा भी देखा जाता है कि अत्यन्त धीर पुरुष एक भी चेष्टा नहीं करते, मन में ही हँस लेते हैं :

मनहीं मन महेसु मुसुकाहीं । (मानस)

इसे कुशल जन ही जान पाते हैं ।

(घ) हर्ष, श्रम, धृति आदि व्यभिचारी भाव हास के पोषक हैं, परन्तु अनुभावों के समान ही इनका भी चित्रण नहीं देखा जाता ।

(ङ) सारांश यह कि हास्य में विकृत अङ्ग, विकृत चेष्टा और विकृत वचन की योजना ही पर्याप्त रहती है, उन्हीं से रसानुभूति सम्पन्न हो जाती है ।

करुण रस

करुण रस का स्थायी भाव शोक है जो शाप, क्लेश, प्रिय-वियोग, विभवनाश, संकट आदि विभावों से जनित होता है । अश्रु, विलाप, मुख-शोष, वैवर्ण्य, निःश्वास, मोह आदि उसके अनुभाव हैं । निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, भ्रम, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जड़ता, उन्माद, अपस्मार त्रास, आलस्य, मरण आदि व्यभिचारी भाव हैं । भट्टलोल्लट अनुकार्य में उत्पन्न शोक को, भट्टशंकुक अनुकारक द्वारा अनुकृत और उसी में अनुमित शोक को, भट्टनायक साधारणीकृत शोक को तथा अभिनव आदि सहृदय में व्यक्त उसके वासनात्मक शोक को करुण-रस मानते हैं ।

पति सिर देखत मंदोदरी ।
मुरुछित बिकल धरनि खसि परी ।।
जुवति बृंद रोवत उठि धाईं ।
तेहि उठाइ रावन पहिं आईं ।।

पति गति देखि ते करहिं पुकारा।
छूटे कच नहिं बपुष सँभारा।।
उर ताड़ना करहिं बिधि नाना।
रोवत करहिं प्रताप बखाना ।। (मानस)

रावण-मरण विभाव है। मूर्छा, रोदन, बिखरे केश, शरीर-शिथिलता, हृदय-ताड़न आदि अनुभाव हैं। स्मृति, चिन्ता, दैन्य, मोह, आवेग आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे नसंयुक्त मन्दोदरी आदि का शोक रसिक में करुण रस होता है।

कुछ स्थितियों में आत्यन्तिक प्रिय-वियोग न होने पर भी यदि किसी कारण वैसा समझा जाता है तो भी करुण की निष्पत्ति होती है। उदाहरणार्थ स्वप्न-वासवदत्ता नाटक में वासवदत्ता जीवित है फिर भी राजा उदयन को उसके मरण का ही ज्ञान रहता है, अत: तब तक करुण की व्याप्ति रहती है जब तक वासवदत्ता मिलती नहीं। इसको 'करुण विप्रलम्भ' कहा जाता है। राम के प्रवास से दशरथ को इसलिए शोक होता है कि उन्हे अपने जीवित बचने का विश्वास नहीं रहता अत: वहाँ करुण रस देखा जाता है। कौसल्या आदि में करुण न मान कर वियोग रति ही मानना चाहिए क्योंकि वहाँ मिलने की आशा विद्यमान है।

रौद्र रस

रौद्र का स्थायी भाव क्रोध है जो राक्षस, दानव और उद्धत मनुष्य में देखा जाता है (उत्तम प्रकृति में उत्साह के साथ अमर्ष हो सकता है, क्रोध नहीं)। इसमें धर्षण, तिरस्कार, आघात, कठोर वचन आदि विभाव हैं। लाल आँखें, भृकुटी, दाँतों और ओठों का निपीडन, मुट्ठी कसना, हाथ मलना, स्पन्दन आदि अनुभाव होते हैं। मोह, आवेग, उत्साह, चपलता, अमर्ष, उग्रता, गर्व आदि व्यभिचारी भाव हैं। अनुकार्य में उत्पन्न (लोल्लटमत से) या अनुकारक में अनुमित (शंकुकमत से) या साधारणीकृत (भट्टनायकमत से) अथवा रसिक में अभिव्यक्त (ध्वनिमत से) क्रोध स्थायी रौद्र रस के रूप में आस्वादित होता है।

रे खल का मारसि कपि भालू।
मोहि बिलोकु तोर मैं कालू ।।
खोजत रहेउँ तोहि सुतघाती।
आजु निपाति जुड़ावउँ छाती।। (मानस)

लक्ष्मण के क्रोध का चित्रण है जिसका आलम्बन रावण है। वाचिक अनुभावों के साथ उग्रता, अमर्ष और आवेग व्यभिचारी भाव हैं।

वीर रस

उत्तम-प्रकृति वाला पुरुष ही वीर रस का आश्रय है, उत्साह स्थायी भाव है,

असंमोह, अध्यवसाय, न्याय, विनय, पराक्रम, शक्ति, प्रताप, प्रभाव आदि विभाव हैं; स्थिरता, शूरता, त्याग, विलक्षण कर्म आदि अनुभाव हैं; धृति, मति, गर्व, आवेग, अमर्ष, उग्रता, स्मृति आदि सहकारी भाव हैं। वीर रस के भरत ने तीन भेद माने हैं : दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर। भट्टलोल्लट के अनुसार अनुकार्य में उत्पन्न, शंकुक के अनुसार अनुकारक में अनुमित, भट्टनायक के मत से साधारणीकृत, और ध्वनिमत से सहृदय में अभिव्यक्त उत्साह स्थायी भाव वीर-रस के रूप में आस्वादित होता है।

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ धुजा पताका।।
बल बिवेक दम परहित घोरे। क्षमा कृपा समता रजु जोरे।।
ईसभजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना।।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा।।
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना।।
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहिसम बिजय उपाय न दूजा।।
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहुँ न कतहुँ रिपु ताकें।। (मानस)

यहाँ सभी प्रकार के वीर रसों का एक साथ चित्रण है। अलग-अलग तीनों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

दानवीर

जो संपति सिवँ रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ।
सो संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ।। (मानस)

विभीषण आलम्बन विभाव है, संकोच अनुभाव है, हर्ष, धृति, मति आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे संयुक्त राम का दानोत्साह वीररसरूप में आस्वादित होता है।

धर्मवीर

भरतहि होइ कि राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरन्हि छीरसिंधु बिनसाइ।। (मानस)

त्रैलोक्य-राज्य की उपेक्षा आलम्बन है, भरत की चारित्रिक दृढ़ता अनुभाव है, मति, धृति, विबोध व्यभिचारी हैं। इनसे संयुक्त धर्मोत्साह वीररस के रूप में आस्वादित होता है।

युद्धवीर

हम छत्री मृगया बन करही।
तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं।।
रिपु बलवंत देखि नहिं डरहीं।
एक बार कालहु सन लरहीं।। (मानस)

खरदूषण आदि चौदह हजार राक्षसों की सेना विभाव है, वाचिक अनुभाव है,

मति, धृति, गर्व, अमर्ष आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे संयुक्त राम का युद्धोत्साह वीररस के रूप में आस्वाद लेता है।

ध्यातव्य है कि रौद्र रस में उद्धत अहंकार के साथ प्रचण्ड क्रोध देखा जाता है, क्रोध ही स्थायी भाव होता है। उत्तम प्रकृति के पात्रों में शत्रु के प्रति भी वैसा क्रोध नहीं होता, केवल अन्याय के प्रति अमर्ष रहता है जो उत्साह का सहकारी भावमात्र है। प्रमुखता उत्साह की ही रहती है। राम जैसे पात्रों में जहाँ भी क्रोध आदि की बात आयी है, वहाँ भी अमर्ष का ही अर्थ लेना चाहिए क्योंकि उदात्त चरित्र में क्रोध की उग्रता कभी नहीं होती, तभी वीररस की संगति है।

भयानक रस

भय स्थायी भाव है। विकृत प्राणी, उल्लू, शृगाल, व्याघ्र आदि का दर्शन, अरण्यगमन, शून्यवास, स्वजनवध आदि विभाव हैं। कर-चरण-कम्पन, नेत्रों की फड़फड़ाहट, रोमाञ्च, वैवर्ण्य, स्वरभङ्ग आदि अनुभाव हैं। शङ्का, मोह दैन्य, आवेग, चपलता, त्रास, अपस्मार, जड़ता आदि सहकारी भाव हैं। भयानक तीन प्रकार से देखा जाता है : व्याजवश, अपराधवश और वित्रासवश।

घन घमंड गरजत नभ घोरा।
प्रियाहीन डरपत मन मोरा।। (मानस)

यहाँ प्रिया-विरह के व्याज (बहाने) से राम में भय देखा जाता है।

ताकें भय रघुवीर कृपाला।
सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला।। (मानस)

सुग्रीव में वाली के प्रति अपराधी होने से भय है।

तात मातु हा सुनिअ पुकारा।
एहिं अवसर को हमहि उबारा।।
हम जो कहा यह कपि नहीं होई।
बानर रूप धरैं सुर कोई।।
साधु अवग्या कर फलु ऐसा।
जरइ नगर अनाथ कर जैसा।। (मानस)

लङ्कादहन के इस प्रसंग में वित्रास-जनित भय है। हनुमान का विकराल रूप आलम्बन विभाव है। चिल्लाहट आदि अनुभाव हैं। त्रास, चपलता, दैन्य आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे संयुक्त भय स्थायी का भयानक रस के रूप में आस्वाद होता है। भट्टलोल्लट के अनुसार अनुकार्य राक्षसों में उत्पन्न भय ही भयानक रस है, शंकुक के मत में राक्षसों के अनुकारक नट या कवि में सहृदय द्वारा अनुमित भय स्थायी रस है, भट्टनायक साधारणीकृत भय को भयानक रस मानते

हैं, जबकि ध्वनिमत में रसिक में स्थित भय-वासना ही व्यक्त होकर भयानक रस के रूप में आस्वादित है।

वीभत्स रस

जुगुप्सा स्थायी भाव है। अभव्य, अप्रिय, अरुचिपूर्ण वस्तुओं के दर्शन, श्रवण, कीर्तन आदि विभाव हैं। अङ्गसंकोच, मुखसंकोच, थूकना आदि अनुभाव हैं। उद्वेग, अपस्मार, आवेग, मोह, चपलता, जड़ता, निर्वेद आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे संयुक्त जुगुप्सा भाव वीभत्स रूप में रस बनता है। इसके दो भेद हैं :

(क) **उद्वेगज वीभत्स** विष्ठा, कृमि आदि विभावों से होता है :

अस्थि पुरातन छुधित स्वान अति ज्यों मुख भरि पकरै।
निज तालूगत रुधिर पान करि मन संतोष भरै।। (विनयपत्रिका)

यहाँ अस्थि आलम्बन है।

(ख) **क्षोभज वीभत्स** में रुधिर, मज्जा, चर्वी आदि का प्रचुर दर्शन विभाव होता है :

कादर भयंकर रुधिर-सरिता चली परम अपावनी।
दोउ कूल दल रथ रेत चक्र अवर्त वहति भयावनी।। (मानस)

यहाँ रुधिर-सरिता आलम्बन है, कविवचन आदि अनुभाव हैं, जड़ता, त्रास, आवेग आदि व्यभिचारी भाव हैं। लोल्लट के अनुसार अनुकार्य में उत्पन्न, शंकुक के अनुसार अनुकारक में अनुमित, भट्टनायक के अनुसार साधारणीकृत और ध्वनिमत से सहृदय में अभिव्यक्त जुगुप्सा स्थायीभाव वीभत्स रस के रूप में आस्वादित होता है।

हास्य के समान ही वीभत्स में भी विभाव-वर्णन ही देखा जाता है, अनुभाव आदि का अनुमान ही करना पड़ता है क्योंकि आश्रय का कोई वर्णन नहीं किया जाता। यह रस सदैव दूसरे रस का अङ्ग होकर ही आता है। अधिकतर युद्धवीर के साथ ही क्षोभज वीभत्स के चित्र मिलते हैं। शान्त रस के वर्णनों में प्रायः निर्वेद को सघन करने हेतु उद्वेगज वीभत्स के चित्र दिये जाते हैं। श्मशान-वर्णन आदि में यह रस भयानक रस का अङ्ग बनता है। अधम पात्रों के मद्यपान आदि में वान्त इत्यादि के चित्र कभी-कभी स्वतन्त्र रूप से इस रस की अनुभूति कराते हैं।

अद्भुत रस

इसका स्थायी विस्मय (आश्चर्य) है। दिव्य-जन-दर्शन, किसी बड़े अभीष्ट की अचानक प्राप्ति, उपवन तथा देवकुल आदि जाना, सभा, विमान, माया, इन्द्रजाल, युद्ध आदि इसके विभाव हैं। नेत्रविस्तार, एकटक देखना, रोमाञ्च, अश्रु,

स्वेद, साधुवाद, हाहाकार, मुख-बाहु-चरण आदि का चालन तथा ऐसी अनेक चेष्टाएँ अनुभाव होती हैं। जड़ता, आवेग, मोह, हर्ष, चपलता आदि व्यभिचारी भाव होते हैं। इनसे उत्पन्न या अनुमित या साधारणीकृत या अभिव्यक्त विस्मय अद्भुत रस के रूप में आस्वाद लेता है। इसके दो प्रकार हैं :

(क) दिव्य-दर्शन-जनित : अद्भुत रस किसी अलौकिक वस्तु के देखने आदि से जनित विस्मय वाला होता है :

कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि विधि करौं अनंता।
मायागुनग्यानातीत अमाना बेद पुरान भनंता।।
करुना सुख सागर सब गुन आगर जेहि गावहिं श्रुति संता।
सो मम हित लागी जन अनुरागी भयउ प्रगट श्रीकंता।।
ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति वेद कहै।
मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै।।
उपजा जब ग्याना प्रभु मुसक्याना चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै।
कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुतप्रेम लहै।। (मानस)

यहाँ राम के विराट् रूप का दर्शन आलम्बन है, राम-शिशु का मुसकुराना आदि उद्दीपन हैं। कौसल्या के वचन अनुभाव हैं। हर्ष, आवेग, औत्सुक्य आदि सहकारी भाव हैं। इनसे संयुक्त कौसल्या का विस्मय रसिक को अद्भुत रस के रूप में आस्वादित होता है।

(ख) आनन्दजनित अद्भुत रस

सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी।
संभ्रम चलि आईं सब रानी।।
हरषित जहँ तहँ धाईं दासी।
आनंदमगन सकल पुरबासी।।
दसरथ पुत्रजन्म सुनि काना।
मानहुँ ब्रह्मानंद समाना।। (मानस)

यहाँ अनेक पात्रों में आनन्दजनित विस्मय की विविधता है। हड़बड़ी, दौड़ भाग आदि अनुभाव हैं। पुत्रजन्म विभाव है। हर्ष, औत्सुक्य, आवेग, जड़ता, चपलता आदि व्यभिचारी हैं।

शान्त-रस

शान्त मोक्ष-परक रस है (जबकि शेष रस धर्म, अर्थ और काम के त्रिवर्ग पर अवलम्बित हैं)। इसका स्थायी भाव 'शम' है जिसे कभी-कभी 'निर्वेद' भी कहा जाता है। तत्त्वज्ञान, हृदय-शुद्धि, वैराग्य आदि विभाव (आलम्बन) हैं, संसार की नश्वरता आदि उद्दीपन हैं। यम, नियम, अध्यात्मविद्या, धारणा,

ध्यान, समाधि, उपासना, दया, अहिंसा, शौच आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, स्मृति, धृति आदि सहकारी भाव हैं। रोमाञ्च, स्तम्भ आदि सात्त्विक भाव भी अनुभाव-वर्ग में देखे जाते हैं। इनसे अनुकार्य में उत्पन्न अथवा अनुकारक में अनुमित या साधारणीकृत अथवा सहृदय में व्यक्त शम स्थायी शान्तरस के रूप में आस्वाद लेता है।

तहँ पुनि संभु समुझि पन आपन।
बैठे बट तर करि कमलासन।।
संकर सहज सरूपु सम्हारा।
लागि समाधि अखंड अपारा।। (मानस)

यहाँ उत्तेजनाहीन अध्यात्म-स्थिति विभाव है। पद्मासन, समाधि आदि अनुभाव हैं। स्मृति, धृति आदि व्यभिचारी हैं। इनसे संयुक्त शंकर का शम स्थायी भाव सहृदय को शान्तरस के रूप में आस्वादित होता है। निर्वेद या वैराग्य मात्र से शान्तरस की निष्पत्ति नहीं होती। जैसे :

चढ़िकै चले पालकी नालकी पै, निवहे मग पैंदर ही तौ कहा।
दिन बीते सँजोग ही के सुख में, दुख ही सहि देह दही तौ कहा।।
जग में भई कीरति वेस बृजेस, अकीरति ही उमही तौ कहा।
दिन चारिक में तुम ही न रहे, चरचा चिरकाल रही तौ कहा।।

यहाँ विषयों के प्रति वैराग्य तो है, पर उत्तेजना-हीन शमभाव में अविचल स्थिति नहीं है, अतः शान्तरसध्वनि न होकर निर्वेदभावध्वनि है।

शान्तरस की स्थापना में गम्भीर मनोवैज्ञानिक चिन्तन देखा जाता है। आठ रस ऐसी चित्तवृत्तियों को लेकर बनते हैं जो बाह्य विषयों की उत्तेजनाओं से उत्पन्न होती हैं, यह व्यावहारिक सत्य है। ऐसी चित्तदशा परिकल्पित की गयी है जिसमें बाह्यविषयजनित उत्तेजनाएँ नहीं रहतीं। जैसे : निस्तरङ्ग सागर देखने में नहीं आता फिर भी उसकी सत्ता कल्पित रहती है और तरङ्गों के विकार वायु आदि कारणों से उसी में उठते और लीन हुआ करते हैं, उसी प्रकार उत्तेजना-रहित शान्त चित्तदशा ही सभी भावों (रसों) की आधारभूत प्रकृति है, चित्त की सहज अवस्था है। जिसमें बाह्य-कारण-वश विकाररूप वैषयिक वृत्तियां उठतीं और लीन होती हैं।[7] यह चित्त की ऐसी समाहित (एकाग्र) स्थिति है जिसमें सुषुप्त जैसी संज्ञा रहती है जो आत्मा का स्वरूप है—विषय-बोध नहीं रहता।

आचार्य अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय के अन्त में शान्तरस का समावेश प्राचीन हस्तलेखों से प्रमाणित बताया है और बताया है कि प्रत्येक रसानुभूति शान्तरूप ही होती है। अन्य रस इसलिए पृथक् नाम पाते हैं कि उनमें शम के साथ-साथ अन्य चित्तवृत्ति का भी योग रहता है। उन्होंने 'सिद्धान्त-

शास्त्र' का उद्धरण देकर बताया है कि भरत से भी प्राचीन शान्तरस की परम्परा रही है।[8] शान्त पूर्णानन्द रस है और सभी का कारण है जिसके लिए कहा गया है—आनन्द से ही सब भूत जन्म लेते, जन्म ले कर जीते और उसी में पहुँचते तथा लीन हो जाते हैं।[9]

इस प्रकार रसों का विवेचन हो जाने पर रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में मत-चतुष्टय का विचार आगामी अध्याय में द्रष्टव्य है।

सन्दर्भ

1. 'कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
   रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्य-काव्योः॥
   विभावा अनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
   व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः॥'—काव्यप्रकाश, 4/27-28.
2. 'सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम्।' —दशरूपक, 4/4.
3. 'विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
   आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः॥'—वही, 4/34.
4. 'विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
   स्थायिन्युन्मग्न-निर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ' ॥—वही, 4/7.
5. तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः। तद् यथा—शृङ्गारो, रौद्रो, वीरो, वीभत्स इति। अत्र
   'शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
   वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्वीभत्साच्च भयानकः।'—नाट्यशास्त्र, 6/39.
6. 'शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु प्रकीर्तितः।
   रौद्रस्यैव च यत् कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः॥
   वीरस्यापि च यत् कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः।
   वीभत्सदर्शनं यच्च ज्ञेयः स तु भयानकः॥'—वही, 6/40-41.
7. इस तथ्य को दशरूपक, 4/43-44 पर स्पष्ट करते हुए धनिक ने वे ही तथ्य रखे हैं जो ग्रन्थ में दिये गये हैं :
   'स्वं स्वं निमित्तमादाय शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
   पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एवोपलीयते॥'—वही, अध्याय 6.
8. 'अष्टानामिह देवानां शृङ्गारादीन् प्रदर्शयेत्।
   मध्ये च देवदेवस्य शान्तं रूपं प्रकल्पयेत्॥' —अभिनवभारती, पृ० 332-41.
9. 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
   आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।'—तैत्तिरीयोपनिषद्, 3/6.

रसनिष्पत्ति

जहाँ तक भरत मुनि का सम्बन्ध है, वे कहते हैं कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है : विभावानुभाव-व्यभि-चारि-संयोगाद् रस-निष्पत्तिः । इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार नाना व्यञ्जनों से संस्कृत अन्न का भोजन करने वाले लोग रसों का आस्वाद करते हैं और सौमनस्य-युक्त पुरुष हर्षादि प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार नाना भावों के अभिनयों से व्यञ्जित वाचिक, आङ्गिक और सात्त्विक अनुभावों से युक्त स्थायी भावों का आस्वाद सहृदय प्रेक्षक करते हैं और हर्षादि पाते हैं ।[1] निष्पत्ति एक प्रकार का चमत्कारी तत्त्व है अतः उसका स्वरूप बताते हुए भरत ने कहा है : हृदय-संवादी काव्यार्थ का भाव ही रस का कारण है जो शरीर को इस प्रकार व्याप्त कर लेता है जैसे सूखे काठ को आग व्याप्त करती है ।[2] वे और भी स्पष्ट करते हैं कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव परिवारतुल्य हैं जिनसे परि-वृत होकर स्थायी भाव 'रस' नाम पाता है ।[3]

ऊपर के विवरण से सूत्रगत 'संयोग' और 'निष्पत्ति' का अभिप्राय कुछ इस प्रकार समझा जा सकता है :

1. विभावादि का संयोग व्यञ्जन-संयोग के समान है । हल्दी, लवण, जल, मरिच आदि औषधियों का सम्यक् उचित मात्रा में योग होने पर ही रसोई में भोज्य वस्तु का परिपाक होता है जिससे भोक्ता को रस की उपलब्धि या निष्पत्ति होती है, उसी प्रकार विभावादि-त्रय का समुचित योग या मेल होने पर स्थायी भाव रसरूप से सहृदय भोक्ता द्वारा आस्वादनीय बनता है, यह आस्वाद ही निष्पत्ति है । इसे उत्पत्ति, अनुमिति, भुक्ति या अभिव्यक्ति में से क्या समझा जाय ? यह शेष है ।

2. लौकिक (भोजन के) रस से काव्य-रस की तुलना करके भरत ने निष्पत्ति की समस्या सुलझाने का प्रयास किया है । मुख्य भोज्य पदार्थ के समान स्थायी भाव ही आस्वाद्य बनता है, विविध व्यञ्जनों का स्थान विभावादि लेते हैं जिनका समुचित योग निष्पत्ति का कारण है ।

3. जिस प्रकार स्वस्थ मन वाला पुरुष ही भोजन का रस ले पाता है, उसी प्रकार सहृदय का सौमनस्य ही रसनिष्पत्ति का रहस्य है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि निष्पत्ति जब आस्वाद है तब उसका आश्रय सहृदय रसिक को ही मानना चाहिए। आस्वाद्य तत्त्व स्थायी भाव और आस्वादकर्ता रसिक होता है।

4. भरत ने 'व्यञ्जन' और 'व्यञ्जित' शब्दों का अनेक बार प्रयोग किया है जिससे अनुमान होता है कि वे 'व्यञ्जना' व्यापार को काव्य में मान्य करते थे। परन्तु वे आस्वाद और भोग की भी बात करते हैं। इससे प्रतीत होता है कि व्यञ्जित स्थायीभाव का भोग (आस्वाद) उन्हें मान्य है। इतना होने पर भी भाव की परिभाषा करते हुए वे कहते हैं :

भावयन्तीति भावा:। भावयन् भाव उच्यते। (ना० शा०, 7/2)

अर्थात् काव्य या नाट्य के भाव रसिक को भावित करते हैं। इस प्रकार भावन या भावकत्व व्यापार को भी शास्त्रीय आधार मिल जाता है। भरत में भाव को गम्य या अनुमेय भी बताया गया है।[4] इस प्रकार अनुमिति को भी आधार मिल जाता है। वे यह भी कहते हैं :

त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्। (वही, 1/107)
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्। (वही, 1/112)

इससे अनुकृति अथवा अनुकीर्तन की मान्यता स्फुट होती है। उन्होंने नाट्य को 'विश्रान्तिजनन' कहा है (वही, 1/114), जिससे परमसंविद्विश्रान्ति या भुक्ति पर प्रकाश पड़ता है। रसविवेचन में भरत ने सर्वत्र विभावों से उसकी 'उत्पत्ति' बतायी है जिससे यह भी जान पड़ता है कि वे रस की उत्पत्ति मानते हैं।

5. भरत का ही अनुसरण करते हुए उत्पत्ति, अनुमिति, भावना, विश्रान्ति, भुक्ति और व्यञ्जना शब्दों को लेकर देखा जाय तो किसी निष्कर्ष पर पहुँचना सरल नहीं होगा। इन्हीं शब्दों की संगति बिठाने में प्राचीन आचार्यों ने अपने-अपने मत प्रतिष्ठित किए हैं—इन्हें उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद और अभिव्यक्तिवाद करके जाना जाता है। प्रथम मत में अनुकृति और उत्पत्ति को, द्वितीय में अनुकृति और अनुमिति को, तृतीय में भावना और भुक्ति या विश्रान्ति को, तथा चतुर्थ में व्यञ्जना को महत्त्व मिला है। तीन प्रश्नों का उत्तर खोजने हेतु चारों मतों के चार प्रस्थान सामने आये :

(क) रसात्मक स्थायी भाव की उपस्थिति कहाँ है ?
(ख) निष्पत्ति शब्द का रस के सन्दर्भ में क्या अर्थ है ?
(ग) संयोग या सम्बन्ध का क्या स्वरूप है ?

इन प्रश्नों का सुलझा हुआ समाधान भरत से नहीं मिल पाता अतएव चार सिद्धान्त सामने आये जिनके क्रमविकास को समझने के लिए व्यञ्जना-

वाद या ध्वनिसिद्धान्त को दो भागों में विभक्त कर आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के अनुसार विवेचनीय ठहराया गया है अतः पाँच प्रस्थान कहे जा सकते हैं।

भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद[5]

पहला विचारणीय तत्त्व अनुकृति है जिस पर लोल्लट का उत्पत्तिवाद प्रतिष्ठित है, अतः सर्वप्रथम उसी को हृदयंगम कर लेना चाहिए। मान लीजिए, लक्ष्मण में मेघनाद के प्रति क्रोध स्थायीभाव है तो मेघनाद क्रोध का विभाव है जिसे आलम्बन कहेंगे, उसके उत्तेजक कार्यकलाप भी विभाव हैं जिन्हें उद्दीपन कहा जायगा। अब लक्ष्मण की ओर आएँ तो उनमें भुजस्पन्दन, आँखों की लाली, मुट्ठी कसना आदि आङ्गिक, कुपित वचन वाचिक, धनुष पर तीर चढ़ाना आदि आहार्य और कम्प, स्वेद, रोमाञ्च आदि सात्त्विक अनुभाव होंगे जिनका अनुकरण नट या कवि करेगा। उग्रता, चपलता, अमर्ष आदि सहकारी भाव भी लक्ष्मण में ही होंगे जो उनके स्थायीभाव क्रोध को पुष्ट करेंगे जिन्हें व्यभिचारी भाव कहते हैं। इस प्रकार विभावादि सम्पूर्ण सामग्री काव्य या नाट्य में अनुकृत होगी। क्रोध का आश्रय लक्ष्मण भी अनुकृत होगा जिसे अनुकार्य कहेंगे क्योंकि उन्हीं का अनुकरण कवि या नट करता है। कवि या नट अनुकारक है। अनुकारक के माध्यम से अनुकार्य और उसके विभावादि अनुकृत होकर सामाजिक के सामने आते हैं, तभी रस की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार अनुकार्य में उत्पन्न (निष्पन्न) स्थायी भाव रस है। स्थायी भाव की अनुकार्य (लक्ष्मण) में उत्पत्ति ही रस-निष्पत्ति है। उत्पत्ति का आधार अनुकार्य को मान लेने पर विभावादि के स्थायी भाव के साथ सम्बन्ध भी पृथक्-पृथक् होंगे :

1. आलम्बन विभाव स्थायी (रस) के जनक हैं और स्थायी भाव (रस) जन्य है अतः जन्य-जनकभाव सम्बन्ध है।

2. उद्दीपन विभाव स्थायी के उद्दीपक हैं, स्थायी उद्दीप्य है अतः दोनों का सम्वन्ध उद्दीप्योदीपकभाव कहा जायगा।

3. अनुभाव स्थायी भाव के गमक या प्रतीतिकारक हैं, स्थायी गम्य है अतः दोनों में गम्य-गमकभाव सम्वन्ध है। अर्थात् अनुभावों का ही अभिनय होता है जिससे अनुकार्य में स्थित स्थायी (रस) का अनुमान या प्रत्यय होता है।

4. व्यभिचारी भाव स्थायी के सहकारी होने से पोषक हैं, स्थायीभाव पोष्य है अतः पोष्यपोषकभाव सम्वन्ध है।

उक्त दृष्टि से निष्पत्ति के अर्थ देखें तो आलम्बन के द्वारा उत्पत्ति, उद्दीपन से उद्दीप्ति, अनुभाव से प्रतीति और व्यभिचारी भाव से स्थायी की पुष्टि मान्य

होगी। तब केवल उत्पत्ति अर्थ करना कहाँ तक संगत है? इसके उत्तर में लोल्लट की ओर से कहा जायगा कि उक्त सभी में उत्पत्ति की ही प्रधानता है अतः निष्पत्ति का मुख्य अर्थ भी वही है—अनुकार्य में आलम्बन द्वारा उत्पादित स्थायीभाव ही तो रस बनता है जब उद्दीपन से उद्दीप्त, अनुभाव से प्रतीतियोग्य और व्यभिचारी से परिपुष्ट होता है।

भट्टलोल्लट विभाव को मुख्यता देकर उससे अनुकार्य में स्थायीभाव की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं, अतएव उन्हें उत्पत्तिवादी कहा जाता है, पर वस्तुतः वे अनुकृतिवादी भी हैं क्योंकि अनुकार्य की सत्ता सर्वोपरि मानकर रस-विचार करते हैं, और वे अनुमितिवादी भी हैं क्योंकि अनुभावों के द्वारा स्थायीभाव की अनुमिति या प्रतीति मान कर चलते हैं। उत्पत्ति का आधारभूत कारण अनुकृति है और प्रतीति सहृदय का भाग है। अनुकारक (नट या कवि) माध्यम है। इस प्रकार अनुकार्य से चलकर अनुकारक में होते हुए रस सहृदय तक व्याप्ति रखता है।

समीक्षा

भट्टशंकुक ने भट्टलोल्लट के मत में अनेक दोष निकाले हैं :

1. सर्वप्रथम आपत्ति यही है कि केवल अनुभाव को रसप्रतीति का कारण (अनुमान प्रमाण) मान लेने पर अनेकत्र रस-निर्णय ही असंभव हो जायगा। उदाहरण के लिए कम्प, स्वेद, वैवर्ण्य, रोमाञ्च आदि अनुभावों को लिया जा सकता है जिनसे भय, क्रोध, रति, शोक आदि भावों का अनुमान हो सकता है और तब केवल अनुभाव के सहारे किसी एक स्थायी भाव की प्रतीति असंभव ही ठहरती है। अतः अनुमान के लिए विभाव और व्यभिचारी भाव को भी अनुभाव के साथ लेकर ही किसी एक स्थायी भाव की निर्णीत प्रतीति हो सकती है। उदाहरणार्थ :

गिरै कंपि कछु कछु रहै कर पसेव लपटाइ।
भरियौ मुठी गुलाल की छुटत झुठी ह्वै जाइ॥ (बिहारी)

यहाँ यदि कम्प, स्वेद, स्तम्भ अनुभावों के आधार पर अनुमान करना चाहें तो उक्त सभी स्थायी भाव एक साथ प्रतीत होंगे। प्रेमालम्बन नायक (विभाव) के आधार पर ही रति स्थायी की निर्णीत अनुमिति हो पाती है।

2. उक्त दोष दूर करने के लिए यह कहें कि भाव का पहले ही उल्लेख कर दिया जाय तो भी बात नहीं बनती क्योंकि स्थायीभाव का नाम लेने की काव्य-परम्परा नहीं, उसे तो अनुभावों के द्वारा ही लाया जाता है। जहाँ नामोल्लेख हो जाता है वहाँ रस-प्रतीति में बाधा ही आती है :

कर सरोज जयमाल उठाई।
प्रेम बिवस पहिराइ न जाई।। (मानस)

में 'उठाई हुई जयमाला को न पहना पाना' अनुभाव ही पर्याप्त है, 'प्रेम' शब्द का उल्लेख अनुचित ही है।

शंकुक ने जो दोष नहीं गिनाया है, वह है रसिक का भावशून्य होना। अनुकार्यगत स्थायीभाव का आस्वाद सामाजिक को कैसे हो सकता है? इसके उत्तर में लोल्लट (और शंकुक) की ओर से कहा जा सकता है कि अनुकृत पात्र का स्थायी भाव लोकोत्तर होता है अतएव वह रस है और उसका आस्वाद संभव है। शंकुक द्वारा उठाई हुई आपत्तियों का निराकरण असंभव है।

भट्टशंकुक का अनुमितिवाद[6]

जहाँ तक अनुकृति और अनुमिति की मूल मान्यता की बात है, शंकुक लोल्लट से एकमत देखे जाते हैं, परन्तु कतिपय तथ्यों का वे विशेष निरूपण कर अनुकृतिवाद और अनुमितिवाद की पुनः प्रतिष्ठा करते हैं। वे न्याय के अनुसार रसनिष्पत्ति को रसानुमिति मानते हुए 'निष्पत्ति' शब्द का अनुमिति अर्थ करते हैं। वे लोल्लट के उत्पत्तिवाद के विरोधी भी हैं क्योंकि अनुकार्य की कोई प्रमित सत्ता नहीं होती कि उसमें उत्पत्ति की व्यवस्था दी जा सके। अनुमिति सहृदय ही करता है और उसके समक्ष अनुकार्य नहीं होता, अनुकारक (नट या कवि) ही होता है जो अभिनय या काव्य के माध्यम से भाव का उपस्थापन करता है। अतः अनुकारक में ही रस की उपस्थिति नैयायिकों को मान्य है। ध्वनिमत के सुप्रतिष्ठ हो जाने के बाद महिमभट्ट ने इस मत को 'व्यक्ति-विवेक' ग्रन्थ में पुनर्जीवित किया और आधुनिक काल में आचार्य आनन्द झा ने 'ध्वनिखण्डनम्' ग्रन्थ द्वारा भी न्यायमत का समर्थन किया।

अनुकृति

लोकव्यवहार में रस नहीं होता क्योंकि वहाँ रति आदि स्थायी भाव सत् (यथार्थ) होते हैं। इसके विपरीत नाट्य या काव्य में अनुकृत स्थायीभाव आता है, जो असत् होता है, फिर भी आनन्दात्मक अनुभूति देकर सहृदय सामाजिकों को आह्लादित करता है, यही विलक्षणता उसे 'रस' नाम देने में समर्थ है। कहा जाय कि असत् वस्तु में सहृदय की प्रवृत्ति क्यों होगी, तो उत्तर यह होगा कि रस्सी में साँप की प्रतीति से भय, मृगमरीचिका को जलधारा समझ कर तदर्थ धावन, सीपी को चाँदी मानकर लोभ, दीप-प्रभा को मणि समझ कर लालसा आदि व्यवहार में देखे जाते हैं। स्पष्ट है कि असत् में लोक की प्रवृत्ति तो होती ही है, अपितु सौन्दर्यानुभूति भी देखी जाती है। इन्द्रधनुष किरणसंयोगमात्र है अतः असत् है

फिर भी विलक्षण सौन्दर्य-बोध होता है। अनुकृति को लेकर ही काव्य-भाव विलक्षण होता है। व्यवहार में सम्यग् ज्ञान, मिथ्या ज्ञान, संशय और सादृश्य—ये चार देखे जाते हैं, इनसे विलक्षण अनुकृत ज्ञान है।[7]

सम्यग् ज्ञान : 'यही राम है, यह राम ही है' इस प्रकार का ज्ञान, जो बाद में बाधित न हो सम्यग् ज्ञान है। नट जब राम का अभिनय करता है तब सम्यग् ज्ञान नहीं होता कि नट ही राम है या राम ही नट है।

मिथ्या ज्ञान : पहले इन्द्रियदोष-वश समझा जाय कि 'यह राम है' और बाद में विदित हो कि ऐसा नहीं है तो बाधित होने वाला ज्ञान मिथ्या ज्ञान कहा जायगा। अभिनयादि के स्थल में ऐसा नहीं होता कि पहले नट को राम समझें और फिर मानें कि वह तो भ्रम था।

संशय : किसी त्रुटि के कारण कभी-कभी एक ही वस्तु को एक ही साथ नाना प्रकार से समझा जाता है जिसमें अनिश्चय लगा रहता है। जैसे धुंधलके में कोई पिण्ड देखकर अनिश्चित बोध हो कि यह मनुष्य है या ठूंठ। इसे संशय ज्ञान कहते हैं। अभिनेता में यह सन्देह नहीं होता कि राम है या नट। अतः नाट्य-प्रतीति को संशय-कोटि में नहीं लिया जाता।

सादृश्य : दो भिन्न वस्तुओं में कुछ तत्त्वों के आधार पर जो समानधर्मता का बोध होता है, वह सादृश्य-बोध है। जैसे : राम श्याम जैसा लम्बा है। नाट्य या काव्य में ऐसी कोई प्रतीति नहीं होती कि नट को राम-सदृश माना जाता हो। राम को किसी ने देखा नहीं कि सादृश्य की प्रतीति भी हो सके। सबसे बड़ी बात है कि अनेक अवसरों पर अनेक नट एक ही राम का अभिनय करते हैं और अवसर-विशेष के अनुसार सभी को राम मान कर रस-बोध देखा जाता है।

अनुकृति : चित्रकार रेखाओं में आकृति बना देता है और उसे अश्व आदि कहा जाता है। मूर्तिकार भी ऐसा अनुकरण प्रस्तुत करता है। इसे अनुकारात्मक बोध कहते हैं। काव्य या नाट्य में कवि अथवा नट ऐसा ही अनुकरण करते हैं कि उन्हें ही उस अवसर पर राम आदि मान लिया जाता है और उनमें रति आदि स्थायी भावों की प्रतीति हो चलती है। स्थायी भाव के आश्रय का तो अनुकरण होता ही है, साथ ही विभावादि भी अनुकृत ही होते हैं। अनुकृत कारण, कार्य और सह-कारी ही क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव नाम ग्रहण करते हैं। इन सबके अनुकरण से स्थायी भाव अनुकृत होता है और अनुकृत स्थायी भाव ही 'रस' नाम से जाना जाता है। अनुकृति उपर्युक्त चार प्रतीतियों से विलक्षण है जिसमें न पूर्णतः तात्त्विक (सम्यक्) बोध होता है, न उसका उत्तरकाल में बाध होता है कि भ्रम कहें, न ही संशय होता है कि कुछ भी निश्चय न माना जाय और न नटादि में रामादि का सादृश्य ही ठहराया जाता है।

अनुमिति

अनुकृत स्थायी भाव ही रस है, यह सिद्ध कर लेने पर प्रेषण का प्रश्न सामने आता है। अनुकारक (नट या कवि) में अनुकृत रसात्मक भाव रसिक को कैसे विदित हो पाता है? यह प्रश्न अनुमिति द्वारा सुलझाया जाता है। अर्थात् अनुकारक द्वारा अनुकृत असत् स्थायी भाव का अनुमान सहृदय करता है और तब रस अनुमित बनता है। सहृदय का भाग यही अनुमित रस है। इस प्रकार प्रेषण की दृष्टि से अनुमिति की ही प्रधानता होने से भरत के सूत्र में 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति' है अतः सहृदय द्वारा प्राप्त रसानुमिति-बोध ही रसनिष्पत्ति है। भट्ट लोल्लट भी लगभग ऐसा ही मानते हैं, परन्तु तीन बातों में अन्तर है :

1. लोल्लट अनुकार्य पर बल देते हैं, अनुकारक को उपेक्षणीय मानते हैं जबकि शंकुक के यहाँ अनुकार्य उपेक्षित है क्योंकि उसकी सत्ता प्रमाणित नहीं और अनुकारक पर बल है क्योंकि अनुमान का वही पक्ष (आश्रय) है।

2. असत् (अप्रमित) अनुकार्य में स्थायी भाव भी असत् ही रहेगा अतः लोल्लट भी असत् की ही प्रकारान्तर से उत्पत्ति मानते हैं जो कथमपि तर्कसंगत नहीं, परन्तु शंकुक अनुकारक और सहृदय को आमने-सामने प्रमाणित पाते हैं, फिर असत् की अनुकृति और अनुमिति की चर्चा करते हैं। स्थायी भाव अनुकृत रूप में असत् होकर भी अनुकारक में प्रतीतिगम्य तो हो ही सकता है।

3. अन्तिम महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि लोल्लट केवल अनुभावों को ही अनुमिति का साधन मानते हैं, जिसकी समीक्षा ऊपर आ चुकी है, जबकि शंकुक विभावादि-त्रय को सम्मिलित रूप से अनुमिति-साधन बनाते हैं जिससे रसनिश्चय में कोई बाधा नहीं आती।

अनुमान की प्रणाली जटिल होती है। उसके लिए साध्य, साधन और पक्ष का विचार किया जाता है तथा व्याप्ति निश्चित की जाती है। इन चारों पर विचार अपेक्षित है।

व्याप्ति : दो वस्तुओं के साहचर्य को 'व्याप्ति' कहते हैं। हम देखते हैं कि जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि भी अवश्य है, जहाँ अग्नि नहीं, वहाँ धूम नहीं हो सकता। यह साहचर्य निगम व्याप्ति है। धूम अग्नि का सहचर है, अतः उसे देखकर अदृष्ट अग्नि की अनुमिति हो जाती है। इसी प्रकार की व्याप्ति विभावादि के साथ स्थायी भाव की होती है, अतः अनुमान संभव होता है।

सुनहि विनय मम विटप असोका।
सत्य नाम करु हरु मम सोका॥
कोमल किसलय अनल समाना।
देहि अगिनि जनि करहि निदाना॥ (मानस)

यह रामविरह में सीता की उक्ति है। राम आलम्बन विभाव है, प्रलाप अनुभाव है, चिन्ता, विषाद, दैन्य आदि व्यभिचारी भाव हैं। ये तीनों सीता का अनुकरण करने वाली अभिनेत्री (या कवि) में प्राप्त हैं जिनकी सत्ता रति भाव की सत्ता का कारण है। अतः अनुकृत रति की उनसे अनुमिति हो जाती है क्योंकि जहाँ वैसे विभावादि होते हैं, वहाँ विप्रलम्भ रति होती है, यह व्याप्ति बन जाती है।

पक्ष : जिसमें साधन देखकर साध्य की अनुमिति होती है, उसे 'पक्ष' कहते हैं। जैसे, कुटी में धुआँ देखें और अग्नि का अनुमान करें तो कुटी पक्ष है। पक्ष में साधन और साध्य की उपस्थिति रहती है। काव्य अथवा नाट्य में अनुकारक ही पक्ष होता है जो सहृदय के समक्ष रहता है। और वह उसमें विभावादि द्वारा रस अनुमित करता है। उक्त उदाहरण में सीता अनुकार्य है, परन्तु वह सहृदय के समक्ष नहीं है कि उसमें अनुमान हो सके। इसके विपरीत सीता का अनुकरण करने वाली नटी (या कवि) पक्ष है। उसी में असत् (अविद्यमान) रस का अनुमान शंकुक को मान्य है। विभावादि भी असत् हैं और स्थायी भाव भी, परन्तु अनुकरण तो है ही, अतः अनुकृत विभावादि साधन से अनुकृत स्थायी अनुमित है।

साधन : देखा गया कि धूम साधन देखकर अदृष्ट अग्नि की अनुमिति होती है अतः धूम अनुमिति-साधन है। काव्य-नाट्य में विभावादि-त्रय साधन हैं जिससे रसरूप साध्य की सिद्धि (अनुमिति) होती है।

साध्य : साधन से जिस अदृष्ट वस्तु की सिद्धि की जाती है, अनुमानशास्त्र में उसे साध्य कहा जाता है। उक्त दृष्टि से अग्नि साध्य है। उक्त उदाहरण में विभावादि से रसात्मक स्थायीभाव (रति) साध्य है जिसकी अनुमिति से सहृदय को आह्लाद मिलता है।

सहृदय की उपलब्धि

अनुमिति का कर्ता सहृदय ही है अतः उसे अनुकृत स्थायीभाव (रस) की अनुमिति से आह्लाद प्राप्त होता है। धूम आदि से अग्नि आदि के अनुमान में वैसा आह्लाद नहीं होता क्योंकि उसमें कोई विचित्रता नहीं रहती जबकि अनुकृत असत् स्थायी की विलक्षण सौन्दर्य-प्रतीति सहृदयों में सुलभ है। आह्लाद के लिए सहृदय ही प्रमाण हैं, इस पर विवाद व्यर्थ है। वे स्वगत वासना के द्वारा असत् स्थायी भाव का रसरूप में आस्वाद करते हैं।

समीक्षा

भट्टशंकुक के अनुकृतिवाद और अनुमितिवाद पर ध्वनिवादियों ने तीव्र प्रतिक्रिया

व्यक्त की है। पहले तो असत् स्थायी की अनुकृत विभावादि से अनुमिति की मान्यता ही निराधार है। मान लें कि कुहरे को किसी ने धुआँ समझा और अग्नि का अनुमान करके पड़े हुए जवापुष्प को अङ्गार मान बैठा तो इससे शीत-शमन की क्रिया द्वारा आह्लाद की प्राप्ति असंभव है। उसी प्रकार नकली विभावादि से अविद्यमान स्थायी की अनुमिति भी मिथ्या है जो आनन्द-वितरण नहीं कर सकती। न केवल साध्य (रस) अनुकृत है अपितु साधन (विभावादि-सामग्री) भी अनुकृत है और अनुकारक 'पक्ष' बनाया गया है जो दोनों से शून्य है, कोरा अभिनय कर रहा है। लोकव्यवहार में रति और उसके कारण आदि अनुकृत नहीं होते, अत: अनुमान हो सकता है पर काव्य में असंभव है।

अनुकृति की मान्यता भी निराधार है। भरत ने जहाँ भी अनुकरण की चर्चा की है वहाँ उनका अभिप्राय पात्र या चरित्रविशेष के व्यक्तित्व के अनुकरण से न होकर सम्पूर्ण लोकव्यवहार के अनुकरण से है (अभिनवभारती 1/117)। भट्ट-शंकुक तो विभावादि के साथ स्थायी भाव का भी अनुकरण मानते हैं और भाव का आश्रयीभूत व्यक्ति भी अनुकृत है जिसमें अनेक अनुपपत्तियाँ हैं :

1. चित्र-तुरग के दृष्टान्त से काव्यगत अनुकृति पुष्ट नहीं होती—रेखानुकृति में अश्वसदृश प्रतिकृति होती है, परन्तु विभावादि से भाव-सादृश्य की प्रतिपत्ति नहीं होती कि भावानुकरण को रस कहा जा सके।

2. नट को किसका अनुकर्त्ता माना जाय ? रामादि को किसी ने देखा नहीं कि अनुकरण संभव हो और उनका स्थायीभाव भी नट में होता नहीं कि उसकी अनुकृति मानी जाय। नट तो इतना ही करता है कि उस स्थिति में लोकसामान्य की चेष्टाओं का प्रदर्शन कर देता है, इसे भावानुकरण कैसे कह सकते हैं ?

3. सहृदय प्रेक्षक रति आदि मानकर ही ग्रहण करता है, अनुकरण मानकर नहीं। माना कि काव्य और नाट्य का सम्पूर्ण उपस्थापन कृत्रिम होता है, पर सामाजिक उसे कृत्रिम मान कर नहीं लेता। भाँड़ों के स्वाँग में कृत्रिमता का प्रेक्षक को ग्रहण हो जाता है और तब शृङ्गारादि के स्थान पर हास्य ही देखा जाता है।

आनन्दवर्धन (ध्वनिमत) का अभिव्यक्तिवाद[8]

आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ध्वनिवादी आचार्य हैं। इन दोनों के मध्य में भट्टनायक का ध्वनिविरोधी मत आता है अत: भट्टनायक से पूर्व आनन्दवर्धन का मन्तव्य सामने रख लेना चाहिए। उन्होंने अपने ध्वन्यालोक में शब्द के व्यञ्जना-व्यापार पर विस्तार से प्रकाश डाला है और व्यङ्ग्य को ही काव्यार्थ सिद्ध किया है। इस प्रकार रस भी व्यङ्ग्य है। यह रस अनुकार्य या अनुकारक में न होकर सहृदय में ही रहता है। अर्थात् वासनारूप में सहृदय में स्थायीभाव रहता

है जिसे काव्य और नाट्य के विभावादि व्यक्त कर देते हैं। यही व्यक्त स्थायीभाव की वासना रस नाम से आस्वादित होती है। अर्थात् सहृदय का ही स्थायी भाव रस रूप लेता है। भावना का अर्थ व्यञ्जना ही है, अतः रसानुकूल व्यञ्जक होने से ही काव्यक्षेत्र में कारण, कार्य और सहकारी भाव क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव नाम पाते हैं। इस प्रकार विभावादि व्यञ्जक हैं और स्थायीभाव व्यङ्ग्य है, दोनों का सम्बन्ध व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव है। विभावादि न उत्पादक (जनक) कारण हैं और न ही अनुमापक (गमक) कारण, अतः जन्य-जनक भाव या गम्य-गमक भाव सम्बन्ध नहीं बन सकते।

भट्टनायक का भुक्तिवाद[9]

भट्टनायक उक्त तीनों मतों को अमान्य करते हैं। एक तथ्य को लेकर वे प्रथम दो मतों के साथ देखे जाते हैं—वह है असत् स्थायीभाव का रसत्व। शेष बातों में वे स्वतन्त्र सिद्धान्त की स्थापना करते हैं जिसे सामान्य रूप से भुक्तिवाद या भोजकत्ववाद कहा जाता है, पर अधिक उचित यह है कि उनके मत को 'भावकत्व-भोजकत्व-वाद' कहा जाय क्योंकि उन्होंने काव्य में अभिधा के अतिरिक्त दो व्यापार माने हैं जिन्हें भावकत्व और भोजकत्व कहा जाता है। इन पर विचार करने से पूर्व देखना चाहिए कि तीन मतों को लेकर भट्टनायक का विरोध क्यों है।

1. भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद माना जाय तो अनुकार्य के स्थायीभाव को रस मानना पड़ता है। परन्तु परगत रति आदि से शृङ्गारादि रस-प्रतीति न होकर प्रेक्षक को लज्जा, जुगुप्सा, स्पृहा आदि का अपने में अनुभव होगा जो रस-प्रतिबन्धी तत्त्व हैं। अर्थात् सहृदय मञ्च पर या काव्य में प्रेमप्रसंग देख-सुनकर या तो लज्जित होकर रसविमुख हो जायगा, या उसे वह दृश्य घिनौना प्रतीत होगा और काव्यार्थ-ग्रहण न कर पायेगा, यदि प्रेक्षक बहुत निम्न प्रकृति का हुआ तो स्वयं भी वैसी ही इच्छा करने लगेगा, काव्य-रस दूर ही रह जायगा।

2. भट्टशंकुक अनुकारक में अनुकृत स्थायीभाव को रस मानकर उसकी अनुमिति को निष्पत्ति मानते हैं। यह उक्त दोष से ग्रस्त विचार है क्योंकि रसिक यहाँ भी तटस्थ रहेगा। दोनों मत रसिक को तटस्थ रखते हैं, फलतः संगत नहीं हैं।

3. ध्वनिमत भी दूषित है। वह रसिक के ही भाव को वासनारूप में आस्वादनीय मानकर रस की स्थापना करता है। कोई भी सामाजिक अपनी ही रति को सबके समक्ष पाकर लज्जित होगा। दूसरा बड़ा व्याघात यह होगा कि पुरुष सहृदय जब राम में अपनी रति का अनुसन्धान करेगा तब सीता को अपनी कान्ता मानेगा, स्त्री रसिका सीता में अपनी रति को तभी आस्वादित करेगी जब राम को अपने कान्त के रूप में ग्रहण करेगी, ये दोनों असंगत हैं। तीसरा दोष

वासना की शक्तिरूप से सहृदय में उपस्थिति मानने और बाद में विभावादि द्वारा उसकी व्यञ्जना मानने में है, यह तो रसरूप विषय का उपार्जन हुआ और उपार्जित विषय में तारतम्य (कहीं अल्पता, कहीं अधिकता) देखा जाता है, परन्तु रसानुभूति में वैसा तारतम्य नहीं होता, वह तो सभी सहृदयों को समान रूप से प्राप्य है। चतुर्थ दोष है कि यदि सहृदय का वासनारूप भाव लिया जाय तो करुण, रौद्र, वीभत्स आदि स्थलों में सहृदय को दुःख प्रतीत होने लगेगा जबकि वैसा होता नहीं, प्रत्युत दुःखात्मक भावों का भी सुखात्मक आस्वाद ही रस का रहस्य है। पाँचवाँ प्रत्यूह यह है कि समुद्रलङ्घन आदि असंभव कृत्यों में उत्साह देखकर सहृदय तटस्थ रह जायगा, क्योंकि अपने में उस दिव्य शक्ति के न होने से उत्साह-वासना की व्यञ्जना ही न हो पायेगी। अतः व्यञ्जना का सिद्धान्त अग्राह्य है।

4. ऐसी स्थिति में उत्पत्तिपूर्वक या अनुकृतिपूर्वक अनुमिति का सिद्धान्त तो अमान्य है ही, अभिव्यक्ति (व्यञ्जना) का मत भी त्याज्य है। रस को प्रत्यक्ष भी नहीं मान सकते क्योंकि वह मानस प्रतीति का विषय है, उसे स्मृति भी नहीं कह सकते क्योंकि रसास्वादकाल में सहृदय को अपने आलम्बन या भाव की स्मृति का अनुभव नहीं होता। शब्द का वाच्य होकर भी रस नहीं आता कि उसे शाब्द कहा जा सके, अतः कोई भी लौकिक प्रतीति नहीं होती। रस सर्वथा अलौकिक बोध है।

उक्त प्रश्नों का उत्तर देना सरल नहीं, अतः भट्टनायक ने अपना अभिमत सर्वथा नूतन प्रस्तुत किया। वे काव्य और नाट्य को लोकोत्तर कृति के रूप में ग्राह्य बताते हैं। वहाँ शब्दार्थ-योजना लौकिक होती है, परन्तु काव्यार्थ कहा जाने वाला तत्त्व अलौकिक रहता है जिसे रस कहते हैं। अभिधा के अतिरिक्त दो अलौकिक व्यापार उन्हें मान्य हैं जिन्हें उन्होंने भावना या भावकत्व और भुक्ति, भोजना या भोजकत्व नाम दिया है। भावना और भोग के सन्दर्भ भरत में भी सुलभ हैं। तीनों व्यापारों का काव्य में क्रम रहता है :

अभिधा व्यापार

काव्य में दोषाभाव, गुण और अलंकार अभिधा से आते हैं। नाट्य में चार प्रकार के अभिनयों (सात्त्विक, वाचिक, आङ्गिक और आहार्य अनुभावों) का प्रत्यक्ष-दर्शन होता है और उनका अभिधा से भी उपस्थापन हो सकता है।[10] अभिधा का इतना ही कार्य है।

भावना व्यापार

इसे भावन और भावकत्व भी कहते हैं। यही साधारणीकरण व्यापार है जिसके

दो कार्य हैं :

1. पहले तो स्थायी भाव के कारण, कार्य और सहकारी भाव साधारणीकृत होते हैं और तब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव नाम पाते हैं। काव्य भावक है, विभावादि भाव्य हैं, अतः भाव्य-भावकभाव सम्बन्ध है।

2. फिर स्थायी भाव का साधारणीकरण होता है और रस नाम से जाना जाता है। काव्य और स्थायीभाव का उक्त रीति से भाव्य-भावक-सम्बन्ध है।

(i) भट्टनायक के अनुसार स्थायीभाव न अनुकार्य में और न ही अनुकारक में है कि परगत भाव मानकर सहृदय तटस्थ रहे। वह स्वगत भी नहीं है कि लज्जा का अनुभव बाधक बने। वह तो साधारणीकृत है अतः स्वगत-परगत की कोई बाधा नहीं। साधारणीकृत भाव केवल काव्य या नाट्य के व्यापार (भावकत्व) में उपस्थित है और वही रस है।

(ii) विभावादि भी साधारण हो जाते हैं अतः सहृदय को ऐसी प्रतीति ही नहीं होती कि ये मेरे या पराये हैं, वे भी काव्य-व्यापार में ही स्थित हैं।

(iii) इस प्रकार भाव्यमान या साधारणीकृत विभावादि से भावित (साधारणीकृत) स्थायी भाव रस है।

भोजकत्व व्यापार

उक्त प्रकार से भावित रस का आस्वाद (चर्वणा) रसिक को हो सके, एतदर्थ काव्य और नाट्य में भोजकत्व या भोग या भुक्ति नामक व्यापार मान्य है। इस व्यापार में रजोगुण (दुःखात्मक) और तमोगुण (मोहात्मक) का स्पर्श नहीं रहता, शुद्ध सत्त्वगुण (सुखात्मक) का उद्रेक (प्राबल्य) रहता है, अतः वह अनुभव, स्मृति आदि से विलक्षण है, वह तो द्रुति, विस्तार और विकास का समन्वित स्वरूप है। यह भोग व्यापार प्रकाशमय, आनन्दमय तथा 'निज-संविद्-विश्रान्ति' रूप होता है जिसे परब्रह्म के आस्वाद के समीप माना जाता है। यहाँ भोजकत्व के स्वरूप में अनेक तथ्यों का समावेश है जिनपर विचार अपेक्षित है :

1. भोजकत्व की स्थापना त्रिगुण-सिद्धान्त के अनुसार की गयी है। लोक में सुख, दुःख और मोह (अज्ञान) से मिली-जुली रचना देखी जाती है। एक ही मेघ को देखकर किसान को प्रकाश और आनन्द का, कुम्हार को चञ्चल दुःख का, विरही को मोहरूप चैतन्यावरण का अनुभव होता है। इन्हीं को तीन गुण कहा जाता है : सत्त्वगुण प्रकाश और आनन्दरूप है, रजोगुण सक्रिय दुःखरूप है, तमोगुण आवरणात्मक मोहरूप है। लौकिक सन्दर्भों में किसी की रति उसके लिए सुखात्मक, सपत्नी के लिए दुःखात्मक और कामी के लिए मोहात्मक होती है।

2. काव्य में आकर वही रति शुद्ध सुखात्मक रहती है, दु:ख और मोह का स्पर्श नहीं रहता। यही सत्वोद्रेक है। विप्रलम्भ-रति, क्रोध, जुगुप्सा, शोक आदि भाव दु:खात्मक होते हैं, जड़ता, विषाद, निद्रा आदि मोहात्मक हैं, परन्तु काव्य में इन सबकी परिणति आनन्दरूप ही होती है।

3. सत्त्वगुण का स्वरूप आनन्द, प्रकाश (बोध) और विश्रान्ति है। सहृदय आनन्दमय तथा प्रकाशमय संविद्विश्रान्ति में लीन होकर चित्त की ऐसी दशा प्राप्त करता है जिसमें काव्यसंवेदन से बाहर कोई संवेदन बाधक नहीं होता, यह एक ही संविद् में विश्रान्ति की उपलब्धि ही भोग है, रसास्वाद है।

4. सत्त्वोद्रेक का आरम्भिक कार्य यह है कि प्रमाता के चित्त में वैयक्तिक संकोच और कठोरत्व को दूर कर दे जो रजोगुण और तमोगुण की देन हैं। इससे चित्त में द्रुति और विस्तार का आविर्भाव होता है, फलत: परिमित प्रमातृत्व नहीं रहता और प्रमाता (रस भोक्ता) अपरिमित (निर्वैयक्तिक) चित्तदशा प्राप्त कर लेता है, यह रसभोग की पात्रता है।

5. साधारणीकरण से विभावादि और स्थायीभाव की वैयक्तिकता जाती रहती है जबकि भोजकत्व द्वारा रसिक की वैयक्तिकता का परिसमापन होता है और तब परम संविद्विश्रान्ति मिलती है जिसे रसास्वाद कहते हैं।

6. जब तक व्यक्तित्व की समाप्ति नहीं होती तब तक तमोगुण का आवरण रहता है और रजोगुण की उत्तेजनाएँ बनी रहती हैं। उत्तेजित चित्तदशा में बाह्य विषयों की ओर प्रवृत्ति रहती है। काव्य-वस्तु को लेकर भी यदि वैसी वैयक्तिक उत्तेजनाएँ बनी रह जायँ तो उसे रसनिष्पत्ति नहीं कहेंगे। उत्तेजना (बाह्य विषयमुखी प्रवृत्ति) से रहित दशा ही 'निज-संविद्-विश्रान्ति' है।

7. यही संविद्विश्रान्तिरूप भोग रसनिष्पत्ति है अत: भरतसूत्र में निष्पत्ति का अर्थ 'भुक्ति' है। रस भोज्य है विभावादि भोजक (भोगसाधन-सामग्री) हैं। दोनों का सम्बन्ध भोज्य-भोजक भाव है।

भावकत्व का दार्शनिक आधार

भावकत्व या भावना का सिद्धान्त मीमांसा-दर्शन से सम्बन्ध रखता है—वहाँ 'स्वर्ग की इच्छा से ज्योतिष्टोमयाग' की व्यवस्था (ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्ग-काम) में देखा जाय तो याग भावक (साधन) है, स्वर्ग भाव्य (साध्य) है और हवन आदि इतिकर्तव्यता है। इस प्रकार साधन, साध्य और इतिकर्तव्यता को लेकर भावना के तीन अंश बनते हैं। यजनकर्ता पुरुष साधक है जो त्र्यंश भावना से स्वर्ग की सिद्धि करता है। उसी प्रकार यहाँ रसिक प्रमाता साधक है जो रसभोग की सिद्धि करता है। दु:खरहित अखण्ड सुख स्वर्ग है, भोग

साध्य है, विभावादि-साधारणीकरण इतिकर्तव्यता है। इससे जो स्थायी भाव का भावन या साधारणीकरण होता है, वही रस है।

भोजकत्व का दार्शनिक ग्राधार

यह त्रिगुण-सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित है जिसे हम सांख्य ग्रौर वेदान्त दर्शनों में थोड़े ग्रन्तर से पाते हैं : (1) सांख्य में शुद्ध सत्त्वगुण की कोई व्यवस्था नहीं है। रजोगुण (दुःख) ग्रौर तमोगुण (मोह) ग्रभिभूत रह सकते हैं ग्रौर तब चित्त की सात्त्विक दशा मानी जायगी, सर्वथा रजस्तमोहीन ग्रवस्था हो ही नहीं सकती। इस दृष्टि से विचार किया जाय तो काव्य द्वारा सहृदय को सुखात्मक वृत्ति तो सुलभ होगी पर उसमें दुःखादि का लेश ग्रवश्य रहेगा। विशेषतः करुण ग्रादि की दुःखात्मक वृत्तियों में सर्वथा दुःखाभाव न होगा। इतना ही हो सकता है कि सात्त्विक सुख-बोध से ग्रभिभूत हो जाने से शोकादि का दुःख ग्रपना दंश बहुत कम कर दे कि उसकी प्रतीति उभर न सके। सांख्यानुसार यह सत्त्वोद्रेक बनेगा जिसे रसभोग नाम से जाना जायगा। परन्तु (2) वेदान्त में शुद्ध सात्त्विक चित्तवृत्ति भी मान्य है जिसमें रजोगुण ग्रौर तमोगुण का स्पर्श नहीं होता, मिश्रसत्त्व गुण में शेष दोनों गुण ग्रभिभूत होकर रहते हैं। मिश्ररूप मान लेने पर सांख्य की ही स्थापना हाथ लगती है। भट्टनायक ब्रह्मानन्द की तुलना में रसास्वाद को लेकर जब संविद्विश्रान्ति का उपस्थापन करते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि वे शुद्धसत्त्वगुण का उद्रेक मानते हैं जिसमें तामस संकोच ग्रौर राजस दुःख का लेश नहीं रहता। यही रसभोग है।

समीक्षा

भट्टनायक का समय ग्रानन्दवर्धन (ग्राठवीं शताब्दी) के बाद है क्योंकि वे ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन करते देखे जाते हैं। ग्रभिनवगुप्त (नवीं शताब्दी) ने भट्टनायक का खण्डन कर ध्वनिमत की प्रतिष्ठा की है। ग्रतः भट्टनायक दोनों के मध्य में ग्राते हैं। ग्रभिनवगुप्त ने परिपुष्ट तर्कों से भट्टनायक की समीक्षा की है :

1. भावना से क्या समझा जाय ? मीमांसा की भावना उत्पादना या क्रिया है जिससे स्वर्ग की उत्पत्ति होती है, पर भट्टनायक 'उत्पत्ति' के विरोधी हैं।

2. साधारणीकरण से ध्वनिमत को भी विरोध नहीं, परन्तु स्वतन्त्र व्यापार के रूप में व्यञ्जना से पृथक् उसकी सत्ता क्या बन सकती है ? नाम बदल देने भर से कोई नवीन ग्रर्थ तो नहीं लाया जा सकता ?

3. भट्टनायक एक ग्रोर कहते हैं कि रस की प्रतीति ग्रौर ग्रभिव्यक्ति नहीं होती, भुक्ति होती है, परन्तु भुक्ति भी तो प्रतीति ही है ग्रौर तब उसे ग्रनुभव

या स्मृति से विलक्षण मानने पर अभिव्यक्ति ही मान्य होगी, 'भुक्ति' नाम रख देने से अन्तर नहीं आता।

4. स्वगत स्थायी भाव की प्रतीति से लज्जा आदि बाधाओं की बात उठायी गयी है, पर साधारणीकृत भाववासना स्वगत होने पर भी वैयक्तिक नहीं होती अतः निर्बाध रस प्रतीति हो जाती है, इसमें क्या आपत्ति है ?

5. असत् (कहीं भी अविद्यमान) स्थायी भाव का भोग कैसे हो सकता है ?

अभिनवगुप्त द्वारा ध्वनिसम्मत अभिव्यक्तिवाद का पुनःस्थापन

ध्वनि-विरोधी तीनों मतों को रस-निष्पत्ति में अपर्याप्त मानकर अभिनवगुप्त-पादाचार्य ने ध्वनि-मत के आधार पर रस-व्यञ्जना का सिद्धान्त पुनः प्रतिष्ठित किया, उस सिद्धान्त को अभिव्यक्तिवाद कहते हैं। इस मत में उक्त सभी मतों को यथायोग्य स्थान भी दिया गया है, और आलोचना भी की गयी है :

1. 'रस' शब्द रसिक-सापेक्ष है अत: स्थायीभाव की उत्पत्ति को रसनिष्पत्ति मानना असंगत है क्योंकि रसिक में भावोत्पत्ति नहीं होती। परन्तु लोक में कारण द्वारा भाव की उत्पत्ति होती है, इसे अमान्य नहीं कर सकते, यह तो व्यावहारिक यथार्थ है।

2. लोक में प्रमदा आदि को देखकर किसी पुरुष में उत्पन्न रत्यादि भाव की कटाक्षादि चेष्टाएँ देख कर कोई भी उस पुरुष में भाव की अनुमिति कर सकता है। जो अनुमानपटु नहीं है, उसे अनुभावादि से भाव-बोध नहीं हो सकता और तब उसकी वासना ही व्यक्त न होगी कि वह रसिक बन सके।

3. भट्टशंकुक पात्रानुकरण और भावानुकरण मान कर चलते हैं, जिसको असंगत माना गया है। किसी के भाव की अनुकृति असंभव है और पात्र—राम, सीता, आदि—को किसी ने देखा नहीं। काव्य और नाट्य में देश-काल-पात्र के अनुसार लोकव्यवहार का उपस्थापन किया जाता है, इसे ही भरतमत में अनुकरण कहना चाहिए। उदाहरणार्थ :

महूँ सनेह सँकोच बस सनमुख कहे न बैन।
दरसन तृपित न आजु लगि पेम पिआसे नैन ॥ (मानस)

यह भरत का अनुकरण नहीं है, प्रत्युत उत्तमप्रकृति अनुज के व्यवहार का उपस्थापन है जिसे भरत पर अध्यारोपित किया गया है।

4. जहाँ तक साधारणीकरणरूप भावन-व्यापार का सम्बन्ध है, उसे अमान्य नहीं किया गया है, प्रत्युत व्यञ्जना का ही पर्याय माना गया है। कारण, कार्य और सहकारी भाव, तीनों सम्मिलित होकर स्थायीभाव (रसिक की वासना) को व्यक्त करते हैं, यही व्यञ्जना भावन-व्यापार है। वे तीनों व्यञ्जक होने से ही विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव नाम पाते हैं। जब तक विभावादि

साधारणीकृत न होंगे तब तक सहृदय की वह वासना व्यक्त नहीं हो सकती जो रसरूप में आस्वादित होती है। विभावादि स्वकीय, परकीय और तटस्थीय सीमाओं से परे हो जाते हैं, यही उनके व्यञ्जक होने का रहस्य है और व्यञ्जकत्व ही भावना व्यापार है। अतिरिक्त काव्य-व्यापार के रूप में ही भावना अमान्य है।

5. स्थायी भाव असत् है, यह कैसे माना जा सकता है? सत् स्थायी ही रस हो सकता है। तब प्रश्न आता है कि यह स्थायी किस का माना जाय। अनुकार्य स्वयं ही असत् है, तब उसके स्थायी का प्रश्न ही क्या? अनुकारक सत् है, पर उसमें अभिनयमात्र होता है, स्थायी भाव या कोई भाव असत् है। काव्यमात्र में कोई स्थायी भाव नहीं हो सकता, वह भी विभावानुभाव-योजना करके अभिनय का ही रूपान्तर है। तब भाव-सत्ता का आश्रय सहृदय ही हो सकता है।

6. सहृदय का स्वगत स्थायी भाव रसरूप में कैसे आ सकता है? वह तो वैयक्तिक है, यह आक्षेप बचता है। भाव तभी वैयक्तिक हो सकता है जब विभावादि वैयक्तिक हों, या वैयक्तिक विभाव की स्मृति रस-बाधक होकर आये। सहृदय को ऐसा कुछ नहीं होता। उदाहरणार्थ, पुरुष सहृदय दुष्यन्त को व्यक्तिरूप में नहीं लेता और न शकुन्तला को उसकी या अपनी मानकर लेता है, इसी प्रकार सहृदय स्त्री दुष्यन्त को अपना कान्त मानकर नहीं लेती। वहाँ तो दुष्यन्तत्व और शकुन्तलात्व नहीं रहते, उनके स्थान पर सामान्य कान्तत्व और कान्तात्व बचते हैं। यही कारण है कि सहृदय में व्यक्तिगत भाव उदित ही नहीं होता। वह मानवमात्र का सामान्य भाव होता है जो वासनारूप से मानस-संस्थान में निहित होता है और साधारणीकृत विभावादि से व्यक्त होकर रसत्व प्राप्त करता है।

7. भुक्ति शब्द से विरोध नहीं है। उसे व्यञ्जना से भिन्न काव्यव्यापार अमान्य किया गया है। भुक्ति या आस्वाद या चर्वणा काव्य में व्यञ्जना-पर्याय हैं। रसिक की स्थायी भाव-वासना विभावादि से व्यक्त या भुक्त या आस्वादित या चर्वित होती है, यही रस है।

8. लोक में कारण से भावरूप कार्य की उत्पत्ति वैयक्तिक होती है अतएव वह मनोवेग का रूप लेकर भावानुरूप प्रक्रिया का जनन करती है। परन्तु काव्य में विभावादि की सम्मिलित सामग्री से भाववासना व्यक्त होती है जो मनोवेगात्मक नहीं है अतः रसिक की प्रतिक्रिया भी भिन्न होती है, उसे चमत्कार कहते हैं। रोमाञ्च, अश्रु आदि से सहृदय जो प्रतिक्रिया प्रकट करता है वह सर्वाङ्ग आलिङ्गन करती हुई, बाह्य विषयों को तिरोहित करती हुई सी उदय लेती है, यही चमत्कार है।

9. इस प्रकार की निर्विघ्न प्रतिपत्ति रस है।

सर्वथा रसनात्मक-वीत-विघ्न-प्रतीति-ग्राह्यो भाव एव रसः।

(अभिनवभारती)

विभावादि-सामग्री से विघ्नों का अपसरण होता है और तब ऐसी प्रतीति होती है जिसे चमत्कार, निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि शब्दों से जाना जाता है। विघ्न अनेक होते हैं :

अयोग्यता : रस-प्रतीति में अयोग्यता प्रथम विघ्न है जो पुरुष को रसिक ही नहीं होने देता।

संभावना-विरह : यह दूसरा विघ्न है कि सहृदय संवेद्य रस में अपनी संविद् टिका नहीं पाता है। हृदयसंवाद तभी हो पाता है जब विषय लोकसामान्य हो। लोक से परे वर्ण्य विषय हो तो उन चेष्टाओं में लय संभव नहीं होता।

स्वगत विशेषावेश : काव्य या नाट्य के रत्यादि को सहृदय अपना मान ले, इसमें विघ्न बनता है। उस दशा में गोपन की इच्छा, उससे बचने की प्रवृत्ति, उसी प्रकार के सुखभोग के प्राप्त करने की इच्छा, उसे छोड़ भागने की इच्छा, या प्रख्यापन की इच्छा इत्यादि विविध संवेदन खड़े हो जाते हैं जो विघ्न हैं।

परगत विषयावेश : होने पर तटस्थता, सुख, दुःख, मोह आदि रसिक के संवेदन रस प्रतीति से विमुख कर देते हैं। दूसरे का भाव होने से कहीं ईर्ष्या, जुगुप्सा, लज्जा, दया आदि का उदय हो सकता है जिससे काव्यार्थ में तल्लीनता नहीं हो पाती।

निज-सुखादि-वशीभाव : वह विघ्न है जिसमें दर्शक काव्य-विषय से अलग अपने सुख-दुःख-प्रसंगों का स्मरण कर काव्यार्थ से हट कर अपनी मनोदशा में खो जाता है। काव्य-भाव से भिन्न भाव यहाँ विघ्न बन जाता है।

प्रतीत्युपाय-वैकल्य : वह है जिसमें विभावादि योजना ठीक न हो। उस कमी से सहृदय में उदासीनता आ जाती है।

अस्फुटत्व : दोष में काव्य-रस स्पष्ट प्रतीति में नहीं आता। कवि जब अलंकारादि-योजना का लदाव बढ़ा देता है तब श्लेष आदि की गुत्थी सुलझाने में लगा हुआ रसिक रसभोग से वञ्चित रह जाता है।

अप्रधानता : विघ्न में रस प्रधान न रहकर अन्य वस्तु प्रधान हो जाता है, तब रस गौण हो जाता है जिससे प्रतीति में नहीं उतरता।

संशय : उपस्थित हो कि कौन-सा रस है, रस है या नहीं। उस दशा में भी रसबोध संभव नहीं होता।

उक्त विघ्नों से अस्पृष्ट मनोदशा में ही रस-निष्पत्ति संभव होती है। काव्य सर्वथा सहृदय-सापेक्ष है। काव्य-परिभाषा लागू करने भर से काव्य नहीं होता, किसी के लिए काव्य तभी है जब वह उसे तल्लीनता दे सके। उदासीन के लिए काव्य भी अकाव्य है।

10. रस-सामग्री की पूर्णता विभावादि-त्रय से होती है। केवल विभाव पर्याप्त नहीं—व्याघ्र आदि आलम्बन भय, विस्मय और उत्साह के कारण हो सकते हैं, अत: अनुभावादि के बिना निर्णय नहीं हो सकता कि कौन-सा भाव और रस है। कम्प, स्वेद, रोमाञ्च, स्तम्भ आदि अनुभाव अकेले ही हों तो भी भय, विस्मय, क्रोध, रति, जुगुप्सा भावों में निर्णय संभव न होगा अत: विभाव और व्यभिचारी भाव निर्णायक होंगे। निर्वेद, शङ्का, जड़ता, विषाद आदि व्यभिचारी सभी स्थायी भावों के सहकारी हो सकते हैं, अत: विभाव और अनुभाव निर्णायक होंगे। इसीलिए तीनों का संयोग रस-सूत्र में आवश्यक माना गया है।

ध्वनिमत का सारांश यह है कि भरत-सूत्र में 'निष्पत्ति' का अर्थ व्यञ्जना या अभिव्यक्ति है। सहृदय का भाव ही व्यक्त होकर रसरूप लेता है। विभावादि और रस के मध्य व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव सम्बन्ध है, यही 'संयोग' पद का अर्थ है। रसनिष्पत्ति सहृदय में ही होती है।

रस विषयगत है या विषयिगत ?

जब से पाश्चात्य चिन्तन से 'रियलिज़्म' और 'आइडियलिज़्म' के द्वन्द्व का आयात भारत में हुआ तब से विचार-सरणि में कतिपय अपरिचित-पूर्व प्रश्नों ने प्रवेश पा लिया। उन्हीं में-से यह प्रश्न है कि रस विषयगत है या विषयिगत—अर्थात् वह वस्तुनिष्ठ है या आत्मनिष्ठ। काव्य के संदर्भ में विषय या तो काव्य है या काव्य का वर्ण्य। विषयी स्वयं सहृदय है जो काव्यार्थ-संवेदन-कर्ता है। रस की स्थिति कहाँ है? रस के आश्रय की खोज पुरातन है, पर विषय और विषयी नामों से विचार नहीं किया गया था। डा० नगेंद्र आदि कुछ विद्वानों ने निर्णायक स्वर में कहने का प्रयास किया है कि भरत, लोल्लट और शंकुक ने रस को वस्तुनिष्ठ (विषयगत) माना है जबकि भट्टनायक और अभिनवगुप्त (आनन्दवर्धन आदि सभी ध्वनिवादी) उसे आत्मनिष्ठ (विषयिगत) बताते हैं। यह 'आब्जेक्टिव' और 'सब्जेक्टिव' में होने वाला विचार-द्वन्द्व जान पड़ता है।[11] ऊपर जो मत प्रस्तुत हैं उनको अलग-अलग लेकर इस तथ्य को स्पष्ट कर लेना चाहिए।

भरत—इस अध्याय के आरम्भ में देखा गया है कि भरत में कुछ बातें अस्पष्ट रहीं। भरत ने रससूत्र की व्याख्या में कहा है:

यथा हि नाना-व्यञ्जन-संस्कृतमन्नं भुञ्जाना
रसानास्वादयन्ति सुमनस: पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति
तथा नाना-भावाभिनय-व्यञ्जितान् वागङ्ग-सत्त्वोपेतान्
स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनस: प्रेक्षका हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।'

(ना. शा. 31-32)

यहाँ दृष्टान्त में कहा गया है कि व्यञ्जनसंस्कृत अन्न खाने वाले सुमनस् पुरुष रसास्वाद कर हर्षादि प्राप्त करते हैं। फिर कहा गया है कि अभिनयों से व्यञ्जित स्थायी भावों को सुमनस् प्रेक्षक अस्वादित कर हर्षादि अनुभव करते हैं। यह स्पष्ट नहीं कि रस अन्न में है या आस्वादकर्ता में। इसी प्रकार यह भी शब्द से नहीं कहा गया कि स्थायीभाव का आस्वाद रस है या आस्वाद से पूव उसे रस कहेंगे। तब भरत को विषयगततत्ववादी कहना असंगत है। आचार्यों के समक्ष यही प्रश्न रहा है कि रसरूप लेने वाले स्थायी की उपस्थिति कहाँ है। रस रसिक में निष्पन्न होता है या उससे भिन्न किसी में ? इसी प्रश्न का उत्तर आगे मतभेद का कारण रहा है।

चमत्कार की व्याख्या ऊपर हो चुकी है। चमत्कार को रस माना जाय तो उसे विषयिगत मानना होगा क्योंकि चमत्कारात्मक अनुभूति सहृदय का भागधेय है। जब भरत कहते हैं :

शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना। (ना० शा० 9/7)

तब वे चमत्काररूप रसनिष्पत्ति रसिक में ही मानते हैं। अन्न में रस की उपस्थिति मान भी लें (वह मूर्त है) तो अमूर्त काव्यार्थ का रस कहाँ माना जाय ? आस्वाद्यमानता से बाहर स्थायी भाव रस हो सकता है, यह तर्कसंगत भी नही और भरत से निर्णय भी नहीं मिलता।

भट्टलोल्लट

अनुकार्य में रस मान कर भट्टलोल क्या कहना चाहते हैं, स्पष्ट नहीं। अनुकार्य की सत्ता अनुकारक से पृथक् गम्य नहीं। सहृदय अनुकारक के माध्यम से अनुकार्य को हृदयंगम करता है। वस्तुत: सहृदय से बाहर अनुकार्य की सत्ता ही क्या है ? और तब अनुकार्य का स्थायी भी सहृदय से बाहर क्या होगा ? कदाचित् कुछ पण्डितों ने यह मान लिया है कि अनुकार्य लोकगत पात्र है और रस उसमें रहता है। यद्यपि अनुकृतिवादी लोल्लट का अभिमत यह नहीं है, फिर भी मान लिया जाय तो क्या लोक में क्रोधादि भाव रस हैं ? काव्यगत होकर ही रस की व्यवस्था है और तब रस विषयगत कहाँ है ? अनुकार्य की कल्पना को प्रमाणित आधार मान कर रस को विषयगत और लोल्लट को विषयगततत्ववादी कह सकते हैं।

भट्टशंकुक

शंकुक अनुकारक में असत् अनुकृत स्थायी भाव को रस कहते हैं जिसे सहृदय अनुमान-गम्य करके अपनी वासना से आस्वादित करता है (काव्यप्रकाश)। अनु-

कारक को विषय मान लिया जाय तो भी उसमें रस की सत्ता मान्य नहीं। धूम से अग्नि के अनुमान में अग्नि विषयगत है, पर विभावादि से रस के अनुमान में रस विषयगत नहीं है, असत् होकर भी वासना की अपेक्षा से आस्वादयोग्य हो जाता है। शंकुक को सर्वात्मना विषयगतत्ववादी मान लेना योग्य नहीं प्रतीत होता। विषयी रसिक है और वही आस्वादयिता है और तभी रस की निष्पत्ति है क्योंकि अनुमिति सहृदय में ही होती है।

भट्टनायक

भट्टनायक साधारणीकृत स्थायी भाव को रस मानते हैं जिसकी उपस्थिति काव्य-व्यापार में है। उसका भोग सहृदय का भाग है जो सर्वमान्य है, प्रक्रियामात्र का मतभेद है। असत् स्थायीभाव को रस मान लेने पर स्वगत-परगत-विलक्षण स्थिति काव्य में ही हो सकती है और काव्य अपने-आप में विषय है जैसे अनुकार्य या अनुकारक विषय हैं। तब रस विषयगत ही है। भट्टनायक को विषयि-गतत्ववादी मानने का कारण समझ से परे है। रस अनुकृत हो, भावित हो या व्यक्त हो, रसिक द्वारा ही आस्वादित होगा, यहाँ तक कि अन्न-रस भी भोक्ता ही आस्वादित करेगा। ऐसी स्थिति में भट्टनायक सर्वात्मना किसी पक्ष में नहीं लिये जा सकते। विषयी (भोक्ता) में वे 'रस' नहीं मानते, उसकी भुक्ति को विषयी में सभी मानते हैं।

अभिनवगुप्त

ध्वनिसिद्धान्त में विषय और विषयी का विभाग ध्यान में रखना चाहिए। लोक में भाव वस्तुगत होता है और उससे निष्पन्न प्रीति (तृप्ति) प्रमाता की होती है। पर काव्य में कवि (या नट) से पृथक् भाव का अधिष्ठान नहीं होता और कवि काव्य के माध्यम से उसे प्रेषित करता है जिससे रसिक का वही भाव व्यक्त होता है—कवि के भाव की भावना से रसात्मक भाव स्वरूप लेता है :

कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यये। (ना० शा० 7/2)

कवि का यही गौरव है कि उसका भाव लोक से आता है और फिर काव्यरूप में परिणति लेता है :

श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः। (कालिदास : 'रघुवंश', 14)

अतएव आनन्दवर्धन ने भी आदिकवि के शोक को श्लोकरूप में परिणत बताया है।[12] यह भाव कवि और रसिक के मध्यवर्ती नायक का भी देखा जाता है, भले ही उसकी सत्ता कल्पित है। तीनों के भावों की एकता ही रस का रहस्य है—इसी को तादात्म्य कहते हैं :

नायकस्य कवे: श्रोतु: समानोऽनुभवस्तत: । (भट्ट तौत)

अब विचार करें तो स्पष्ट होगा कि नायक की सत्ता में कवि एकाकार रहता है और उन दोनों की एकाकारता सहृदय में फलित होती है क्योंकि सहृदय की भावना या वासना से बाहर न नायकादि की सत्ता प्रमाणित है और न इस माध्यम से पृथक् कवि का कोई प्रमाण है। अत: विषय और विषयी दोनों की स्थिति सहृदय में रहती है : अत: विषय स्थायीभाव है और वह सहृदय की वासना ही है तथा प्रमाता होने से वह विषयी भी है। अन्नरस के समान रस और भोक्ता पृथक् नहीं हैं। इस प्रकार अभिनव आदि को विषयिनिष्ठतावादी कह सकते हैं। 'सब्जेक्टिव' और 'आब्जेक्टिव' में पूर्णतया बँटवारा संभव नहीं है। आस्वाद्य वासना आस्वादयिता में ही है। जैसे : स्वप्न में विषय और विषयी का अन्तर नहीं रहता, वैसा ही यहाँ भी मान्य है।[13] सम्पूर्ण सृष्टि स्वगत है और स्वयं वही प्रमाता भी है।

ध्वनिमत की यदि यही आत्मनिष्ठता है तो सर्वमान्य है। काव्य में रसयिता से भिन्न होता ही क्या है ? केवल शब्दार्थज्ञान वाला तो यहाँ अकिंचन है, कवि या नट नियोजन का कार्य कर सकता है पर आस्वाद तो आस्वादयिता का ही भाग है।[14] रसनिष्पत्ति के प्रमाता से बाहर किसी विषय में रस होता तो उसे सब सुलभ कर लेते जैसा कि आम के फल-रस में देखते हैं, पर इस दृष्टान्त से काव्यरस की व्याख्या संभव नहीं।

सन्दर्भ

1. 'यथा बहुद्रव्य-युतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम् ।
   आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जना: ॥
   भावाभिनय-संवद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधा: ।
   आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसा: स्मृता: ॥'—'नाट्यशास्त्र', 6/32-33.
2. 'योऽर्थो हृदय-संवादी तस्य भावो रसोद्भव: ।
   शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥'—वही, 7/7.
3. 'विभावानुभाव-व्यभिचारि-परिवृतो
   स्थायिभावो रसो नाम ।'—वही.
4. 'विभावेनाहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते ।
   वागङ्ग-सत्त्वाभिनयै: स भाव इति संज्ञित: ॥'—वही, 7/1.
5. दे० 'अभिनवभारती', अध्याय 6, रससूत्र; 'काव्यप्रकाश', उल्लास 6, रसविवेचन;

'साहित्यदर्पण', रस-विचार; रसगङ्गाधर, रससूत्र। 'काव्यदर्पण' (पं० रामदहिन मिश्र); 'रसविमर्श' (डा० राममूर्ति त्रिपाठी); 'साहित्यालोचन' (डा० श्यामसुन्दर दास); 'रसमीमांसा' (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल); 'काव्य के रूप' (डा० गुलाब राय); 'ध्वनि-सिद्धान्त तथा तुलनीय काव्यचिन्तन' (डा० बच्चूलाल अवस्थी); 'काव्याङ्गदीपिका' (डा० बच्चूलाल अवस्थी), नया साहित्य : नये प्रश्न' (आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी) और 'काव्य शास्त्र' (डा० भगीरथ मिश्र).

6. दे० वही, तथा 'व्यक्तिविवेक' (महिमभट्ट); 'ध्वनिखण्डनम्' (आचार्य आनन्द झा).
7. 'प्रतिभाति न सन्देहो न तत्त्वं न विपर्ययः।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि ॥
विरुद्ध-बुद्धि-संभेदादविवेचित-संप्लवः।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया ॥ —'अभिनवभारती', रससूत्र, उद्धरण.
8. दे० सन्दर्भ 5-7, तथा 'ध्वन्यालोक' (आनन्दवर्धन).
9. उक्त सन्दर्भों के अतिरिक्त दे० 'ध्वन्यालोकलोचन' (आचार्य अभिनवगुप्त).
10. 'अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतमेव च।
अभिधा-धामतां याते शब्दार्थालंकृती ततः ॥
भावना-भाव्य एषोपि शृङ्गारादिगणो भवेत्।
तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान् नरः ॥'—'अभिनवभारती', 6/रससूत्र.
11. दे० 'रससिद्धान्त' (डा० नगेन्द्र).
12. 'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्व-वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥' —'ध्वन्यालोक', 1.
13. 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति।
अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते। न तत्रानन्दा]
मुदः प्रमुदो भवन्ति। अव्यानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते।
न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्ति।
अथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते। स हि कर्ता ॥'
—'बृहदारण्यकोपनिषद्', 4/3/10.
14. 'काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक् ॥'

ध्वनिमत में पूर्ववर्ती मतों का समाहार

प्रथम अध्याय में देखा जा चुका है कि ध्वनिपूर्व काव्य-चिन्तन के महत्त्वपूर्ण सोपान भरत, भामह और वामन को माना जा सकता है। आठवीं शताब्दी में ध्वनि की स्थापना के अनन्तर चिन्तन को नयी दिशा मिली और ध्वनि विरोधी मतों का उदय हुआ। पूर्ववर्ती विचारधारा में भरत सर्वमान्य हैं, परन्तु उनके रससिद्धान्त पर जो विवाद चले उन पर पिछले अध्याय में विवेचन किया जा चुका है। भरत ने रस के अतिरिक्त अलंकार, गुण, दोषाभाव आदि पर भी संक्षेप में विचार किया था, उसी परम्परा में अलंकार-सिद्धान्त तथा रीति-सिद्धान्त प्रसृत हुए। इस अध्याय में इन्हीं पर ध्यान देना है कि व्यङ्ग्य अर्थ को काव्य-सर्वस्व मान लेने पर उन काव्याङ्गों को क्या स्थान दिया गया।

अलंकार

भामह के 'काव्यालंकार' ग्रन्थ में यद्यपि अलंकारों का संक्षिप्त विवेचन है, फिर भी उनकी विचार-शैली से प्रतीत होता है कि वे अलंकार को ही काव्य-सर्वस्व मानते हैं। उन्होंने रीति, गुण, और दोष का भी दिग्दर्शन किया है, पर सभी अङ्गों को अलंकार मान कर चले हैं। रस, भाव आदि को भी उन्होंने अलंकार-वर्ग में ही विवेचित किया है। यद्यपि उनके समय तक नामधारी अलंकारों की संख्या अल्प थी और उनका स्वरूप-निर्धारण भी संक्षिप्त ही था, फिर भी उन्होंने अतिशयोक्ति के प्रसंग में जो कुछ कहा है उससे व्यापक अलंकार-दृष्टि का पर्याप्त संकेत मिल जाता है :

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

अर्थात् सब-की-सब यह (अतिशयोक्ति) वक्रोक्ति ही है जिससे अर्थ की विशेषता प्रकट होती है। इसमें कवि को यत्नशील होना चाहिए क्योंकि इसके बिना कोई अलंकार नहीं होता। यहाँ भामह दो बातें कहना चाहते हैं—एक तो यह कि जिन अलंकारों के नाम और लक्षण प्रसिद्ध हैं, उनमें भी उक्ति की वक्रताव ाली

अतिशयोक्ति रहती है, तभी वे काव्यालंकार बनते हैं। दूसरे यह कि उक्ति-वक्रता के आधार पर असंख्य अलंकार हो सकते हैं। इस प्रकार भामह काव्य-सर्वस्व अलंकार को और अलंकार सर्वस्व वक्रोक्ति को मानते हैं। उनका यह उत्तम प्रस्थान है। उनके अनुसार शब्दार्थ-साहित्य ही काव्य है और साहित्य के निर्धारक तत्त्व अलंकार हैं।

भामह का समय छठी शताब्दी ई० माना जाता है। उनके बाद दण्डी ने 'काव्यादर्श' ग्रन्थ द्वारा इस प्रस्थान को पूर्णता देने का प्रयास किया। यह धारा उद्‌भट, रुद्रट आदि आचार्यों से प्रसृत होकर ध्वनिवादी आचार्य रुय्यक तक आती है जिन्होंने 'अलंकारसर्वस्व' ग्रन्थ में स्फुट विवेचन प्रस्तुत किया। मध्यकाल में अप्पय दीक्षित का 'कुवलयानन्द' उत्तम अलंकार-ग्रन्थ है।

सातवीं शताब्दी के आचार्य वामन द्वारा अलंकार और गुण का अन्तर स्पष्ट किया गया, यहीं से विवेचना को नई दिशा मिली। उनका 'काव्यालंकार-सूत्र' ग्रन्थ इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसमें स्पष्ट किया गया कि गुण काव्य-शोभा के जनक तत्त्व हैं जबकि अलंकार गुणजनित शोभा के पोषक हैं।[1] केवल गुण हों तो भी काव्य-शोभा देखी जाती है, पर केवल अलंकार शोभाकारक नहीं हो सकते।[2] यहीं से अलंकारों का स्थान द्वितीय श्रेणी के काव्याङ्ग के रूप में देखा जाता है।

ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के अनन्तर अलंकारों की महिमा और कम हुई, पर काव्य में उनका स्थान वैसा माना गया जैसा कि शरीर में पहने हुए आभूषणों का होता है। शरीर के आभरण आत्मा को उत्कर्ष देते हैं जबकि काव्य के अलंकार रस के उपकारक होते हैं। काव्य में उनकी सत्ता अपरिहार्य नहीं मानी गयी।[3] इस मान्यता पर ध्वनिवादियों में भी ऐकमत्य नहीं हो सका। पीयूषवर्षी जयदेव ने अपने ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' में कहा कि जो विद्वान् यह मानता है कि अलंकारहीन भी काव्य हो सकता है, वह यह क्यों नहीं मान लेता कि अग्नि में उष्णता नहीं होती।[4]

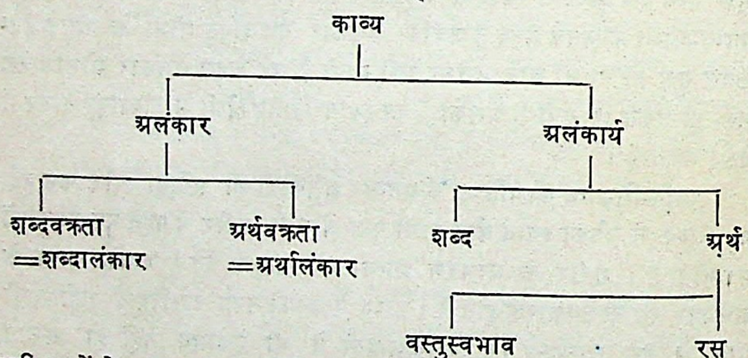
आचार्य मम्मट ने काव्यालंकारों को हार आदि के समान बता कर वस्तुतः विवाद खड़ा कर लिया है। यह मान भी लें कि स्फुट अलंकार न हो तो भी काव्यत्व की क्षति नहीं है, परन्तु जहाँ स्फुट अलंकार की सत्ता है, वहाँ उसे हार के तुल्य कैसे कहा जा सकता है। हार पहिना और उतारा जाता है, पर काव्यालंकार काव्य का अपरिहार्य अङ्ग ही होता है। वह जहाँ है वहाँ न रहे तो काव्य भी न रहेगा। जैसे :

राम-कथा कलि-पन्नग भरनी।
पुनि बिबेक-पावक कहुँ अरनी।। (मानस)

यहाँ रूपक को हार के समान उतार दिया जाय तो क्या बचेगा जिसे कविता

कहा जाय ? अधिक-से-अधिक कह सकते हैं कि बिना अलंकार का भी काव्य असंभव नहीं, पर जहाँ कविता अलंकार-समवेत है, वहाँ उसे अलग मानना वैसा है जैसे आग से अलग गर्मी मानना।

मध्यकाल तक ध्वनिपरक चिन्तन चलता रहा, इस बीच कुन्तक जैसे अलंकारवादी आचार्य ने अलंकार को पुनः प्रतिष्ठा देने का प्रयास किया। 'वक्रोक्तिजीवित' उनका ध्वनि-खण्डन-परक ग्रन्थ है। उसमें उन्होंने अलंकार और अलंकार्य का अन्तर स्पष्ट करके बताया कि शब्द और अर्थ अलंकार्य हैं जबकि एकमात्र वक्रोक्ति (उक्ति का बाँकपन) अलंकार है, विदग्धतापूर्ण उक्ति-वैचित्र्य को वक्रोक्ति कहते हैं।[5] जहाँ उक्ति की विचित्रता है, वहाँ वक्रोक्ति है और जहाँ वक्रोक्ति है वहाँ अलंकार है, अत: 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' कह कर आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का प्राण घोषित किया। कुन्तक ने अर्थ के दो वर्ग किये हैं : वस्तु-स्वभाव और रस। इस प्रकार काव्यघटक शब्द, वस्तुस्वभाव और रस अलंकार्य हैं जिन्हें अलंकृत करने वाला अलंकार वक्रोक्ति है।



ध्वनिमत में केवल रस (या व्यङ्ग्यार्थ) को अलंकार्य माना जाता है। शब्द और वाच्य के अलंकार रस के ही उपकारक होते हैं जैसा कि देखा गया। जिस प्रकार कुन्तक और भामह ने वक्रोक्ति को मूल मान कर अलंकारों को असंख्य बना दिया, उसी प्रकार ध्वनिमत में ही व्यङ्ग्य के गौण स्पर्श से विविध अलंकार बनते हैं, चाहे नामकरण के साथ उनका शास्त्रों में उल्लेख न हुआ हो। उस सन्दर्भ में भामह की वक्रोक्ति-सम्बन्धी धारणा को आनन्दवर्धन मान्य करते हैं, और सभी वाच्यालंकारों में व्यङ्ग्य की उपयोगिता ठहराते हैं।[6]

गुण

भरत ने दोषाभाव को महत्त्वपूर्ण गुण माना है। दोष न होने मात्र से माधुर्य और औदार्य गुण बन जाते हैं। तदनुसार गुणविपर्यय को दोष कहते हैं।[7] दोषाभावरूप गुण के अतिरिक्त भरत ने दस गुण बताये हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि,

माधुर्य, ओजस्, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति।[8] भामह ने माधुर्य, ओजस् और प्रसाद—ये तीन ही गुण माने हैं।

आचार्य वामन उक्त गुणों को मान्य करते हुए भी दसों का शब्दगुण और अर्थगुण के रूप में व्याख्या देते हैं। इस प्रकार गुणों की संख्या बीस हो जाती है। सर्वगुणयुक्त वैदर्भी रीति को ही वामन उत्तम काव्य की शैली मानते हैं। अलंकारों की अपेक्षा गुणों को काव्य का अन्तरङ्ग शोभाजनक तत्त्व मानना वामन की विशेषता है।[9] इस प्रकार वे मूलत: गुणवादी आचार्य हैं।

ध्वनिसिद्धान्त में आकर गुणों की संख्या तीन देखी जाती है : माधुर्य, ओजस् और प्रसाद। ये गुण रस-धर्म हैं। रसानुभूति-क्षण में सहृदय के हृदय की अवस्था के आधार पर गुणों को मान्य किया गया है।

1. रस का आह्लादकत्व गुण माधुर्य है जो हृदय में द्रुति उत्पन्न करता है। यह गुण संभोग शृङ्गार, करुण, विप्रलम्भ शृङ्गार और शान्त रसों में क्रमश: अतिशय लेता है। अर्थात् उत्तरोत्तर द्रुति की अधिकता रहती है जिससे वे रस मधुर, मधुरतर और मधुरतम बनते हैं। हृदय की स्थिति द्रुततम होती है।[10]

2. ओजोगुण हृदय में दीप्ति का कारण है। आत्मविस्तार ही दीप्ति है। यह गुण वीर, वीभत्स और रौद्र रसों में उत्तरोत्तर उत्कर्ष लेता है जिससे वीर रस ओजस्वी, वीभत्स ओजस्वितर और रौद्र ओजस्वितम माने जाते हैं। रसानुभूति में हृदय दीप्त, दीप्ततर और दीप्ततम रहता है।[11]

3. प्रसाद गुण का कार्य व्याप्ति है। शुष्क इन्धन अथवा स्वच्छ जल के समान सहसा हृदय को रस व्याप्त कर लेता है, यही प्रसाद का कार्य है। यह सभी रसों का गुण है।[12]

इस प्रकार छह रसों में दो गुणों की स्थिति है शेष में एक की—शृङ्गार, करुण और शान्त में प्रसाद के साथ माधुर्य गुण होते हैं। वीर, वीभत्स और रौद्र में प्रसाद तथा ओजस् की स्थिति है। हास्य, अद्भुत तथा भयानक में केवल प्रसाद गुण रहता है। प्रथमोक्त तीन रसों में व्याप्ति और द्रुति, द्वितीयोक्त वर्ग में व्याप्ति और दीप्त तथा शेष हास्य, अद्भुत और भयानक में केवल व्याप्ति की व्यवस्था है जो सहृदय के चित्त की अवस्थाएँ हैं।

ध्वनिमत के अनुसार गुणों की मुख्य स्थिति रस-सापेक्ष ही है। गौण रूप में वे रचना में स्थित मान लिये जाते हैं और तब शब्दगुण तथा अर्थगुण की चर्चा की जाती है।[13] इस प्रकार वामन आदि की गुण-व्यवस्था रस-परक न होकर शब्दार्थ-परक है अत: वे गौण अर्थ में ही 'गुण' शब्द का प्रयोग करते हैं।

मम्मट ने अर्थगुणों को सर्वथा अमान्य किया है।[14] इस प्रकार वामन की अवधारणा ध्वनिमत में हेय है। भामह ने तीन गुणों को ही माना है और ध्वनिमत में उन्ही की व्याख्या की जाती है। गुणों की संख्या दस नहीं हो सकती

क्योंकि शेष सात गुणों में कुछ तीन में अन्तर्भूत हैं, कुछ दोषाभावरूप हैं और कुछ कहीं-कहीं दोष भी बन जाते हैं।[15]

(क) वामन ने (1) श्लेष में बहुत पदों का एकपद के समान भासित होना माना है (2) समाधि में शैली का आरोह और अवरोह या इसका उलटा क्रम माना है (3) उदारता गुण में पदबन्ध की विकटता मानी है (4) पदबन्ध की प्रगाढ़ता से मिश्रित शिथिलता को प्रसाद का लक्षण माना है। ये चारों गौण ओजस् में अन्तर्भूत मानने चाहिए। (5) अर्थव्यक्ति का प्रसाद में ही अन्तर्भाव है।

(ख) वामन ने (1) अपरुषता को सुकुमारता माना है जो कष्टत्व दोष के त्याग से बनने वाला गुण है, (2) पदों की उज्जवलता कान्तिगुण है जो ग्राम्यत्व दोष के निराकरण से बनता है। इस प्रकार वामन के दो शब्द-गुण दोषाभाव मात्र हैं।

(ग) वामन के अनुसार अपरिवर्तित शैली या रीति की एकरसता समतागुण है। उसे सर्वत्र गुण नहीं माना जा सकता। अर्थानुसार शैलीपरिवर्तन आवश्यक है, वैसा न हो तो समता को दोष ही कहा जायगा।

(घ) ऊपर शब्दगुणों की दश-विधता का निराकरण किया गया, अब अर्थ-गुणों की समीक्षा भी द्रष्टव्य है :

1. वामन ने प्रौढ़ि को ओज अर्थगुण माना है जिसमें एक पद के अर्थ के लिए वाक्य-प्रयोग या वाक्यार्थ के लिए पद-प्रयोग अथवा अर्थ का संक्षेपण या अर्थ-विस्तार अथवा अर्थ की साभिप्रायता की गणना है। यह सब विचित्रतामात्र है, गुण नहीं क्योंकि उसके बिना भी काव्यस्वरूप में कमी नहीं आती।

2. अर्थ की साभिप्रायता को ओज मानें तो अपुष्टार्थत्व दोष के अभाव में ही उसका अन्तर्भाव है। अर्थ की विमलता को प्रसाद कहते हैं, पर वह अधिक-पदत्व दोष का अभावमात्र है। उक्ति-वैचित्र्यरूप माधुर्य न हो तो अनवी-कृतत्व दोष होगा। सुकुमारता अर्थगुण अपरुषता है जिसका अन्तर्भाव अमङ्गल-रूप अश्लीलत्व दोष के अभाव में है। अग्राम्यत्व को उदारता माना गया है जो ग्राम्यत्वदोषाभाव ही है।

3. वस्तुस्वभाव की स्फुटता को अर्थव्यक्ति गुण कहते हैं जिसका स्वभावोक्ति अलंकार में अन्तर्भाव है। दीप्तरसत्व को वामन कान्ति अर्थगुण मानते हैं जिसका अन्तर्भाव रसध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य में हो जाता है।

4. क्रम के अतिक्रमण आदि में श्लेष अर्थगुण बताया गया है, पर वह विचित्रतामात्र है, कोई सार्वत्रिक गुण नहीं।

5. अर्थ की विषमता के निराकरण से बनने वाली समता दोषाभावमात्र है, क्योंकि अर्थवैषम्य दोष है।

6. अर्थ की नूतनता को वामन ने समाधि नाम का अर्थगुण माना है, परन्तु अर्थ की नवीनता के बिना काव्य ही क्या होगा ?

ध्वनिवादी आचार्य मुख्य रूप से गुणों को रस-धर्म मानते हैं, पर उनकी गौण स्थिति संघटना (रचना) में मान्य करते हैं। अर्थगुण के रूप में वे केवल रस-गुण हैं और शब्दगुण के रूप में वे संघटनागुण हैं। वर्ण, समास और रचना या रीति को गुणों का व्यञ्जक माना गया है।[16]

(क) माधुर्य(शब्दगुण) की व्यञ्जक संघटना वह है जिसमें वर्ग-पञ्चम वर्णों के ही संयोग हों, अन्य संयुक्ताक्षर न हों, टवर्ग के प्रयोग न हों, रेफ और णकार लघु अक्षर में आयें तो आयें, समास या तो न हों या अल्प हों।[17]

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। (मानस)

आदि उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

(ख) ओजोगुण-व्यञ्जक संघटना में संयुक्ताक्षर, टवर्ग, श, ष, र, लम्बे समास और उद्धत पदबन्ध होता है।

डिगति उर्वि अति गुर्बि सर्ब पब्बै समुद्र सर। (कवितावली)

इत्यादि उदाहरण हैं।[18]

(ग) श्रवणमात्र से शब्दों का अर्थबोध हो तो प्रसाद शब्दगुण होता है जो उक्त दोनों गुणों के साथ भी रहता है। प्रसाद गुण अनिवार्य है, शेष दो गुण वैकल्पिक हैं।[19]

वक्ता, वाच्य और प्रबन्ध के औचित्य के आधार पर शब्दगुणों का व्यवहार देखा जाता है।[20] अतः रसगुण और शब्दगुण में कहीं-कहीं वैषम्य भी हो सकता है। प्रसाद गुण दोनों प्रकार से सार्वत्रिक है अतः शेष दो गुणों की व्यवस्था विविधता ले सकती है :

1. माधुर्य रस-गुण के साथ माधुर्य शब्दगुण।
2. ,, ,, ,, ओजस् ,, ।
3. ओजस् ,, ,, ,, ,, ।
4. ,, ,, ,, माधुर्य ,, ।

वस्तु-वर्णन-प्रधान काव्यों में भी शब्दगुणों की उपस्थिति रहती है अतः गुणों को काव्य-परिभाषा का घटक माना गया है।

रीति

'रीति' नाम से कोई विवेचन भरत में नहीं मिलता। उन्होंने नाट्य की वृत्तियों और प्रवृत्तियों का उल्लेख अवश्य किया है : भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी ये चार नाट्य-वृत्तियाँ हैं; आवन्ती, दाक्षिणात्या, ओड्र-मागधी और पाञ्चालमध्यमा ये चार प्रवृत्तियाँ हैं। प्रवृत्तियाँ देश-विशेष से सम्बद्ध हैं।

केवल वृत्तियों को नाट्यरीति माना गया है। प्रवृत्तियों पर नाट्यशास्त्र के तेरहव अध्याय (38-58) में विचार किया गया है जो यहाँ अपेक्षित नहीं। वृत्ति-विचार दशरूपक के अनुसार लिया जा सकता है। इनमें भारती शब्दवृत्ति है, शेष तीन अर्थवृत्तियाँ हैं।[21] इनमें भारती सार्वत्रिक है, कैशिकी शृङ्गार में, सात्त्वती वीर में, आरभटी रौद्र तथा वीर में प्रयुक्त रस-वृत्तियाँ हैं।[22]

(क) भारती वृत्ति अभिनेता का वह शब्द-व्यापार है जिसमें संस्कृत की प्रधानता रहती है।[23]

(ख) गीत, नृत्य, विलास आदि शृङ्गार-चेष्टाओं वाली मृदु वृत्ति कैशिकी है जिसमें हास्य और किंचित् भय का भी समावेश देखा जाता है। यह शृङ्गार रस की वृत्ति है।

(ग) शोक-हीन अर्थवृत्ति सात्त्वती है जिसमें सत्त्व (उत्साह), शौर्य, त्याग, दया और ऋजुता (निश्छलता) का समावेश रहता है। यह वीर रस की वृत्ति है।

(घ) आरभटी में माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्धत चेष्टा आदि का समावेश रहता है। यह रौद्र और वीभत्स की वृत्ति है।

विचारपूर्वक देखें तो इन नाट्यवृत्तियों का सीधा सम्बन्ध प्रस्तुत रीतियों से नहीं बनता। यहाँ से प्रेरणा लेकर रीतियों की स्थापना की गयी होगी, यह अनुमान है।

सर्वप्रथम भामह ने वैदर्भ और गौड दो रीतियों का उल्लेख किया है और यह कहकर छोड़ दिया है कि इन्हें विद्वान जानते हैं।[24] इन्हीं के मिश्रण से पाञ्चाली रीति की कल्पना की जा सकती है। इन्हीं तीनों को लेकर आचार्य वामन ने रीति-मत की स्थापना की और कहा :

रीतिरात्मा काव्यस्य।

अर्थात् रीति ही काव्य का स्वरूप है। वामन की रीतियों के नामों में नवीनता नहीं है, पर वे उनकी व्यवस्था गुणों के आधार पर देते हैं। तदनुसार सभी बीस गुणों (दस शब्दगुणों और दस अर्थगुणों) से सम्पन्न रीति का नाम वैदर्भी है। यही उत्तम काव्यों में पायी जाती है। दो-दो गुणों वाली शेष दो रीतियाँ हैं जो अनभ्यस्त कवियों की रचनाओं में मिलती हैं। ध्वनिमत के अनुसार वामन के रीतिमत की आलोचना इस प्रकार की जा सकती है :

1. सर्वप्रथम बीस गुणों की रीति केवल प्रबन्ध-काव्यों में ही मिल सकती है, मुक्तकों में सबका एकत्र समावेश अलभ्य है। अतः निर्णय एकाङ्गी हो जाता है।

2. गौडी और पाञ्चाली रीतियों में दो दो गुण ही मान्य हैं। प्रश्न उठता है कि दो से अधिक गुणों के योग से भी रीतियाँ बन सकती हैं और दो-दो के युग्मक भी अनेक हो सकते हैं। तब तीन ही रीतियों की स्थापना पर संकट आ जाता है।

3. जिन अर्थगुणों की दस संख्या मानी गयी है वे या तो दोषाभावरूप हैं, या

तीन में ही अन्तर्भूत हैं, या अलंकाररूप हैं, या अर्थयोजना की ऐसी विचित्रता के रूप में उभरते हैं कि उनके विना काव्यत्व में कोई क्षति नहीं आती; अतः अर्थगुण अमान्य हैं। शब्दगुणों में भी या तो दोषाभावरूप हैं, या तीन में अन्तर्भूत हैं, ऐसी स्थिति में गुणों के आधार पर रीतियों का निर्धारण भी लड़खड़ा जाता है।

ध्वनिमत केवल वर्ण-संघटना को 'रीति' नाम देता है। काव्य गुणों से असम्बद्ध कर देने से रीति को काव्यात्मा मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। ध्वनिमतानुसार रीतियों का स्वरूप द्रष्टव्य है :

(क) वैदर्भी रीति माधुर्यव्यञ्जक वर्ण-संघटना का नाम है जिसमें लम्बे समास, टवर्ग और संयुक्ताक्षर प्रयुक्त नहीं होते।

(ख) गौडी रीति वैदर्भी से विपरीत है जिसमें ओजोव्यञ्जक लम्बे समास, टवर्ग और संयुक्ताक्षर अधिक प्रयुक्त होते हैं।

(ग) उक्त दोनों से भिन्न रीति पाञ्चाली है जिसमें दोनों का मिश्रण पाया जाता है।

आचार्य मम्मट ने वृत्यनुप्रास के प्रसंग में उक्त रीतियों को 'वृत्ति' नाम से लिया है और क्रमशः उपनागरिका, परुषा और कोमला (ग्राम्या) नाम दिया है।[25] वस्तुतः वैदर्भी आदि नाम विदर्भ, गौड और पञ्चाल देशों के आधार पर खड़े किये गये हैं, अतः नामों में कोई सार्थकता नहीं है, केवल गतानुगतिकता के प्रवाह में इनका प्रचलन देख सकते हैं। काव्य की कोई शैली किसी देश की रही हो, ऐसा माना नहीं जा सकता, सभी कहीं के कवि सभी रीतियों में रचना कर सकते हैं और करते आये हैं। यह आपत्ति आचार्य कुन्तक ने उठायी है।

कुन्तक वामन के समान यह नहीं मानते हैं कि गुणों के आधार पर रीति का निर्धारण हो। वामन रीति की परिभाषा देते हुए कहते हैं :

विशिष्टा पद-रचना रीतिः।
विशेषो गुणात्मा।।

अर्थात् गुणस्वरूप विशेषता वाली पदरचना रीति है। कुन्तक के समय तक दस या वीस गुणों वाली धारणा ध्वनिमत में खण्डित हो चुकी थी अतः वे रीति के विषय में नया विचार देते हैं। उन्होंने रीति के स्थान पर 'मार्ग' शब्द अपनाया और निर्धारित किया :

1. **सुकुमार मार्ग** में कोमल पदयोजना, अल्प समास आदि के साथ ऐसे अलंकार आते हैं जो कवि-प्रतिभा में इस प्रकार लीन हो जाते हैं कि अलग प्रकट नहीं होते।

2. **विचित्र मार्ग** में अलंकार-योजना पर कवि की दृष्टि रहती है। एक अलंकार दूसरे से गुम्फित रहता है।

3. **मध्यम मार्ग** दोनों का मिश्र मार्ग है।

कुन्तक द्वारा प्रस्तुत शैली की यह त्रिविधता अधिक उपयुक्त जान पड़ती हैं। सुकुमार मार्ग ही बड़े कवियों को अधिक प्रिय रहा है क्योंकि उस में कथ्य स्पष्ट रहा करता है। विचित्र मार्ग के अलंकार-वन में प्राय: कथ्य तिरोहित हो जाता है, यद्यपि कवि की श्रमिक प्रतिभा का वह निदर्शन है। अतएव गोस्वामी जी कहते हैं :

भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ।
राम नाम बिनु सोह न सोऊ।।

ध्वनि-सिद्धान्त रीति-विवेचन को प्रसंगत: लेता है, उस पर कोई विशेष बल नहीं दिया गया। केवल वर्ण-योजना या शब्द-योजना तक सीमित कर देने से उसका महत्त्व शब्दार्थ-योजना की उभयात्मक शैली के रूप में नहीं देखा जाता। वामन का रीतिमत खण्डित हो जाने से इस विषय में एक रिक्तता आ गयी थी जिसका निराकरण कुन्तक ने किया और काव्य की सम्पूर्ण वक्र योजना के सन्दर्भ में उसका निर्धारण किया। आर्वाचीन ध्वनिवादी विचारकों ने उस पर ध्यान नहीं दिया, अन्यथा शैली-चिन्तन को नयी दिशा मिली होती।

सन्दर्भ

1. गुणनिर्वर्त्या काव्यशोभा। तस्याश्चातिशयहेतवोलंकारा:। —'काव्यालंकार'-सूत्र 4/1.
2. वही, 3/1/1.
3. 'उपकुर्वन्ति तं सन्तभङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेनुप्रासोपमादय:।।' —'काव्यप्रकाश', 8/66-67.
4. 'अङ्गीकरोति य: काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।।' —'चन्द्रालोक' -1.
5. 'उभावेतावलंकार्यौं तयो: पुनरलंकृति:।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य-भङ्गी-भणितिरुच्यते।।' —'वक्रोक्ति-जीवित'.
6. 'वाच्यालंकार-वर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशानुगमे सति।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते।।' —ध्वन्यालोक, 3/36.
7. 'एते दोषा हि काव्यस्य मया सम्यक् प्रकीर्तिता:।
गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्य-लक्षणा:।।' —'नाट्यशास्त्र', 16/95.
8. 'श्लेष: प्रसाद: समता समाधि-
माधुर्यमोज: पद-सौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च
कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते।।' —वही, 16/96.
9. दे० सन्दर्भ, 1.

10. 'काव्यप्रकाश', 8/68-69.
11. वही, 8/68-70.
12. वही, 8/70-71.
13. गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ॥'—वही, 8/71.
14. वही, 8/73 'तेन नार्थगुणा वाच्याः'.
15. 'केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात् परे श्रिताः ।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ॥'—वही, 8/72.
16. वही, 8/73.
17. वही, 8/74.
18. वही, 8/75.
19. वही, 8/76.
20. वही, 8/77.
21. 'दशरूपक', 2/47-62.
22. शृङ्गारे कैशिकी, वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः ।
रसे रौद्रे च वीभत्से, वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥'—वही, 2/62.
23. 'भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः ॥'—वही, 3/5.
24. 'काव्यालंकार', 1/32.
25. 'काव्यप्रकाश', 9/80.

काव्य-स्वरूप-विवेचन

ध्वनि-सिद्धान्त के सन्दर्भ में काव्य-लक्षण पर विचार इस अध्याय का उद्देश्य है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि कोई लक्षण किसी मतवाद के आग्रह पर प्रतिष्ठित न हो तभी उसे विश्वजनीन माना जा सकता है। इस दृष्टि से कवि-कर्म को काव्य कहने की प्रथा रही है, परन्तु कवि-कर्म क्या है, इसे पहले जानना चाहिए। भरत ने दोषाभाव, गुण और अलंकार को काव्य-तत्त्वों के रूप में परिगणित किया है, इन्हीं को कवि-कर्म मानकर चला जा सकता है। उक्त सभी काव्याङ्ग रसानुसार ही प्रयोजनीय हैं, यह भी भरत की मान्यता है। अत: इन्हीं के आधार पर काव्य-स्वरूप की खोज होनी चाहिए, साथ ही शब्द और अर्थ का त्याग नहीं हो सकता, क्योंकि सभी कवि-कर्मों का आधार वे ही हैं, अत: उनको सामने रखना चाहिए। भरत ने कोई स्पष्ट लक्षण नहीं दिया है।

आचार्य भामह प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कहकर शब्दार्थ-साहित्य को काव्य का स्वरूप बताया। शब्द और अर्थ तो अकाव्य में भी होते ही हैं, परन्तु दोनों का साहित्य या इतरेतरयोग ही वह कवि-कर्म है जिससे काव्य अपना रूप लेता है। परन्तु यह साहित्य किन आधारों पर घटित होता है, इसे भामह ने स्पष्ट नहीं किया। उनकी परिभाषा परवर्ती आचार्यों के लिए प्रेरक बनी, इसमें सन्देह नहीं। दण्डी की परिभाषा पर यहाँ इसलिए विचार नहीं करना है कि वह शब्द पर बल देकर काव्य को 'इष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली' मान कर बनी है जो 'शब्दार्थौ' की लीक से हट कर है।

आचार्य वामन यद्यपि 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर गुणों तक काव्य-परिभाषा को सीमित कर देते जान पड़ते हैं, फिर भी उनके आरम्भिक तीन सूत्र महत्त्व के हैं :

काव्यं ग्राह्यमलंकारात्।

सौन्दर्यमलंकार:।

स च दोष-गुणालंकार-हानादानाभ्याम्।

अर्थात् काव्य की उपादेयता सौन्दर्य पर प्रतिष्ठित है और उस सौन्दर्य का

निर्धारण दोष-त्याग, गुण-ग्रहण और अलंकार-ग्रहण से होता है। इससे यह परिभाषा बनती है :

अदोषौ सगुणौ सालंकारौ शब्दार्थौ काव्यम् ।।

इस परिकल्पना पर विचार किया जाय तो 'शब्दार्थौ काव्यम्' यही मूल परिभाषा है जिसमें शब्द और अर्थ के इतरेतरयोग को काव्य कहा गया है, शेष तीन उस इतरेतरयोग को निष्पन्न करने वाले तत्व हैं, अतः इन्हें देखना चाहिए :

(क) किसी पुरुष या स्त्री की परिभाषा में निर्दोषत्व का लगाना आवश्यक है, क्योंकि काना, कुबड़ा, लंगड़ा मनुष्य भी मनुष्य ही रहता है। इस पर कहा जा सकता है कि कोई मानव प्राणी यदि इतना सदोष हो कि उसे भेड़िये ने पाला हो, वह चार पैरों (हाथों और पैरों) से चलता हो, न बोलता हो और न बोली समझता हो, मनुष्यवत् आहार भी न कर सकता हो, सर्वथा भेड़िये जैसा सारा व्यवहार करता हो, तब भी क्या उसे मनुष्य कहेंगे ? कम से कम उक्त परिभाषा के विरोध में ऐसी ही सदोषता लानी चाहिए। रचना इतनी दूषित हो कि शब्दार्थ-साहित्य ही लड़खड़ा जाय तो उसे काव्य नहीं कहा जायगा। आचार्य विश्वनाथ ने काव्य-लक्षण पर विचार करते हुए कहा :

सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसंभवात् । (साहित्य-दर्पण)

अर्थात् सर्वथा निर्दोष शब्दार्थ-युगल नितान्त असंभव है। इस पर कहना चाहिए कि वह निर्दोष ही लगता है जिसके गुण (और अलंकार भी) दोषों पर एकान्त ध्यान नहीं जाने देते। वे शब्दार्थ निर्दोष हैं जिनमें स्फुट दोष नहीं दिखाई पड़ता। उदाहरणार्थ :

काटत सिर होइहि बिकल छुटि जाइहि तव ध्यान ।
तब रावनहि हृदय महुँ मरिहहिं रामु सुजान ।। (मानस)

यहाँ 'मरिहहिं' का प्रासंगिक अर्थ है 'मारेंगे', परन्तु 'मरेंगे' अर्थ भी निकल आता है जो अमङ्गलसूचक अश्लील है, परन्तु माधुर्यगुण की वर्णयोजना और अतिशयोक्ति अलंकार की महिमा के कारण उस दोष (अश्लीलत्व) पर अनुभूति-बाधक ध्यान शायद ही जा पाता है।

विश्वनाथ ने प्रश्न उठाया है कि सदोष भाग अकाव्य और सगुण भाग काव्य होगा और तब कुल रचना काव्य या अकाव्य कुछ भी न रहेगी। इस पर यही कहना है कि यदि दोष और गुण दोनों बराबरी में होंगे तो काव्य मानने का कोई आग्रह नहीं, अकाव्य रहे तो आपत्ति नहीं। अल्प एवम् अस्फुट दोष होने पर भी उसी प्रकार काव्य होगा जिस प्रकार विश्वनाथ के मत से प्रबन्ध के नीरस अंश भी सरस अंशों के कारण सरस काव्यभाग माने जाते हैं। ईख की गाँठें नीरस हैं फिर भी पूरी ईख सरस होती है। पूरा काव्य दोषाभाव-सहित हो और अल्प भाग सदोष हो तो समग्र की निर्दोषता से निर्दोष माना जायगा।

(ख) सगुणत्व विशेषण पर यह आक्षेप कि मनुष्यादि की परिभाषा में गुणों का समावेश अनावश्यक है, निराधार है। मनुष्य होने भर के लिए अपेक्षित गुण सभी में रहते हैं जो उसे आकार के साथ विशिष्ट व्यवहार से युक्त बनाते हैं। काव्य स्वरूप ले सके इसके लिए शब्दार्थ-साहित्य उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार मनुष्य के लिएं शरीर में अङ्ग-समन्वय। दूसरा आक्षेप विश्वनाथ ने यह किया है कि गुण तो रस-धर्म है, अतः 'सरस' विशेषण ही रखना चाहिए, न कि 'सगुण'। इस पर यही कहना है कि परिभाषा के लिए सरसत्व अपेक्षित नहीं, सगुणत्व तो नीरस काव्य की वर्णयोजना में भी गौण रूप से मिल सकता है। उदाहरणार्थ :

जौं अपने अवगुन सब कहऊँ।
बाढ़ै कथा पार नहिं लहऊँ। (मानस)

यहाँ दूर से खींच-खाँच कर रस-योग मानने की अपेक्षा यही मान्य है कि प्रसाद-गुण-व्यञ्जक वर्णयोजना पर्याप्त है।

(ग) सालंकारता के विषय में यह विवाद उठता है कि ध्वनिमत में गुणीभूत व्यङ्ग्य भी अलंकार होते हैं, तो क्या उन्हीं को लेना अभीष्ट है। परिभाषा में ध्वनिमत का समावेश कदापि अभीष्ट नहीं—केवल प्रसिद्ध शब्दालंकार और अर्थालंकार ही ग्राह्य हैं। इनमें शब्दालंकार शृङ्गार, करुण आदि मृदु रसों में काव्यालंकार नहीं होते। अर्थालंकार कभी अस्फुट होते हैं कि अलंकार की सत्ता ही अज्ञेय हो जाती है और कभी-कभी अलंकार-योजना वर्ण्य के अनुरूप नहीं होती अतः काव्यालंकारवर्ग में नहीं होती। इन दो स्थितियों में रचना को अलंकारहीन कहा जा सकता है :

ऐसे अतुल अनन्त विभव में
जाग पड़ा क्यों विषम विराग। (कामायनी)

यहाँ कोई अलंकार स्फुट नहीं प्रतीत होता। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार यहाँ विभावना और विशेषोक्ति अलंकारों का संकर है। विभव राग-कारण है जिसकी सत्ता में भी रागरूप कार्य नहीं हो रहा है अतः विशेषोक्ति (कारण रहते कार्य न होना) अलंकार है। दूसरी ओर विराग का कारण विभवनाश है, पर कारण के बिना भी विराग के होने में विभावना है। खींचतान कर अलंकारों को यहाँ लाया जा सकता है, पर शब्दार्थ-योजना जैसी सामने है, उसमें कोई अलंकार स्पष्ट नहीं दिखाई देता, फिर भी चमत्कार में कमी नहीं।

कै सोनित-कलित कपाल यह किल कापालिक काल को। (रामचन्द्रिका)
में प्रभात वर्ण्य है, पर यह अलंकार उसे अलंकृत नहीं करता अतः कविता इस अंश में अलंकारहीन ही है। ऐसी योजनाओं को 'अलंकृति' कहा जा सकता है। कान में कंगन को अलंकार नहीं माना जा सकता। अतः इस परिप्रेक्ष्य से देखने

पर अदोषत्व और अगुणत्व विशेषण शब्दार्थ-साहित्य के एकान्त निर्धारक हैं, जबकि अलंकार को वह महत्त्व नहीं मिलता, वह अनेकान्त काव्यधर्म है। अतएव मम्मट ने काव्यलक्षण किया :

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।।

यह परम्परा-प्राप्त काव्य-लक्षण है जिसमें ध्वनिवाद का कोई आग्रह नहीं है। इस पर आगे पुनर्विचार किया जायगा। अभी अन्य प्रमुख काव्य-लक्षणों पर विचार करना अपेक्षित है।

कुन्तक का काव्य-लक्षण

वक्रोक्ति-प्रस्थान के आचार्य कुन्तक की परिभाषा उक्त लक्षण से थोड़ी भिन्न है, उसमें गुण-दोष का ग्रहण नहीं है, परन्तु 'वक्रता' के नाम पर अलंकार को समाविष्ट कर लिया गया है :

शब्दार्थौ सहितौ वक्र-कविव्यापार-शालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ।। (वक्रोक्ति-जीवित)

अर्थात् उस बन्ध (रचना) में व्यवस्थित शब्दार्थ-साहित्य काव्य है जिसमें वक्रता-युक्त कवि-व्यापार का योग हो और जिससे काव्यज्ञों को आह्लाद प्राप्त हो। विचारणीय है :

1. जब तक शब्द और अर्थ बन्ध में व्यवस्थित न होंगे तब तक साहित्य या इतरेतरयोग ही संभव न होगा। अतः 'बन्धे व्यवस्थितौ' कहने की पारिभाषिक उपयोगिता यही है कि व्यावहारिक वाक्यों से काव्य भिन्न रहे।

2. बन्ध में 'वक्र-कवि-व्यापार' क्या है? यह तो कुन्तक अपने मत का परिभाषा पर आरोप करते जान पड़ते हैं। किसी कवि-व्यापार के बिना शब्दार्थ-साहित्य कैसे बनेगा? और व्यापार होगा तो साहित्य हेतु उसमें वक्रता होगी ही। अतः विशेषण की सार्थकता सन्दिग्ध है। यह भी साधारण वाक्यों से काव्य की भिन्नता का उपक्रम है।

3. काव्यज्ञों के आह्लाद की चर्चा परिभाषा में योग्य नहीं, क्योंकि इसे वे ही समझेंगे जो काव्यज्ञ हैं और तब परिभाषा ही एकपक्षीय रहेगी। आह्लाद और काव्य अन्योन्याश्रित हैं।

इस प्रकार जो बचा वह भामह का ही चर्वित-चर्वण है : 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।' तब फिर साहित्य के निर्धारक तत्त्वों का प्रश्न सामने आता है और प्रथमोक्त परिभाषा की उपयुक्त स्थिति मान्य बनती है।

विश्वनाथ का काव्य-लक्षण

आचार्य विश्वनाथ मम्मट के लक्षण से सन्तुष्ट नहीं थे, यह ऊपर देखा गया है।

वे परिभाषा करते हैं :

वाक्यं रसात्मकं काव्यम् । (साहित्य-दर्पण)

विश्वनाथ 'रस' को ऐसा विभाजक तत्त्व मानते हैं जो काव्य को अकाव्य से पृथक् करता है, अतः उनका अभिमान है कि रस के आधार पर छोटी-सी परिभाषा सरलता से वन जाती है। परन्तु इस पर भी विद्वानों ने आपत्तियाँ उठाई हैं :[1]

1. 'रस' केवल सहृदय-संवेद्य तत्त्व है। उसे परिभाषा में लाने से ऐसा काव्य-स्वरूप सामने नहीं आता कि वह सर्वजन-वेद्य हो सके।

2. विभावादि भी पारिभाषिक शब्द हैं। उनसे व्यक्त होने वाला रस भी पारिभाषिक है। ये सब काव्य के भीतर ही स्वरूप पाते हैं जिन्हें काव्य समझकर ही समझा जा सकता है। इससे अन्योन्याश्रय दोष आता है—काव्य के जानने पर रस का ज्ञान आश्रित है और रस जानकर ही काव्य समझा जा सकता है।

3 रस को ही काव्यात्मा मान लेने पर वस्तुप्रधान और अलंकारप्रधान काव्यों पर परिभाषा घटित न होगी जो अव्याप्ति दोष है। यदि थोड़ा-सा रस-स्पर्श सर्वत्र मान कर काव्यत्व स्वीकार करें तो ऐसा रस 'कौआ काँव-काँव करता है' जैसे वाक्यों में भी खोजा जा सकता है और उस दशा में अकाव्य कुछ भी न बचेगा जो अतिव्याप्ति दोष है।

4. रस वाक्य की वस्तु न होकर वाक्यार्थ की वस्तु है। वाक्य को काव्य कह देने से काव्य में शब्द की प्रधानता मान्य हो जाती है जो अयोग्य है। माना कि सार्थक पदसमूह ही वाक्य होगा, फिर भी शब्द और अर्थ के साहित्य का समावेश न होने से संगत काव्य-लक्षण नहीं बनता।

5. रस को काव्यात्मा मान लेने पर भी आत्मा के आधार पर लक्षण नहीं किया जा सकता। लक्षण तो स्वरूप निर्धारित करता है न कि आत्मानात्मविवेक में अपनी सार्थकता खोजता है।

6. भट्टनायक को छोड़कर कोई आचार्य रस को काव्य में उपस्थित नहीं मानता, तो क्या विश्वनाथ की परिभाषा ध्वनि-सम्मत नहीं है ? अन्य मतों में काव्य तो प्रेषण का माध्यम या वाहनमात्र है, रस अन्यत्र रहता है। भट्टलोल्लट के अनुसार अनुकार्यगत रस को, भट्टशंकुक के अनुसार अनुकारक (कवि या नट) में स्थित रस को सहृदय आस्वादित करता है। ध्वनिमत और आगे बढ़ कर सहृदय में ही रस की स्थिति मानता है। काव्य की रसात्मकता लाक्षणिक है, अर्थात् रस-प्रेषक होने से उसे रसयुक्त कहा जायगा। तब ऐसा भी हो सकता है कि किसी को किसी देशकाल में रसबोध न हो तो उसके लिए काव्य रसप्रेषक न होगा, उस दशा में उसे किस आधार पर काव्य कहा जायगा ?

उक्त अनुपपत्तियों को देखते हुए स्पष्ट होता है कि काव्य की परिभाषा किन्हीं ऐसे तत्त्वों के आधार पर की जाय जिन्हें सब समझ सकें। गुण, दोष और

अलंकार शब्दार्थ-युगल में दिखाई पड़ते हैं जिन्हें सब कोई जान-समझ सकता है, रस के समान रसिक की दुहाई नहीं देनी पड़ती, अतः उन्हीं के आधार पर परिभाषा उपयुक्त है।

पण्डितराज जगन्नाथ का काव्यलक्षण

पण्डितराज अन्तिम काव्य-मनीषी हैं जिन्होंने 'रसगङ्गाधर' ग्रन्थ द्वारा काव्यशास्त्र की पुनः प्रतिष्ठा की। वे ध्वनिवादी हैं, फिर भी सभी मतों की उपस्थापना में उन्हें निष्पक्ष विचारक तथा दार्शनिक के रूप में देखा जाता है। उनके सामने प्रश्न था कि शब्द को काव्य माना जाय या अर्थ को या दोनों को। इस प्रश्न का समाधान वे शब्द को काव्य मान कर प्रस्तुत करते हैं। उनका आशय है कि शब्द होगा तो अर्थ होगा ही, परन्तु काव्य के पढ़ने, सुनने और अर्थ के समझने या न समझने का व्यवहार देखने से प्रमाणित होता है कि शब्द ही काव्य है, अर्थ न समझें तो भी काव्य काव्य ही रहता है। इस प्रकार वे शब्द-काव्यवादी आचार्य हैं। उनका काव्य-लक्षण इस प्रकार है :

रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।[2]

इसकी समीक्षा पर आने से पूर्व इस परिभाषा का तात्त्वित विश्लेषण कर लेना चाहिए। पण्डितराज उस शब्द को काव्य मानते हैं जो ऐसे अर्थ का प्रतिपादक (वाचक या व्यञ्जक) हो जिसमें रमणीयता रहती है। रमणीयता ही काव्य को अकाव्य से विभक्त करती है, अन्यथा अर्थ-प्रतिपादक शब्द तो सर्वत्र होता है। रमणीयता के अन्तर्गत वे रस, वस्तु और अलंकार सभी चमत्कारी तत्त्वों को लेते हैं जो सहृदय के लिए प्रीतिकर हों। इस की समीक्षा करते हुए डा० भगीरथ मिश्र ने लिखा है :

> इस लक्षण मे कुछ लोग आपत्ति उठाते हैं कि काव्य के अन्तर्गत शब्द में सर्वत्र अर्थ की रमणीयता नहीं होती, पूरे वाक्य से रमणीयता प्रतिपादित होती है। अतः रमणीय अर्थ देने वाला वाक्य काव्य होना चाहिए। परन्तु यहाँ शब्द क्योंकि, वाक्य की सबसे छोटी इकाई है, अतएव वाक्य के स्थान पर शब्द दिया गया है। कभी-कभी एक शब्द की उपयुक्तता सिद्ध की जा सकती है परन्तु पूर्णार्थद्योतक वाक्य ही होता है।...यहां पर संकेत केवल अर्थ की रमणीयता का हुआ है। काव्य के अन्तर्गत एक अंश ऐसा भी है जो शब्द की रमणीयता से सम्बन्ध रखता है।[3]

डा० मिश्र ने 'शब्द' को एक पद के अर्थ में लिया है जिस पर अंगरेजी के 'वर्ड' का प्रभाव हो सकता है। परन्तु हिन्दी व्याकरण में ज़ब 'पार्ट्स आफ स्पीच्' के लिए 'शब्दभेद' कहा जाता है तब हिन्दी में भी शब्द 'स्पीच्' का अर्थ देता है, न कि पद का। संस्कृत में तो 'शब्द' का प्रयोग वाक्य, प्रकरण, प्रबन्ध आदि अर्थों

में आता ही रहा है। पण्डितराज के सामने वह परम्परा रही है जिसका उल्लेख भामह ने किया है कि कुछ मनीषी शब्द को ही काव्य मानते हैं।[4] परिभाषा में भामह भी 'शब्दार्थौ' कहते हैं क्योंकि उन्हें शब्दालंकार और अर्थालंकार समझाने हैं। डा० मिश्र के अनुसार तो कोई अलंकार भी वाक्य और वाक्यार्थ में ही घटित होगा और तब वाक्यालंकार और वाक्यार्थालंकार कहना पड़ेगा। परम्परा पर इस आपात-दृष्टि से वूलिपात न हुआ होता तो तर्कसंगत ही रहता।

दूसरी आपत्ति है कि पण्डितराज में अर्थ की रमणीयता का ग्रहण है जबकि शब्द की रमणीयता छूट गयी है। उन्होंने उदाहरण दिया है :

जल जोर उठी घनघोर घटा व्रज ऊपर कोप पुरंदर को।
कवि पुष्कर गोकुल गोप सबै निरखैं मुख श्री मुरलीधर को॥
घर तें धरिबौ धरनीधर को धरक्यौ न हियौ धरनीधर को।
कर लै जनु काँकर को करको करुनाकर को करु ना करको॥

तो क्या यहाँ शब्दगत रमणीयता ही रचना को काव्यरूप देती है या अनुप्रास और यमक की योजना अर्थगत रमणीयता की पोषक है। यदि प्रथम पक्ष मान लिया जाय तो फिर 'चौधरी चरणों के आचरणों से चींटी कुचलता चलता है।' इस वाक्य को भी काव्य मानना होगा, नहीं तो अर्थ की रमणीयता को काव्य-निर्धारक घोषित करना ही होगा। पण्डितराज द्वितीय पक्ष मान कर ही परिभाषा करते हैं, अतएव डा० मिश्र द्वारा दिये उदाहरण जैसी रचनाओं को चतुर्थ कोटि का अधम काव्य मान ही लेते हैं। ध्यातव्य है कि उदाहृत पद्य में अर्थ की ही रमणीयता है जिसे उपकृत करने में शब्दालंकारों की अलंकारता है।

डा० मिश्र ने रमणीयता से अलंकार-चमत्कार का आशय लिया है जो पण्डितराज पर वृथा आक्षेप है। वे तो सहृदय-संवेद्य तत्त्व को रमणीयता मानते हैं और सूत्र की लम्बी व्याख्या में यही स्पष्ट किया गया है। अर्थालंकार भी उसी रमणीयता के बल पर सार्थक हैं। रमणीयता ही अलंकार्य है, अलंकार उसी के उपकारक हैं। अलंकार्य के बिना अलंकार अपने-आप में रमणीय या अरमणीय नहीं हुआ करते। उक्त सवैया के अर्थ में गुणीभूत वीररस की रमणीयता के बिना शब्दालंकार की सार्थकता ही क्या बचती या बनती है? आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को भी ऐसा ही भ्रम हुआ था कि उन्होंने पण्डितराज को कोरा वैचित्र्य-वादी मान लिया। इसी झोंक में शुक्लजी ने कुन्तक पर भी प्रहार कर डाला।[5]

पण्डितराज ने 'रमणीयता' की स्पष्ट व्याख्या की है। उस ज्ञान (प्रतीति) के विषय को रमणीय कहेंगे जो ज्ञान लोकोत्तर आह्लाद का जनक हो।[6] इसके आगे उन्होंने लोकोत्तरता का आशय स्पष्ट किया है। लोकोत्तर वह तत्त्व है जिसे

चमत्कार भी कहते हैं जो आह्लादगत धर्म है और जिसका प्रमाण अनुभवमात्र है।[7] इस लोकोत्तरत्व की उपलब्धि का कारण भावना-विशेष है और भावना पुनः पुनः अनुसन्धान का नाम है।[8] इसको स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि किसी को पुत्र जन्म या धन-दान के समाचार से जो आह्लाद मिलता है; वह लौकिक है, अतः उसे काव्य की रमणीयता नहीं मान सकते। इसी के आगे पण्डितराज ने तीन प्रकार से अपने काव्य-लक्षण को समझाया है :

1. वह शब्द काव्य है जो चमत्कार-जनक भावना के विषयीभूत (चमत्कार-कारी) अर्थ का प्रतिपादक (बोधक) हो।[9]

2. जिस शब्द से प्रतिपादित अर्थ के विषय की भावना चमत्कार-जनक हो वह शब्द काव्य है।[10]

3. जिस शब्द की वर्णानुपूर्वी (शब्द-श्रेणी) से पुनः पुनः अनुसन्धानरूप भावना द्वारा चमत्कार नामक अलौकिक आनन्द का जनन हो उसी शब्दानुपूर्वी को काव्य कहते हैं।

अर्थात् जिस अर्थ की भावना से सहृदय को पुलक, अश्रु आदि के साथ सर्वाङ्गीण आह्लाद की व्याप्ति का अनुभव हो उस अर्थ के ही प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं। वैसा सर्वाङ्गव्याप्त आह्लाद ही चमत्कार है—अलंकारमात्र न चमत्कार है और न ही वह पण्डितराज की रमणीयता है। ऐसा चमत्कार तो उससे ही आता है और तब वे रमणीयता का लक्षण में समावेश करके घुमाव की शैली क्यों अपनाते हैं? यह प्रश्न विचारणीय बचता है। वस्तुतः वस्तुप्रधान और अलंकारप्रधान काव्यों से भी चमत्कार की उपलब्धि होती है, केवल रसप्रधान काव्य में ही चमत्कार या आह्लाद को सीमित नहीं माना जा सकता। अतएव 'रमणीयता' शब्द रख कर वे अपनी ओर से निर्दोष काव्यलक्षण दे देते हैं। वस्तु और अलंकार जहाँ व्यङ्ग्य होंगे वहीं अलौकिक आह्लाद होगा जो काव्यार्थ से ही पाया जा सकता है, यही काव्य को इतर रचनाओं से पृथक् करने वाला तत्त्व है। यों तो चरम परिणति किसी-न-किसी रस में ही होती है, फिर भी ऐसी रचनाएँ होती हैं जिनमें रस की प्रधान व्यञ्जना नहीं देखी जाती, अतः पण्डितराज सब का समावेश करने हेतु वैसी परिभाषा करते हैं। उदाहरणार्थ कपटमुनि का छल न समझ कर जब गिड़गिड़ाता हुआ भानुप्रताप अमर होने की प्रार्थना करता है :

नाथ न होई मोर अब नासू। (मानस)

तब राजा की जड़ता ही प्रधान वस्तु व्यङ्ग्य है। उसी में चमत्कार है। हास्यरस में अन्तिम परिणति होती है। जब विश्वामित्र परशुराम के लिए अपने आप कहते हैं :

मुनिहि हरियरइ सूझ। (मानस)

तब उपमा अलंकार प्रधान व्यङ्ग्य है कि जिस प्रकार सावन में जिसकी आँखें फूटती हैं उसे सब हरा ही हरा दिखता है, उसी प्रकार क्षत्रियों का संहार करके परशुराम की सूझबूझ मारी गयी है और वे राम को भी साधारण क्षत्रिय समझ कर अकड़ रहे हैं। इसी में लोकोत्तर चमत्कार है। अन्ततः हास्यरस में परिणति होती है जिसका कारण सावन के अन्धे से तुलना है। बहुशः रस-चमत्कार ही प्रधान होता है जिसके उदाहरण विगत अध्यायों में आ चुके हैं।

पण्डितराज के काव्य-लक्षण का प्रत्याख्यान सरल नहीं है जैसा कि देखा जा चुका है। फिर भी कतिपय उलझाने वाले तथ्य लेकर ही परिभाषा खड़ी की गयी है। उनमें रमणीयता की उलझन पहली है और दूसरी समस्या शब्द को काव्य मानने की है जिन पर विचार अपेक्षित है :

1. रमणीयता सहृदय-संवेद्य है, इस पर कोई वैमत्य नहीं, परन्तु जिन लौकिक वाक्यों को लेकर लोकोत्तर चमत्कार परिभाषित किया गया है वे ही वाक्य यदि काव्य में आते हैं तो लोकोत्तर चमत्कार देखा जाता है :

दसरथ पुत्रजन्म सुनि काना।
मानहुँ ब्रह्मानन्द समाना ।। (मानस)

यही वाक्य लोकव्यवहार में आता तो कोई लोकोत्तर चमत्कार न होता, परन्तु काव्य में वही चमत्कारी बन गया है। यहाँ दशरथ का आह्लाद लौकिक होगा पर सहृदय का आह्लाद लोकोत्तर है। इसी प्रकार :

अस कहि राम तिलक तेहि सारा।
सुमन बृष्टि नभ भई अपारा ।। (मानस)

यहाँ भी ऐश्वर्यलाभ से होने वाला विभीषण का आह्लाद वैसा ही है जैसा कि आजकल किसी को राष्ट्रपति या प्रधान-मन्त्री या तानाशाह होने पर मिलता है, अतः लौकिक है, परन्तु सहृदय का चमत्कार तो लोकोत्तर है ही। अब पण्डितराज को लेकर देखें तो काव्य में आकर वही वाक्यार्थ रमणीय हो जाता है जो लोक में उससे अच्छी भाँति से कहा जाय तो भी पण्डितराज की रमणीयता नहीं पा सकता। इस प्रकार रमणीयता काव्य-सापेक्ष है और काव्य का स्वरूप रमणीयता-सापेक्ष है। इसी अन्योन्याश्रयता को लक्षणदोष कह सकते हैं। पहले काव्य समझें तब रमणीयता की पहचान होगी और रमणीयता जान कर ही काव्य का परिचय होगा। प्रेषणीय तत्त्व को लेकर परिभाषा करने में विश्वनाथ और पण्डितराज दोनों समान रूप से त्रुटिभागी हैं।

2. काव्य पढ़ा-सुना जाता है, इसी प्रकार वह समझा भी तो जाता है अतः शब्द और अर्थ का साहित्य ही काव्य हो सकता है। बिना समझे हुए शब्दश्रवणमात्र से कोई काव्य या अकाव्य कैसे समझ सकता है ? रमणीयता अर्थ-सापेक्ष है, अतः

अर्थ समझ कर जब रमणीयता का विवेक होगा तभी किसी शब्द को काव्य कहा जा सकेगा। पण्डितराज का मानना है कि काव्य सुना, पर अर्थ नहीं जाना, ऐसे व्यवहार चलते हैं। परन्तु ये व्यवहार दूसरों के निर्णय से रूप लेते हैं। किसी रचना को दूसरे लोग काव्य कहते हैं, इस आधार पर न समझने वाले भी उसे काव्य कह चलते हैं। शब्दमात्र सुन कर काव्य की पहचान क्या हो सकती है ?

3. रमणीयता सहृदयमात्र के लिए है, वह सर्वजनवेद्य नहीं जबकि परिभाषा सबके लिए होनी चाहिए। इस दृष्टि से भी पण्डितराज का काव्यलक्षण दुर्बल है। वासना-सम्पन्न रसिक दुर्लभ होते हैं अतः काव्य के पुनः पुनः अनुसन्धान से वासना को अर्जित या परिष्कृत किया जाता है। काव्य ही अज्ञात है तब अनुसन्धान या अभ्यास किस का किया जाय। अतएव काव्यस्वरूप ऐसा ही होना चाहिए जिसे सहृदय और हृदय-हीन सब समझ सकें और उसके अभ्यास में लग सकें।

मम्मट विरोधी परिभाषाओं का आकलन करके निष्कर्ष यही निकाला जा सकता है कि मम्मट पर ही लौटा जाय। इससे पूर्व ऐतिहासिक क्रम की उपेक्षा करके आनन्दवर्धन पर विचार किया जाय क्योंकि विश्वनाथ और पण्डितराज उसी धारा में आते हैं और मम्मट तो ध्वनिवादियों में शिरोमणि हैं।

आनन्दवर्धन का काव्यलक्षण

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के आरम्भ में ही ध्वनि को काव्यात्मा बताया है।[11] अर्थात् ध्वनि ही काव्य का प्रधानीभूत स्वरूप है। ध्वनि पर पीछे विचार हो चुका है। यहाँ व्यङ्ग्य और ध्वनि पर्याय हैं, अतः व्यङ्ग्य अर्थ ही काव्य का प्राण है; परन्तु वह तो काव्य-तत्त्वज्ञों को ही विदित रहता है (ध्वन्यालोक 1/7), शब्द और अर्थ का शास्त्रीय ज्ञान पाने वाले उससे वञ्चित रहते हैं। तब काव्य का स्वरूप क्या है जिसमें व्यङ्ग्य अर्थ का चमत्कार रहता है ? ध्वनिकार कहीं भी स्पष्ट लक्षण नहीं देते, अतः संकलनात्मक तथ्यनिरूपण का सहारा लेना आवश्यक है। एक स्थान पर सहृदय-श्लाघ्य अर्थ को काव्यात्मा बताते हैं और उसके वाच्य तथा प्रतीयमान भेद करते हैं।[12] दूसरे स्थान पर वे रसरूप अर्थ को काव्यात्मा मानते है।[13] तो क्या उनकी दृष्टि में काव्य अर्थरूप है ? यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं क्योंकि वे कहते हैं कि चमत्कारी अर्थ और उसे व्यक्त करने वाला शब्द—दोनों को काव्य में सायास पहचानना होता है।[14] वहाँ 'शब्दार्थौ' पद प्रयुक्त है जिससे शब्द और अर्थ का इतरेतरयोग ही काव्य मान्य है। ध्वनि पर विचार करते हुए पुनः शब्दार्थयुगल को व्यङ्ग्यनिष्ठ बताया है[15] और कहा है कि शब्द ही ध्वनि नाभ का विषय होता है।[16]

इस प्रकार व्यङ्ग्यपरायण शब्दार्थयुगल को काव्य का स्वरूप मानने में आनन्दवर्धन का हृदय देखा जाता है। व्यङ्ग्य ऐसा अन्तरङ्ग काव्यतत्त्व है कि

अरसिकों के लिए काव्य का स्वरूप अज्ञेय हो सकता है अतः शब्दार्थ-साहित्य के निष्पादक बहिरङ्ग तत्त्वों को लेकर परिभाषा होनी चाहिए कि लक्षण सर्ववेद्य हो सके और तब फिर आचार्य मम्मट के समीप आना पड़ता है। इसलिए नहीं कि आनन्दवर्धन अपर्याप्त हैं, प्रत्युत इसलिए कि आनन्दवर्धन ने एक स्थान पर कहीं परिभाषा पर विचार नहीं किया है। वे अलग-अलग ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्र काव्यों की परिभाषा देते हैं पर तीनों में व्याप्त लक्षण नहीं प्रस्तुत करते।

मम्मट का काव्यलक्षण

मम्मट की काव्य-परिभाषा विद्वानों में बहुमत रही है। ऊपर सर्वप्रथम उसी को लेकर अन्य मतों की भूमिका प्रस्तुत की गयी है। यहाँ पुनर्विचार हेतु उसे लिया जा रहा है :

तददोषौ षब्दार्थौ
सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

अर्थात् ऐसे शब्दार्थ-साहित्य को काव्य कहते हैं जिसमें दोषों की त्याज्यता, गुणों की ग्राह्यता और अलंकारों की यथावसर ग्राह्यता होती है। तत्त्विक विचार नीचे दिया जा रहा है :

1. मम्मट ने प्रसिद्ध तत्त्वों के आधार पर ऐसी परिभाषा दी है जिसमें किसी प्रस्थान-विशेष का ज्ञान आवश्यक नहीं, सहृदय होने की शर्त नहीं और न ऐसे पारिभाषिक शब्दों का समावेश है जिनका तात्पर्य सर्वविदित न हो सके।

2. शब्द और अर्थ (वाच्य) का परिचय भाषाशास्त्र की वस्तु है और यों भी लोग समझते ही हैं। इतरेतरयोग द्वन्द्व समास से इतना ही आता है कि दोनों का साहित्य अपेक्षित है। किसी एक में कोई परिवर्तन अपेक्षित दिखाई दे तो साहित्य का अभाव होगा और तब काव्यत्व में क्षति आयेगी। वह युगल अर्थान्तर की व्यञ्जना में परस्पर सहयोगी हो, यह तात्पर्य से निकल आता है। मूल लक्षण 'शब्दार्थौ काव्यम्' ही ठहरता है।

3. दोषाभाव शब्दार्थ के इतरेतरयोग का सम्पादक प्रथम तत्त्व है क्योंकि दोष यदि प्रभावी हो जायँ तो साहित्य की क्षति होगी। दोषाभाव ही प्रथम गुण है जो रचना को पुष्कल सौष्ठव प्रदान करता है जिन्हें सहृदय और हृदय-हीन सभी जान सकते हैं, केवल अनुशीलन की अपेक्षा है। अधिकतर दोष रचना में ही होते हैं अतः किसी अन्तरङ्ग विशिष्ट परिभाषिकता का आग्रह नहीं है।

4. शब्दार्थ-साहित्य के सम्पादक दूसरे तत्त्व गुण हैं। यद्यपि वे रस-धर्म हैं और रस सहृदय-मात्र-संवेद्य है, परन्तु यहाँ गुणों की व्यञ्जक शब्द-योजना से तात्पर्य है जिसे गुण विवेचन करते हुए पिछले अध्याय में देखा गया है। अतः उन्हें भी सब समझ सकते हैं।

5. अलकार भी शब्द और अर्थ के धर्म हैं जिन्हें सरलता से सभी समझते हैं। वे अनिवार्य नहीं हैं फिर भी प्राय: आते ही हैं।

उक्त तत्त्वों के आधार पर शैलीगत काव्य-स्वरूप हृदयंगम हो जाता है और व्यङ्ग्य अर्थ रस, वस्तु आदि की भावना स्वत: हो चलती है। काव्य को बिना समझे उसके प्रदेय की चर्चा करना मम्मट ने उचित नहीं माना, यही उनकी विशेषता है।

सन्दर्भ

1. 'साहित्यदर्पण—तर्कवागीशटीका'—दुर्गाप्रसाद द्विवेदी कृत टिप्पणी—निर्णयसागर'—(1915), पृ० 19.
2. रसगङ्गाधर—'निर्णयसागर' (1947), पृ० 4.
3. डा० भागीरथ मिश्र—'काव्यशास्त्र', विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, पृ० 8.
4. 'काव्यालंकार'—अध्याय 1.
5. 'चिन्तामणि', 'साधारणीकरण तथा व्यक्तिवैचित्र्यवाद' शीर्षक निबन्ध.
6. 'रमणीयता च लोकोत्तराह्लाद-जनक-ज्ञान-गोचरता'—'रसगङ्गाधर', पृ० 4.
7 'लोकोत्तरत्वं चाह्लादगत-चमत्कारत्वापर-पर्यायोऽनुभव-साक्षिको जातिविशेषः।'—वही, पृ० 5.
8. 'कारणं च तदवच्छिन्ने भावना-विशेषः पुनः पुनरनुसन्धानात्मा।'—वही.
9. 'इत्थं च चमत्कार-जनक-भावना-विषयार्थ-प्रतिपादक शब्दत्वम्' (काव्यत्वम्)।'—वही.
10. 'यत्प्रतिपादितार्थ-विषयक-भावनात्वं चमत्कार-जनकतावच्छेदकं तत्त्वम् (काव्यत्वम्)।'—वही.
11. 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः।'—ध्वन्यालोक, 1/1.
12 'योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्य-प्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।।'—वही, 1/2.
13. 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः।'—वही, 1/5.
14. 'सोऽर्थस्तद्व्यक्ति-सामर्थ्य-योगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः।'—वही, 1/8.
15. 'तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः संकरोज्झितः।।'—वही, वृत्ति, 1/13.
16. 'उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत्।।'—वही, 1/15.

ध्वनि-परवर्ती काव्यचिन्तन

रस निष्पत्ति के संदर्भ में ध्वनि-विरोधी आचार्य भट्टनायक का मत आ चुका है, अतः इस अध्याय में उन्हें विचारणीय नहीं माना गया है। मम्मट द्वारा काव्य-प्रकाश की रचना के आसपास ध्वनिविरोधी, ध्वनिवादी और स्वतंत्र विचारकों की परम्परा चली। इनमें तात्पर्यवाद, अनुमानवाद और वक्रोक्तिमत ध्वनि-विरोधी हैं, औचित्यमत ध्वनिवादी है और भक्तिरस-सिद्धान्त स्वतन्त्र है। भक्तिरस की मान्यता प्राचीन रही है, परन्तु मध्यकाल में तत्सम्बन्धी चिन्तन प्रतिष्ठित हुआ और भक्तिसाहित्य की पर्यालोचना में आज भी उसका उपयोग है। अनुमानवाद शंकुक की रस-निष्पत्ति के संदर्भ में आ चुका है।

तात्पर्यवाद

मीमांसा-दर्शन में वाक्यार्थ-विचार किया जाता है। वेद-वाक्यों के अर्थ-विनिश्चय हेतु जैमिनि द्वारा सूत्रों की रचना हुई थी और शबर मुनि ने उस पर भाष्य लिखा था। ईसा की सातवीं शताब्दी में (शंकराचार्य से पूर्व) दो मीमांसामनीषियों का उदय हुआ—कुमारिल भट्ट और प्रभाकर गुरु। वाक्यविचार के विषय में ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। कुमारिल का मत 'अभिहितान्वयवाद' और प्रभाकर का 'अन्वितमिधानवाद' कहा जाता है। ध्वनिपरवर्ती चिन्तन पर आने से पूर्व इन दो वादों पर विचार कर लेना चाहिए क्योंकि अभिनवगुप्त (9वीं शताब्दी) के समक्ष भी यह विचारधारा प्रसृत थी और व्यञ्जना-सिद्धान्त का सामना कर रही थी। मम्मट को इसका विशेष खण्डन करना पड़ा (10वीं-11वीं शताब्दी)।

अभिहितान्वयवाद

पद अभिधायक (वाचक) होता है, उसमें अभिधा या शक्ति रहती है, उस शक्ति से पद जिस संकेतित अर्थ का अभिधान करता है, वह अर्थ अभिधेय या वाच्य कहा जाता है। अभिधान प्राप्त कर वह पदार्थ (पद का अर्थ) 'अभिहित' हो जाता है। यह तथ्य अभिधा-विचार के संदर्भ में आ चुका है। वाक्य में अनेक

अभिधायक पद और उनके अभिहित अर्थ (पदार्थ) होते हैं। वाक्यार्थ पूरा होने के लिए पदार्थों का परस्पर 'अन्वय' होता है जो एक प्रकार का सम्बन्ध है। यह पदार्थों का सम्बन्ध ही 'अभिहितों का अन्वय' होने से 'अभिहितान्वय' कहा जाता है। इस अन्वय के लिए वाक्य में जो व्यापार (वृत्ति) रहता है उसे 'तात्पर्य' नाम से जानना चाहिए। इस प्रकार वाक्य में दो वृत्तियां काम करती हैं—एक अभिधा जो पदशक्ति होने से पदों के अर्थों को अभिहित बनाती है और दूसरी 'तात्पर्य-वृत्ति' है जो पदार्थों का अन्वय घटित करती है। यह 'तात्पर्यवृत्ति' दूसरे शब्द में 'अन्वय-वृत्ति' भी कही जाती है। यही कुमारिल का 'अभिहितान्वयवाद' है। तदनुसार वाक्यार्थ को 'तात्पर्य' कहते हैं। अभिहित पदार्थों का वाक्यार्थगत अन्वय बाद में होता है और तब वाक्यार्थ-बोध होता है, इस मान्यता के कारण कुमारिल-मत 'अभिहितान्वयवाद' कहा जाता है।[1]

इस मत में वाक्यगत उद्देश्य-विधेय-विचार भी महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतः अंगरेजी-व्याकरण के आधार पर हिन्दी में भी यह विचार किया जाता है। उदाहरणार्थ :

मोहन बाजार से भाजी लाये।

वाक्य को लें तो 'मोहन' को उद्देश्य कहा जायगा और वाक्य के शेष भाग को विधेय माना जायगा। इसे शब्द उद्देश्य-विधेय-भाव कह सकते हैं, परन्तु आर्थ उद्देश्य-विधेय-भाव इससे भिन्न हैं। प्रत्येक वाक्य किसी-न-किसी प्रश्न का उत्तर-रूप होता है। उक्त वाक्य प्रसंगानुसार अनेक प्रश्नों का हो सकता है :

1. बाज़ार से भाजी कौन लाये ? (मोहन)
2. मोहन बाज़ार से क्या लाये ? (भाजी)
3. मोहन कहाँ से भाजी लाये ? (बाज़ार से)
4. मोहन क्या करे ? (बाज़ार से भाजी लाये)
5. मोहन कहाँ से क्या लाये ? (बाज़ार से भाजी)
6. कौन क्या करे ? (मोहन बाज़ार से भाजी लाये)

इन प्रश्नों के सन्दर्भ में कोष्ठगत अंश ही नवीन कथ्य या अपूर्व हैं अतः वे ही विधेय कहे जायेंगे, शेष अंश उद्देश्य होगा। उद्देश्य भाग केवल इसलिए लाया जाता है कि विधेय को आधार मिल सके। जहाँ उद्देश्य सुज्ञात रहता है, वहाँ विधेयमात्र का उच्चारण देखा जाता है। वाक्य में उद्देश्य का अनुवादमात्र होता है अतः उसे 'अनूद्य' कहते हैं, वह ज्ञात रहता है अतः उसे 'भूत' और 'सिद्ध' नामों से भी जाना जाता है। विधेय ही वाक्य का अपूर्व अंश है अतः उसे 'विधि', 'भव्य' और 'साध्य' भी कहते हैं। दोनों का वाक्य में उच्चारण होता है, तब सिद्ध अंश साध्यांश के लिए ही लाया जाता है :

भूत-भव्य-समुच्चारणे भूतं भव्यायोपकल्पते। (काव्यप्रकाश, 5.)

यहाँ 'अदग्ध-दहन-न्याय' को सामने रखना चाहिए। जिस प्रकार जितना जल चुकता है उसे छोड़कर ही आग जलाती है, उसी प्रकार वाक्य का तात्पर्य उसी अंश में होता है जो अपूर्व, अज्ञात, भव्य या साध्य रहता है उसी को विधेय कहते हैं। विधेयांश का बोध कराने में ही वाक्य तत्पर होता है, उसकी यह तत्परता ही 'तात्पर्य' है। अतएव कहा गया :

यत्पर: शब्द: स शब्दार्थ:। (वही)

जो अर्थ जिस शब्द का प्रधान बोध्य होता है, वह उस शब्द का अर्थ होता है।[2] इस प्रकार शास्त्रीय विधेय को व्यावहारिक विधेय से पृथक समझ कर चलना चाहिए।[3]

इस तात्पर्यवाद में व्यञ्जना का समावेश हो पाता है या नहीं, इस पर आगे विचार किया जाना है।

अन्विताभिधानवाद

यह प्रभाकर गुरु का सिद्धान्त है। इसमें यह मान कर चला जाता है कि वाक्यार्थ-बोध हेतु किसी अन्वयवृत्ति या तात्पर्यवृत्ति की अपेक्षा नहीं। वाक्य का घटक प्रत्येक पद अभिधेय अर्थ का अन्वितरूप में ही अभिधान करता है। अन्वय वाच्यार्थ में ही सम्मिलित है अत: वाच्यार्थसमूह ही वाक्यार्थ है, वाच्यार्थ या पदार्थ से भिन्न किसी तात्पर्यार्थ की कल्पना व्यर्थ है। अन्वित पदार्थों का ही पदों द्वारा अभिधान मानने से यह मत 'अन्विताभिधानवाद' कहा जाता है। इस मत को मान लें तो अन्वय-सहित वाच्यार्थ में व्यङ्ग्यार्थ का समावेश असंभव ही होगा, अत: व्यञ्जना मान्य होनी चाहिए।

धनंजय और धनिक

दसवीं शताब्दी में धारानरेश मुञ्ज के सभापण्डित धनंजय ने 'दशरूपक' नाम से नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ लिखा। उसकी टीका धनिक ने लिखी। इस प्रकार ग्रन्थ में दोनों का महत्त्व है। दोनों ही व्यञ्जना-विरोधी और तात्पर्यवादी विचारक हैं। इसके कुछ ही बाद मम्मट ने काव्यप्रकाश लिखा और व्यञ्जना की पुन: स्थापना की।

व्यञ्जना को तात्पर्य में अन्तर्भूत करने हेतु इस धारा के मनीषी तात्पर्यवृत्ति की व्याप्ति अन्वय से बढ़ा कर अर्थ की जहाँ तक सीमा होती है, वहाँ तक मान लेते हैं। वे तीन वृत्तियाँ मान्य करते हैं—अभिधा और लक्षणा पदवृत्तियाँ हैं तथा तात्पर्यवृत्ति वाक्यवृत्ति है। धनिक ने अपने काव्यनिर्णय ग्रन्थ का उल्लेख किया है[4] जो आज अप्राप्य है। इस ग्रन्थ से सात श्लोक उद्धृत कर उन्होंने

व्यञ्जना का खण्डन और तात्पर्य का मण्डन किया है। उस सन्दर्भ के तर्क इस प्रकार हैं :

(क) व्यङ्ग्य अर्थ तात्पर्यार्थ से भिन्न नहीं हैं, अतः ध्वनिसिद्धान्त सर्वथा अमान्य है। ध्वनिवाद की ओर तर्क हैं :

1. जहाँ वाक्यार्थरूप तात्पर्य समाप्त हो जाने पर अन्य अर्थ निकलता है, वहाँ द्वितीय अर्थ तात्पर्य में कैसे आ सकता है ?

इहीं आस अटक्यो रह्यौ अलि गुलाब के मूल।
एहैं फेरि बसन्त रितु इन डारन वे फूल॥ (बिहारी)

इस अन्योक्ति में तात्पर्य की सीमा गुलाब और भ्रमर तक समाप्त हो जाती है। इसके बाद मानवीय चरित्र का अर्थ आता है जो व्यञ्जना से ही आ सकता है।

2. यदि कोई अपने पुत्र से कहे : 'विष खा लेना पर उसके यहाँ न खाना (विषं भुङ्क्ष्व मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः)' तो विष खाने का अर्थ तात्पर्य से आता है जबकि व्यञ्जना ही अर्थ देती है कि उसके यहाँ खाना विष खाने से भी बढ़कर घातक है।

3. जहां वाक्य का अर्थ विश्रान्ति पा लेता है, वहीं तात्पर्य की सीमा है। उसके आगे जो अर्थ आता है, वह ध्वनि (व्यङ्ग्य) है।

तात्पर्यवादी के समक्ष ये तर्क कुतर्कमात्र हैं क्योंकि उक्त उदाहरणों में अन्तिम अर्थ (जिसे ध्वनि कहा जाता है) तक अर्थ की विश्रान्ति अमान्य है, वहाँ तक तात्पर्य की ही व्याप्ति है।

(ख) तात्पर्यवादी के अनुसार उक्त उदाहरणों में तात्पर्य की परिसमाप्ति (विश्रान्ति) बीच में ही क्यों मानी जाय? तात्पर्य कुछ तराजू पर तोल कर नहीं प्रयुक्त होता, वह तो जब तक वाक्यार्थ पूरा न होगा तब तक अपना प्रसार रखेगा।[5]

(ग) ध्वनिवाद की ओर से एक उदाहरण दिया जाता है जिस का अनुवाद इस प्रकार है :

अरे पुजारी विचरो निर्भय, वह कुत्ता बेचारा।
मारा गया नदी-निकुञ्ज-वासी मृगेन्द्र के द्वारा॥

सीधा तात्पर्य यही है कि कोई कामिनी पुजारी को निर्भय विचरण के लिए आश्वस्त करती है क्योंकि जिस कुत्ते से वह डरा करते थे उसे नदी के कुञ्ज में रहने वाले शेर ने मार डाला। यहीं पर तात्पर्य की विश्रान्ति हो गयी। अब व्यञ्जना की सीमा में प्रवेश होता है जब हम दो अर्थ और पाते हैं—एक अर्थ पुजारी को लपेट में लेता है कि पहले वहाँ कुत्ता ही था और उस तक से तुम डरते थे पर अब तो सिंह रहता है, तुम्हें खा ही जाएगा, अतः वहाँ न जाना। दूसरा व्यङ्ग्य है कि वह कुलटा नदी कुञ्ज में अपने कामुक से मिलना चाहती है

और पुजारी उधर टहला करता है जो देख लेगा, अतः उसे रास्ते से हटाना अभिप्रेत है। ध्वनिवादी का आग्रह है कि तात्पर्य तो दोनों उक्त अर्थों से पूर्व ही विश्रान्त हो गया अत: तात्पर्य के बाद ध्वनि का क्षेत्र मान्य होना ही चाहिए। वाक्य में निषेधवाचक पद न होने से उसका बोध तात्पर्य से असंभव है।

इस पर तात्पर्यवादी अपना पक्ष रखता है कि जब तक अर्थपूर्ति की अपेक्षा होगी तब तक तात्पर्य की विश्रान्ति क्यों मानी जाय, जब तक वक्ता की वह बात ज्ञात नहीं हो जाती जिसे वह कहना चाहता है तब तक विश्रान्ति कहाँ ?

(घ) पुरुषोक्त वाक्य वक्ता की विवक्षा (कथ्य कहने की इच्छा) के अधीन होता है, अत: वक्ता का अभिप्राय पूरा होने तक तात्पर्य की व्याप्ति काव्य में मान्य है।

तात्पर्य और रसध्वनि

जहाँ वस्तु व्यङ्ग्य का प्रसङ्ग है वहाँ वाक्यार्थ मान कर तात्पर्य में व्यञ्जना का अन्तर्भाव संगत हो सकता है, परन्तु रसस्थल में अनुभूति की जटिल प्रक्रिया में तात्पर्य का कोई योग नहीं हो सकता। तात्पर्य तो अधिक-से-अधिक इत्यादि भावों का वस्तुरूप में बोध कराने वाला शब्दव्यापार हो सकता है। इस तथ्य को तात्पर्यवादी भी मान्य करता है, परन्तु व्यञ्जना व्यापार को वह अमान्य ही रखता है। वहाँ उसकी अवधारणा इस प्रकार बनती है :

1. रसतत्त्व रसनीय या आस्वादनीय होता है, अत: रसिक में ही उसकी विद्यमानता संगत है (यही व्यञ्जनावादी का भी अभिमत है) क्योंकि अनुकार्य रामादि विगत पात्र हैं जिनकी रत्यादि का आस्वाद संभव नहीं। यदि वैसा माना भी जाय तो लौकिक व्यक्ति की रति देखकर व्रीड़ा, ईर्ष्या, राग और द्वेष ही द्रष्टा को प्रतीत होंगे जैसा किसी को अपनी रमणी से संयुक्त देखने पर होता है।[6]

2. रस और काव्य में व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-सम्बन्ध न होकर भाव्य-भावक-सम्बन्ध है। काव्य भावक है जिससे रसिक में रस भावित होता है, विभावादि काव्य में भावक-सामग्री है। रसिक भी भावक है क्योंकि भावित रस की प्रतीति का वही आधार है।

3. इस प्रकार काव्य में भावना व्यापार (भट्टनायक-सम्मत) मानना ही चाहिए। तात्पर्यवादी इसमें भरत को प्रमाण में लेता है :

भावाभिनय-सम्बन्धान् । भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात् तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ।।

अर्थात् भावों के अभिनयों से सम्बन्ध वाले रसों की भावना के कारण ही काव्य-

नाट्य में भावों की सार्थकता है ।

4. साधारणीकरण की महिमा से सीता आदि का जनकपुत्री आदि वाला रूप तिरोहित हो जाता है, वे कान्तामात्र का रूप प्राप्त करने वाले विभाव बन जाते हैं। तब रसिक अपनी ही भावना का आस्वाद कर आनन्दित होता है जिस प्रकार बालक मिट्टी के हाथी से खेलता हुआ अपने ही उत्साह का सुख प्राप्त करता है।[7]

5. विभावादि-विशिष्ट रत्यादिरूप काव्यार्थ जब रसिक के चित्त से एकाकारता प्राप्त करता है तब स्वगत-परगत का भेद जाता रहता है और आत्मानन्द में लय होता है, यही रसनिष्पत्ति है। इसमें चार प्रकार से रसिक की चित्तभूमियाँ बनती हैं : (क) शृङ्गार और हास्य में विकास, (ख) वीर और अद्भुत में विस्तार, (ग) वीभत्स और भयानक में क्षोभ, (घ) रौद्र और करुण में विक्षेप ।

6. भट्टनायक ने आस्वाद के लिए भुक्ति व्यापार को पृथक् माना है, परन्तु इस मत में भावकत्व या भावना व्यापार ही पर्याप्त है—यह अन्तर है ।

ध्वनिवादी के तात्पर्य-खण्डनपरक तर्क

उक्त अवधारणाओं को ध्वनिवादी अमान्य करता है। तदनुसार तर्क इस प्रकार हैं[8] :

1. तात्पर्य की सीमा तोड़कर उसे तब तक कार्य-परायण माना जाता है जब तक अर्थ की सीमाएँ समाप्त नहीं होतीं, तो व्यञ्जना की सीमा में आने वाला तात्पर्य निश्चय ही कुमारिल की तात्पर्यवृत्ति या अन्वयवृत्ति से भिन्न है और तब नाममात्र का विवाद बचता है—जिसे ध्वनिवादी व्यञ्जना नाम देता है, उसी को तात्पर्यवादी तात्पर्य कहता है ।

2. यही स्थिति भावना की है। भाव का भावित होना और व्यक्त होना एक ही हैं, नाममात्र का विवाद है। सहृदय की भावना या वासना का आस्वाद उभयत्र स्वीकार्य है ।

3. कुमारिल के अन्वयरूप तात्पर्य की निश्चित सीमा है जो अभिहित पदार्थों का सम्बन्धमात्र देकर विरत हो जाती है। तात्पर्य को आगे भी मान्य कर लेने पर एक ही नाम के साथ दो प्रकार के व्यापार जोड़ने पड़ते हैं, यह दोष अवश्य है। इसके अतिरिक्त व्यञ्जनार्थ तात्पर्य के उतने ही भेद और तदनुसार काव्य-भेद निर्धारित करना तात्पर्यवादी के लिए भी अनिवार्य है ।

4. धनिक ने फिर भी तात्पर्य को वाक्य तक सीमित कर लिया है जबकि ध्वनि पद, पदांश, वृत्ति, वर्ण आदि में भी देखी जाती है। इस प्रकार तात्पर्य से काम नहीं चलता ।

वक्रोक्ति-मत

आचार्य कुन्तक (या कुन्तल) भामह की वक्रोक्ति को पुन: प्राण-प्रतिष्ठा देने वाले काश्मीर के ही आचार्य हैं जिनका समय 11वीं शताब्दी है। वह प्रमुख ध्वनि-विरोधी आचार्य हैं, परन्तु उनके ग्रन्थ 'वक्रोक्ति-जीवित' में स्पष्टत: कहीं भी ध्वनि-खण्डन नहीं है। वे वक्रोक्ति की स्थापना में जो युक्तियाँ देते हैं, उन्हीं में खण्डन समाविष्ट रहता है। उनके ग्रन्थ में चार उन्मेष हैं : प्रथम में काव्य-लक्षण, अलंकार, और अलंकार्य का भेद आदि दिया गया है जिसे विगत दो अध्यायों में देखा जा चुका है। दूसरे उन्मेष में 'वर्ण-विन्यास-वक्रता', तीसरे में 'वाग्वैचित्र्यवक्रता' और चौथे में 'प्रकरण-वक्रता' के भेदोपभेद वर्णित हैं। ग्रन्थ अपूर्ण मिलता है, अन्यथा वक्रोक्तिपरक चिन्तन को एक ग्रन्थ में समेट कर जिस समीक्षा-शैली का उपस्थापन कुन्तक ने किया, वह आनन्दवर्धन के बाद अपूर्व है। वैसी नवीनता उस समय कश्मीर के ही विचारक महिमभट्ट में ही देखी जाती है। प्रथम उन्मेष के एक ही श्लोक में उन्होंने अपना मन्तव्य इस प्रकार दे दिया है :

उभावेतावलंकार्यौ तयो: पुनरलंकृति:।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ।। (उन्मेष, 1)

इसमें शब्द और अर्थ को अलंकार्य वर्ग में रखा गया है। कुन्तक वस्तु-स्वभाव और रस को अर्थरूप अलंकार्य मानते हैं। उन तीनों को अलंकृत करने वाला अलंकार 'वक्रोक्ति' या उक्ति-वक्रता ही है। वक्रोक्ति विदग्धता (कौशल) की भङ्गी (विचित्रता) की उक्ति है। इस प्रकार व्यङ्ग्योक्ति और वक्रोक्ति में नाममात्र का अन्तर रह जाता है।

कुन्तक ध्वनिवादी मम्मट के समान नहीं है जो अलंकार को हार आदि के समान बाह्य प्रक्षेपण मानें। वे तो उक्ति के ही दो भाग करते हैं—शब्द और अर्थ (रस तथा स्वभाव) एक भाग है जिसे अलंकृत करने वाला भाग वक्रता है। वक्रता के बिना शब्द और अर्थ को काव्य नहीं कहा जा सकता जैसे ध्वनिमत में व्यङ्ग्य के बिना काव्य अमान्य है।

काव्यजीवित

'वक्रोक्ति: काव्यजीवतम्' को लेकर ऐसा मान लिया जाता है कि कुन्तक केवल अलंकार को काव्य का सर्वस्व मानते हैं। यह भ्रान्त धारणा है। अलंकार्य को महत्त्व देकर ही अलंकार पर विचार करने वाले कुन्तक अलंकार को रसादि-निष्पत्ति का असाधारण कारण मानते हैं, अत: वक्रता आत्मा न होकर प्राण-स्वरूप है। काव्यात्मा तो अलंकार्य तत्त्व को ही मानना चाहिए। पाँच प्राणों के

समान ही कुन्तक ने पाँच काव्यजीवित रखे हैं[9] : (1) शैली की दृष्टि से वक्रोक्ति जीवित है (2) वक्रता को योजित करने वाला कविकौशल दूसरा जीवित है (3) काव्यगुण शोभा तीसरा, (4) काव्यगुण सौभाग्य चौथा और (5) काव्यगुण औचित्य पाँचवाँ जीवित है। इस प्रकार कविकौशल प्रथम है जिसके अधीन उक्ति में वक्रता घटित होती है और तब काव्य में तीन गुण आते हैं जिनसे सहृदय को लोकोत्तर चमत्कार उपलब्ध होता है।

वक्रता के भेद

कुन्तक ने छह भेद करके वक्रोक्ति की सतर्क स्थापना की है और प्रकारान्तर से व्यङ्ग्योक्ति को ही वक्रोक्ति से ग्रथित कर लिया है :

वर्णविन्यासवक्रता : इस वर्ग में रचना के अतिरिक्त सभी शब्दालंकार आ जाते हैं जो ध्वनि-संगत भी हैं।

पदपूर्वाधवक्रता : इसे पदांश-वक्रता भी कह सकते हैं जो पदांशव्यङ्ग्य का ही नामान्तर जान पड़ता है।

पदपरार्धवक्रता : यह भी पदांश-वक्रता है जिसमें प्रत्ययवक्रता आदि सम्मिलित हैं। पदांशव्यङ्ग्य का ही यह नामान्तर है।

पदवक्रता : यह पदव्यङ्ग्य में अन्तर्भूत है। इसे शब्दशक्तिज और अर्थशक्तिज भेदों में विभक्त कर सकते हैं जैसा कि ध्वनि के सन्दर्भ में देखा गया है।

वाक्यवक्रता : इसमें विविध अलंकार सम्मिलित हैं। उसी में ध्वनिवर्ग भी आ जाते हैं और अर्थालंकार भी।

प्रकरण और प्रबन्ध की वक्रता तो प्रकरणगत और प्रबन्धगत ध्वनियाँ हैं ही।

कुन्तक की उपस्थापना इतनी नवीन है और वर्ग-विभाजन की प्रक्रिया इतनी सूक्ष्म कि यह विवेचन असंभव नहीं तो कठिन अवश्य रहता है कि ध्वनि-सिद्धान्त के ही प्रश्नों को प्रकारान्तर से वक्रोक्ति नाम देकर ग्रन्थबद्ध किया गया है। महिमभट्ट ने ठीक पहचाना और कहा है :

> शास्त्रादि में प्रसिद्ध शब्दार्थ-योजना से भिन्न जो काव्यगत शब्दार्थ-योजना होती है, वही काव्य का जीवन है। इस कथन के दो ही अभिप्राय हो सकते हैं—(1) यह विचित्रता या तो शब्दार्थ के औचित्य से ही मान्य हो सकती है, (2) या प्रसिद्ध वाच्यार्थ से भिन्न व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति से स्थापित होगी—क्योंकि शब्दार्थ की प्रसिद्ध योजना से पृथक् कोई अन्य प्रकार असंभव हैं। इनमें-से प्रथम विकल्प का कोई सुदृढ़ आधार नहीं क्योंकि औचित्य काव्य के स्वरूप का भाग है जिसके बिना रस की ही

निष्पत्ति न होगी जो कुन्तक को भी मान्य है। वक्रता के नाम से द्वितीय विकल्प ही कुन्तक को इष्ट हो सकता है और उस दशा में प्रकारान्तर से ध्वनि का ही समर्थन होता है। कारण यह है कि जो तथ्य ध्वनिमत में प्रतिपाद्य हैं वे ही शब्द बदलकर (वक्रता नाम से) कहे जा रहे हैं—यहाँ तक कि वक्रोक्ति के वैसे ही (ध्वनि वाले) भेद और उदाहरण ग्रन्थ (वक्रोक्ति-जीवित) में किए गए हैं।[10]

समीक्षा

वक्रोक्तिकार जब विविध वक्रताओं का विवेचन करते हैं तब यह स्पष्ट नहीं होता विदग्ध-भणितिरूप वक्रता के लिए शब्द-व्यापार क्या है? कुन्तक के समय तक भाषाचिन्तन पूर्णतः प्रौढ़ हो चुका था अतः इस प्रश्न का विशेष महत्त्व है। एक उदाहरण लेकर विचार किया जाय :

जानसि मोर सुभाउ वरोरू।
मन तव आनन चंद चकोरू ।। (मानस)

यहाँ प्रथम चरण का 'वरोरू' पद केवल इतना संकेतित अर्थ ही नहीं देता कि कैकेयी सुन्दर ऊरुओं वाली स्त्री है, अपितु यह असंकेतित अर्थ भी निकलता है कि राजा विलासातुर होकर उसकी मनुहार कर रहे हैं। यहाँ अर्थ की दो कक्ष्याएँ स्पष्ट हैं। द्वितीय चरण में रूपक अलंकार है जिसमें संकेतित अर्थ के अतिरिक्त भिन्न वस्तुओं में अभेद लाने वाली लक्षणा भी कार्य करती है और तीसरी कक्ष्या में अर्थ आता है कि दशरथ दिन भर कुछ करें, कहीं रहें, पर रात में कैकेयी का ही मुख देखते रहना चाहते हैं।

यह सारा अर्थ-समाज 'वक्रता' कह देने भर से सन्तोषजनक व्याख्या नहीं पाता। यह वक्रता यदि अभिधामात्र है तो अर्थ की इतनी कक्ष्याओं में संकेतित अर्थ की बोधिका शक्ति कैसे काम करेगी? आजकल कुछ लोग अर्थ की अखण्डता पर बल देकर सारी अनुपपत्तियों का सरल समाधान पा लेते हैं, परन्तु अर्थविज्ञान का कोई विद्यार्थी इससे सन्तुष्ट नहीं हो सकता। तात्पर्यवृत्ति का व्यापक प्रसार मानने वाले सिद्धान्त से भी बढ़कर यह अभिधावाद विचित्र है जो अर्थविश्लेषण की शास्त्रीय परम्परा को ही ललकारता है और वह भी अपने अखाड़े में जहाँ दूसरे को जाने भी नहीं देना चाहता। कुन्तक अभिधावादी आचार्य हैं। इस धारा के विचारक अभिधा को बाण की तुलना में लेते हैं। एक ही बाण वर्मच्छेद, मर्मच्छेद और प्राणहरण ये तीन कार्य करता है, धनुर्धर की शक्ति के अनुसार एक या दो या तीनों कार्य हो जाते हैं, उसी प्रकार एक ही अभिधा किसी द्वारा प्रयुक्त होकर एक अर्थ ही देती है, कहीं दो और कहीं तीन। इसका तात्पर्य हुआ कि तीन तक अर्थ-कक्ष्याएँ मान्य हैं, पर उन्हें एक ही अभिधा

को निष्पत्ति माना गया है। कठिनाई यह है कि अभिधा संकेतित अर्थमात्र देती है, शेष कक्ष्याओं तक उसका प्रसार कैसे होगा, इस पर महिमभट्ट ने कहा है :

> बाण का दृष्टान्त मेल नहीं खाता। एक बाण एक ही व्यापार से छेदन, भेदन आदि कर्म सम्पन्न कर सकता है, वैसा शब्द कैसे करेगा ? शब्द तो संकेत-सापेक्ष होकर ही कार्य करता है, स्वभावत: नहीं—जिस अर्थ में जिस शब्द का संकेत होता है, उसी अर्थ के बोध में उस शब्द का कार्य देखा जाता है (तभी शब्दकोशीय महत्त्व सामने आता है)। ऐसी स्थिति में अभिधा वाच्यार्थ की कक्ष्या में कार्य कर सकती है, अर्थान्तर की कक्ष्या में संकेत ही नहीं है तब अर्थबोध कैसे होगा ? संकेतनिरपेक्ष अर्थबोध मान लेने पर तो सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक हो सकेंगे।[11]

अभिधा में ही सम्पूर्ण अर्थ-संभार समा सकता तो कुन्तक उपचार (लक्षणा) और प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) जैसे शब्दों का प्रयोग न करते—अभिधावादी के लिए तो यह 'वदतोव्याघात' है। अभिधा की ही व्याप्ति मान लेने पर उसे भेदों और उप-भेदों के साथ विवेचित करना होगा, वक्रता भर कहने से क्या बनता है ? वक्रता तो सर्वमान्य तत्त्व है, पर उसका शास्त्रीय रूप शब्दवृत्ति विवेचन में ही देखा जा सकता है जिससे कुन्तक कतराते हैं।

अनुमानवाद

ध्वनिसिद्धान्त के आगमन से पूर्व ही भट्टशंकुक ने अनुमान के आधार पर रस-निष्पत्ति की व्याख्या की थी। उसकी पर्याप्त आलोचना हुई और ऐसा लगा कि वह सिद्धान्त ध्वनिमतरूप मत्त मातङ्ग के पदतल के नीचे कुचल गया। परन्तु 11वीं शताब्दी के कश्मीरी मनीषी राजानक महिमभट्ट ने उसे पुनर्जीवित करने का संकल्प लेकर 'व्यक्ति-विवेक' ग्रन्थ की रचना की।[12] रसविवेचन के क्षेत्र में अनुमानवाद न्याय-दर्शन का मत है जिसकी कतिपय आधारभूत मान्यताएँ हैं :

1. रस ही काव्य से सहृदय को प्राप्य होता है, अत: वही एक मात्र काव्य की आत्मा है। वस्तु, अलंकार तो मध्यवर्ती हो सकते हैं, परन्तु रस ही अकाव्य से काव्य को पृथक् करता है।

2. न्याय में दो ही शब्द-वृत्तियाँ मान्य हैं : शक्ति (अभिधा) और लक्षणा। अत: शब्द के दो ही अर्थ हो सकते हैं : वाच्य और लक्ष्य। व्यञ्जना वृत्ति अमान्य होने से व्यङ्ग्य अर्थ जैसी कोई वस्तु नहीं होती। अत: व्यङ्ग्य कहा जाने वाला अर्थ शब्दार्थ न होकर अनुमेयार्थ होता है। तात्पर्य यह कि वाच्य या लक्ष्य अर्थ को साधन बना कर दूसरी या तीसरी कक्ष्या का अर्थ अनुमान से आता है। जिस प्रकार दो का वार्तालाप सुन कर हम उनके राग या द्वेष का सरलता से अनुमान कर लेते हैं, उसी प्रकार काव्यार्थ से भी कर सकते हैं, अत: व्यञ्जना जैसी कोई

शब्दवृत्ति नहीं। व्यञ्जना, व्यञ्जक, व्यङ्ग्य जैसे शब्द अनुमान, अनुमापक और अनुमेय अर्थ ही देते हैं।

3. जहाँ रसध्वनि, वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि जैसे प्रयोग देखे जाते हैं वहाँ रस, वस्तु और अलंकार की अनुमिति माननी चाहिए। उदाहरण वे ही रहेंगे जो ध्वनि के सन्दर्भ में आ चुके हैं।

'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ में महिमभट्ट ने तीन विमर्श रखे हैं। प्रथम विमर्श में आनन्दवर्धन की ध्वनि-परिभाषा की सतर्क आलोचना करते हुए उसका अनुमान में अन्तर्भाव सिद्ध किया गया है। दूसरे विमर्श में शब्द और अर्थ के अनौचित्यों पर विचार है। तीसरे विमर्श में 'ध्वन्यालोक' के चालीस उदाहरणों को परखा गया है और उनमें ध्वनि के स्थान पर अनुमान की स्थापना की गयी है। 11वीं शताब्दी में ही आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के पञ्चम उल्लास में महिमभट्ट का खण्डन कर ध्वनि की पुन: स्थापना की है। उसका प्रसिद्ध तर्क है :

अरे पुजारी विचरो निर्भय, वह कुत्ता बेचारा।
मारा गया नदी-निकुञ्ज-वासी मृगेन्द्र के द्वारा ॥[13]

यहाँ व्यङ्ग्य है कि कुत्ते के स्थान पर अब नदी के किनारे सिंह रह रहा है, अत: उससे भी बड़ा भय है, उधर न जाना। अनुमानवादी का तर्क है कि भीरु पुरुष वहीं भ्रमण करेगा जहाँ भय का कारण न हो, नदी-तट पर सिंह भयकारण उपलब्ध है। अत: भ्रमण-निषेध का अनुमान हो जाता है। इसका खण्डन है :

1. डरपोक भी प्रभु आदि के आदेश या प्रिया के अनुराग या अन्य ऐसे कारणवश भयानक स्थान पर भी जा सकता है।

2. वीर पुरुष होगा तो कुत्ते के छूने आदि से डरता हुआ भी सिंह से न डरेगा और नदी की ओर जा सकेगा।

3. माना कि सिंह का वहाँ रहना विरुद्ध है फिर भी प्रत्यक्ष या अनुमान से उसका वहाँ अस्तित्व प्रमाणित नहीं है।

4. केवल मिथ्यावादिनी कुलटा का वचन प्रमाण नहीं हो सकता कि उस आधार पर अनुमान प्रतिष्ठित हो सके। प्रमाण-सिद्ध कारण ही अनुमान-प्रमाण बनता है।

इन चारों तर्कों का खण्डन अनुमानवादी सरलता से कर सकता है :

1. पुजारी या धार्मिक व्यक्ति गाहेबगाहे या प्रतिदिन नदी तट की ओर घूमने या सन्ध्यावन्दनादि के लिए ही जाया करता है, यह वचन से ही विदित है; अत: किसी के आदेश से वहाँ जाना सिद्ध नहीं होता कि अनुमान में बाधा हो। (2) जो कुत्ते से डरता है वह सिंह से डरेगा ही, इस आधार पर पुंश्चली का उक्त वचन है, धार्मिक पुरुष किस लिए जाता है, इससे उसका प्रयोजन नहीं, वह तो अधिक भय दिखा कर पुजारी का विचरण रोकना चाहती है, पुजारीजी फिर भी जायँ तो

इसमें बेचारी कामिनी क्या कर सकती है, अनुमान तो कामिनी-सापेक्ष है, पुजारी की स्थिति की उसमें अपेक्षा नहीं; अत: वह वीर पुरुष हो तो भी कोई अन्तर नहीं आता। (3) प्रीति और भय वाले वचन अप्रमाण हों तो भी प्रवृत्ति और निवृत्ति देखी जाती है—कोई माता खोये हुए शिशु को पाने हेतु किसी मिथ्यावादी की बात मान कर भी उसके बताये हुए स्थान पर जाने में प्रवृत्त हो सकती है और कोई यात्री किसी मार्ग में अधिक भय की सच्ची या झूठी सूचना पाने भर से उधर जाने से रुक सकता है। वस्तु के प्रमाणित होने पर ही प्रवृत्ति या निवृत्ति की शर्त नहीं है, प्राणसंकट में पड़ने के लिए कोई क्यों जायगा ? केवल प्रमाणित होने पर ही सिंह-युक्त मार्ग पर जाने से निवृत्ति नहीं होती, अफ़वाह भर से ही बड़े-बड़े जानकार उधर से कतराते हैं। (4) कुलटा मिथ्यावादिनी है, यह कवि जानता है। परन्तु कवि ने पुजारी को इससे अनजान रखा है, वह भी कवि कल्पना है, अत: कविता का पुजारी तो उन वचनों को प्रमाणित मान सकता है क्योंकि धर्म-कर्म का अभ्यासी वह बेचारा छलना क्या समझे ? कुलटा की दृष्टि में वह वीर नहीं भीरु है।

अत: जिन तथ्यों को लेकर व्यञ्जना होती है, उन्हीं के आधार पर अनुमान भी हो सकता है। व्यञ्जना के निर्धारक वैशिष्ट्यों का परिगणन पहले ही किया गया है, वे ही वक्ता आदि के वैशिष्ट्य अनुमान को भी आधार दे सकते हैं। हम जानते हैं कि वक्ता कुलटा है, अत: उसकी विशिष्टता से हम कामुक-मिलनेच्छा का अनुमान कर सकते हैं और हम यह भी जानते हैं कि श्रोता धार्मिक है, भोला तथा भीरु है अत: अनुमान कर लेते हैं कि उधर जाने से उसे रोका जा रहा है जो भयावेश में प्रामाणिकता की खोज न करेगा। जो शर्तें व्यञ्जना में सहायक हैं, वे ही पक्षधर्मता का आधार हैं।

लोक में असत् वस्तु का भी वचन से अनुमान हो जाता है और तदनुसार आचरण देखा जाता है। शब्द की यही महिमा है कि वह असत् को भी सत् बना देता है। उदाहरणार्थ, किसी वृक्ष पर किसी प्रेत की चर्चा से ही लोग रात में वहाँ जाने से कतराते हैं, यहाँ असत् भय अनुमित है, किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं। यह व्यञ्जना-क्षेत्र से सर्वथा बाहर का उदाहरण है—तर्कानुगत प्रमाणित तथ्य ही मानने वालों के लिए ऐसे अनुमान नहीं होते, पर सामान्यत: होते तो हैं ही। अनुकारक में असत् स्थायी भाव का अनुमान इसी कोटि में आता है। अनुमान के बिना न साधारणीकरण संभव है और न ही स्वगत वासना का आस्वाद। अनुकारक में स्थायी भाव वस्तुरूप है, रसरूप नहीं, यह ध्वनि-सम्बन्धी मान्यता भी अनुमान में अन्तर्भूत हो जाती है। असत् स्थायी की जिस प्रकार वस्तुरूप में व्यञ्जना होगी, उसी प्रकार अनुमान भी। अधिक-से-अधिक वैसी अनुमिति को भ्रम कहा जायगा और यदि उसे भ्रम मान भी लें तो भ्रमकाल में चमत्कार का व्यवहार भी हो सकता है—सीपी को चाँदी समझने वाला भी तो लोभवश उठाने दौड़ता ही है।

ध्वनिमत की ओर से एक ही तर्क बचता है कि सहृदय के हृदय की भाव-वासना की अभिव्यक्ति हो सकती है, अनुमिति नहीं। इसे अमान्य करने में महिमभट्ट का दार्शनिक आग्रह देखा जा सकता है। परन्तु शब्द-वेद्य अर्थ के लिए प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं होती, तभी झूठी गाली सुनकर रोषावेश देखा जाता है। झूठी गाली से अनुमान हो ही जाता है कि वक्ता श्रोता को उस अभद्रता का पात्र मानता है, इतना ही पर्याप्त है—सच-झूठ का विवेक वहाँ बाद की वस्तु है।

औचित्य

औचित्य सदातन काव्य-तत्त्व है जिसे ध्वनिकार ने अनेकत्र महत्त्व दिया है : अनौचित्य सबसे बड़ा प्रत्यूह है जो रसभङ्ग लाता है, औचित्य ही रस का मर्म है।[14] उन्होंने रीति, वृत्ति, शब्द, अर्थ और विषय में औचित्य को नियामक' तत्त्व माना है।[15] महिमभट्ट ने वैसा ही कहा है।[1] उन्होंने तो अपने ग्रन्थ का पूरा अध्याय औचित्य विमर्श को दिया है। अभिनवगुप्त आदि सभी ने काव्य को 'ललितोचित-सन्निवेश-चारु' कहा है।

इन स्फुट कथनों के आधार पर 11वीं शताब्दी के मध्य में कश्मीर के आचार्य क्षेमेन्द्र ने एक लघु ग्रन्थ लिखा जिसे 'औचित्य-विचार-चर्चा' नाम दिया। इसी ग्रन्थ को औचित्यमत का प्रतिष्ठापक माना जाने लगा, जिसके कुछ कारण हैं। क्षेमेन्द्र ने प्रथम बार और अन्तिम बार भी औचित्य को वर्गबद्ध चिन्तन और विवेचन का लक्ष्य बनाया। वे ध्वनिवादी थे परन्तु अन्य ध्वनिवादी केवल दोष-निरूपण करके अनौचित्य पर ही प्रकाश डाल सके जबकि क्षेमेन्द्र ने औचित्य को उचित महत्त्व दिया। औचित्य दोषाभावमात्र नहीं है, अपितु औचित्य का अभाव दोष है, यह क्षेमेन्द्र की विचारभूमिका जान पड़ती है। उन्होंने 27 औचित्य परिगणित किये हैं।

पदौचित्य : अर्थात् पद-प्रयोग का औचित्य न होने से अपुष्टत्व, ग्राम्यत्व, अश्लीलत्व, कष्टत्व, श्रुतिकटुत्व, च्युतसंस्कृति आदि पददोष घटित होते हैं।

वाक्यौचित्य : के अभाव में विधेयाविमर्श आदि वाक्यदोष आते हैं।

प्रबन्धौचित्य : द्वारा प्रबन्धनिर्वाह के सौष्ठव और उसके वर्णनगत सन्तुलन का ग्रहण है।

अलंकारौचित्य : के अभाव में विषय और रस के अनुरूप अलंकार-योजना न होगी और तब विविध अलंकारदोष होंगे या अलंकार रसपोषक न होकर क्रीड़ा-मात्र बन जाएगा।

रसौचित्य : सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है जिसके अभाव में रसदोष घटित होंगे या रसाभास-काव्य होगा।

क्रियौचित्य : द्वारा क्रिया के समुचित प्रयोग पर वल दिया गया है। उदाहरणार्थ :

सीयँ चकित चित रामहि चाहा। (मानस)

में 'चाहा' क्रिया अत्यन्त उचित है जिसमें देखने के साथ मनोरथ या लालसा का भाव स्वत: आ जाता है। इसके विपरीत :

तब रावनहिं हृदय महुँ मरिहहिं रामु सुजान। (मानस)

का 'मरिहहिं' क्रियापद अनुचित है क्योंकि उससे अर्थान्तर भी निकलता है कि 'मर जायँगे'।

कारकौचित्य

उठहु राम भंजहु भव चापा।
मेटहु तात जनक परितापा।। (मानस)

यहाँ राम को परिताप-निराकरण का कर्ता बनाया गया है जो उचित है क्योंकि जिसमें सब रमण करें वही 'राम' है और परितापहरण में ही नाम की प्रासंगिक सार्थकता है। इसके बिना अर्थ अपुष्ट होगा जो दोष है।

लिङ्गौचित्य

जिमि सरिता सागर पहिं जाहिं। (मानस)

में सरिता का स्त्रीलिङ्ग और सागर का पुंलिङ्ग अभिसार का व्यञ्जक है। इसके विपरीत 'सरि प्रवाह' या 'सब नद' जैसा पाठ होता तो दोष होता।

गुणौचित्य : तब होता है जब माधुर्य आदि का रसानुसार प्रयोग हो। यदि वीर आदि रसों में माधुर्य-व्यञ्जक और शृङ्गारादि में ओजो-व्यञ्जक रचना हो तो औचित्य न होगा।

वचनौचित्य : को एक वचन आदि के उचित प्रयोगों में देख सकते हैं :

बहुत उछाहु भवनु अति थोरा। (मानस)

यहाँ एक वचन-प्रयोग बताता है कि एक ही उत्साह अधिक था जिसके लिए एक भवन अपर्याप्त था। इसी में औचित्य है।

विशेषणौचित्य : तभी है जब आवश्यक विश्लेषण ही प्रयुक्त हों, अन्यथा अपुष्टत्व दोष होगा।

उपसर्गौचित्य : भी विशेषणौचित्य के समान ही है।

निपातौचित्य : में अव्ययों का उचित प्रयोग देखा जाता है।

कौसल्याँ अब काह बिगारा। (मानस)

में 'अब' का प्रयोग अतीत में कुछ न बिगाड़ने की व्यञ्जना करता है।

कालौचित्य

लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़ें।
काहु न लखा देख सब ठाढ़ें।। (मानस)

'देख' का वर्तमान और 'लखा' का भूत काल व्यञ्जक हैं कि आँखें तो सब खोले

रहे पर लक्षित करने की किसी में शक्ति नहीं थी क्योंकि इतनी त्वरा से सारी क्रियाएँ घटित हो गयीं।

देशौचित्य

बहुरि बदनविधु अंचल ढाँकी।
पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी।
खंजन मंजु तिरीछे नैननि।
निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सैननि। (मानस)

यहाँ ग्राम-देश के औचित्य का सन्निवेश है—सीता जी इसे जानती हैं कि गांवों की स्त्रियाँ वाच्य रूप में अपने पति का परिचय कभी नहीं देतीं, अतः वहाँ उन्हें तदनुसार ही करना चाहिए।

कुलौचित्य

अधम तें अधम अधम अति नारी।
तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी।। (मानस)

यहाँ शबरी अपने कुल के आधार पर शवर जाति की स्त्रियों में स्वभावगत मर्यादाहीनता का चित्र दे रही है—वे स्त्रियाँ जो नीच हों, नीचतर हों और उन में भी नीचतम हों, उन स्त्रियों में वह अपनी गणना करती है। यह संसार की सभी स्त्रियों पर आक्षेप न होकर उस कुल की स्त्रियों का निवेदन है जिस में कुलौचित्य का समावेश है।

व्रतौचित्य

निसिचर हीन करौं महि भुज उठाइ पनु कीन्ह। (मानस)

यह व्रत मानस-काव्य में अन्त तक निभाया गया है।

तत्त्वौचित्य : में दार्शनिक तथ्यों का उचित समावेश होता है :

विषय करन सुर जीव समेता।
सकल एक तें एक सचेता।।
सब कर परम प्रकासक जोई।
रामु अनादि अवधपति सोई।। (मानस)

यहाँ तत्त्वों के योग्य समावेश द्वारा राम के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है जो ब्रह्म से अद्वैत है और जिसके प्रकाश से सब प्रकाशित हैं (तस्य भासा सर्वमिदं विभाति)।

सत्त्वौचित्य : में उत्साह, पराक्रम, धैर्य आदि समाविष्ट है।

जौं चढ़ि समर पचारै कोऊ।
लरहिं सुखेन काल किन होऊ।। (मानस)

अभिप्रायौचित्य

अंतरजामी रामु सकुच सनेह कृपायतन। (मानस)

यहाँ अभिप्राय है कि राम सब की बात जानते हैं पर बड़ों से संकोच, मित्रों से स्नेह और छोटों पर कृपा करते हैं अतः किसी को कुछ कहते नहीं। इसी में औचित्य है।

स्वभावौचित्य

मोहि अतिसय प्रतीति जिय केरी।
जेहिं सपनेहुँ पर नारि न हेरी।। (मानस)

यह राम के स्वाभाविक चरित्र के अनुरूप है।

सार-संग्रहौचित्य : में कवि चुनाव करता है कि वर्ण्य विषय के विविध तथ्यों में से क्या काव्योपयोगी है, उसी को लें :

देखि सीय सोभा सुखु पावा।
हृदयँ सराहत बचनु न आवा।। (मानस)

राम के विशाल एवं उदात्त चरित्र के अनुरूप ही उनके प्रेम-चित्रण में कवि ने सार-संग्रह किया है।

प्रतिभौचित्य

तेहिं अंगद कहुँ लात उठाई।
गहि पद पटकेउ धरनि भ्रमाई।। (मानस)

जो पैर उठाया तत्क्षण उसी को पकड़ कर पटकने में अंगद की प्रतिभा का औचित्य लिया गया है।

अवस्थौचित्य

विनय प्रेम बस भई भवानी।
खसी माल मूरति मुसुकानी।। (मानस)

यहाँ माला के गिरने में सीता की प्रेम-विह्वलता और मुग्धता की अवस्था का औचित्य है।

विचारौचित्य

का बरषा सब कृषी सुखानें।
समय चुकें पुनि का पछितानें।। (मानस)

नामौचित्य : किसी के अनेक नामों में प्रसंगानुरूप किसी एक का चयन इस औचित्य का उदाहरण है :

श्रीखंड सम पावक प्रबेस कियौ सुमिरि प्रभु मैथिली। (मानस)

यहाँ अग्नि के 'पावक' नाम का औचित्य है क्योंकि अग्नि परीक्षा से सीता को पावन करने का उसी पर भार है। इसी प्रकार 'मैथिली' शब्द से वंशानुगत गरिमा की सूचना दी गयी है।

आशीर्वादौचित्य

अचल होउ अहिवात तुम्हारा।
जब लगि गंग जमुन जल धारा ।। (मानस)

अविच्छिन्न धाराओं की समानता की सूचना मिलती है कि सौभाग्य में कोई विक्षेप कभी न आए।

क्षेमेन्द्र औचित्य पर वल इसलिए ही नहीं देते कि उसके अभाव में दोष होते हैं, अपितु इसलिए भी कि उसके बिना काव्य की कल्पना ही नहीं हो सकती। यह कुछ क्षेमेन्द्र का ही मत नहीं है, अपितु सभी का इस विषय में ऐकमत्य है, अत: यह सर्वसम्मत है :

अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणास्तथा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थितं काव्यस्य जीवितम् ।। (औचित्य-विचार-चर्चा)

अर्थात् अलंकार और गुण औचित्य की सीमा में ही काव्यालंकार और काव्यगुण वनते हैं। हाथों में अच्छी-से अच्छी नथ अलंकार नहीं है और आँखों की विशालता भी गुण नहीं यदि मुख के परिमाण के अनुरूप न हो। अत: औचित्यमत कोई वाद नहीं है जैसा कि भ्रमवश समझ लिया जाता है। अलंकारों की योजना तो और भी औचित्य-सापेक्ष है—रस की अनुभूति में ही जो समाविष्ट हो जाय और जिसके लिए कवि को पृथक् सयत्न न होना पड़े, वही ध्वनिकाव्य का अलंकार हो सकता है।[17] अत: औचित्य ही चमत्कारी और रस का प्राण है।[18] कुन्तक ने यही बात शब्दालंकारों के लिए कही है कि वर्णों की सवर्णता ला देने भर से कुछ नहीं होता, वर्ण्य वस्तु के औचित्य का पालन होना चाहिए।[19]

भक्तिरस-सिद्धान्त

भक्तिरस की स्थापना का शास्त्रीय उपक्रम मध्यकाल में वैष्णव-भक्ति के आन्दोलन के साथ हुआ, परन्तु उसके बीज मुख्य रूप से भागवत पुराण में मिलते हैं जिसके प्रथम अध्याय में भागवत-रस-पान और उससे मिलने वाले लय का वर्णन किया गया है :

पिवत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुका:।

यहाँ भावुक रसिकों को सम्वोधित किया गया है जिससे स्पष्ट है कि भक्तिरस के विशिष्ट रसिकों के समाज में भक्तिकाव्य की महिमा मान्य रहती है, रसरूप में वह विश्वजनीन नहीं हो सकता। कोई भी रससिद्ध काव्य विश्वजन के प्रयोजन से होकर भी रसिक-सापेक्ष ही होता है, यह शास्त्रीय बहुमान का विषय रहा है। भक्ति अपने-आप में आध्यात्मिक अभ्यास और उपलब्धि की वस्तु है, पर रसरूप में उसे मध्यकाल में भी परम्परागत विद्वत्समाज ने मान्यता नहीं दी। पण्डितराज

ने दशम रस के रूप में उस पर विचार किया और भावकाव्य में ही परम्परा के अनुसार रख कर उसे व्यर्थ-सा घोषित कर दिया। यह विचित्र बात रही कि किसी भक्तिरसवादी ने दशम रस के रूप में भक्ति-रस को मान्यता दिलाने का आग्रह कभी नहीं किया, तब दशम रस वाली चर्चा ही क्यों उठी ?

भक्ति यदि रस है, जैसा कि उसे शास्त्रीय रूप मिला, तो उसे सहृदय-सापेक्ष होना ही चाहिए। रसिक ही रस-सत्ता के प्रमाण होते हैं। जो भक्तिरसिक नहीं हैं, उन्हें न प्रमाण माना जा सकता है और न ही उनके लिए भक्तिकाव्य की रचना होती है। भक्तिकाव्य के रसिकों के लिए वह दशम रस न होकर एकमात्र लोकोत्तर रस है जिसमें अलौकिक आराध्य को विभाव बनाया जाता है। लौकिक विषयों की वासना वाले रस एक प्रकार के रसाभास हैं जिनमें विषयों की कटुता का पूर्ण परित्याग नहीं हो सकता, अतः परम्परा-प्राप्त शृङ्गारादि लौकिक रस हैं। गोस्वामी जी ने कहा है :

बिनु हरिभजन इँदारुन के फल तजत नहीं करुआई।

यह एक और विचित्र बात है कि वैदिक मन्त्र ही पहले काव्य कहे जाते थे जिनमें यजनीय और उपासनीय देव की स्तुति होती थी जिन्हें भक्तिकाव्य की परम्परा के साथ ही जोड़ा जाय तो अटपटा नहीं लगता, परन्तु भक्तिरस की स्थापना की बात मध्यकाल से पूर्व शास्त्रीय आयामों में महत्त्व नहीं ले सकी। इसका प्रमुख कारण भरत की रसचिन्तन-परम्परा है जिसमें काव्य-चमत्कार को अलौकिक मान कर भी लोक से जोड़े रखा गया और रसिक की वासना को सर्वोपरि मान कर रसचर्वण की व्याख्या की गयी। इस दृष्टि से ध्वनिसिद्धान्त भक्तिरस का निसर्ग-विरोधी है जिसमें अधिक बल देकर रतिभावकाव्य की स्थापना की गयी और लौकिक दाम्पत्य-रति से भिन्न सभी रतियों को भावकाव्य में लिया गया। दूसरा कारण भक्ति का ब्रह्मविद्या के साथ जुड़ा रहना था जिससे वह लोक-जीवन से संगति नहीं ले सकी कि उस लोकोत्तर भावना के आस्वाद की सहृदय-सापेक्ष चर्चा उठती और दार्शनिक आयामों में उसे शास्त्र-समञ्जस स्वरूप दिया जाता। तीसरा कारण यह था कि पुराणों को छोड़ कर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में भक्तिकाव्यधारा का प्रायः अभाव रहा। ईश्वरीय आलम्बन को भी लौकिक वासना से ही आस्वाद की भूमि पर लाया गया। इसी भूमि पर भक्तिरस स्थापित हुआ।

दक्षिण के आड़वार भक्तों को यह यश मिलता है कि उन्होंने वैष्णव भक्ति गीतों की पुष्कल रचना कर लोक में लोकोत्तर भावना की गङ्गा प्रवाहित की। इन्हीं भक्तों में यामुनाचार्य का नाम आता है जिन्होंने शंकर के अद्वैत के स्थान पर विशिष्टाद्वैत का सिद्धान्त पुरस्कृत कर आचार्य रामानुज को प्रेरणा दी। मध्व का द्वैतवाद, निम्बार्क का द्वैताद्वैतमत, चैतन्य का अचिन्त्यभेदाभेद और वल्लभ का

शुद्धाद्वैतवाद उक्त परम्परा से जुड़े हुए देखे जा सकते हैं और सभी का प्ररणा-स्रोत भागवत है। आचार्य रामानन्द ने भागवत की कृष्णभक्ति से हट कर राम-भक्ति को सिद्धान्तित किया जिसकी धारा में कबीर और तुलसीदास को देखा जा सकता है। चैतन्य को थोड़ा अलग रखकर देखा जाना चाहिए क्योंकि वे वङ्गदेशीय थे। उस ओर जयदेव का गीतगोविन्द और विद्यापति के राधाकृष्ण सम्बन्धी पद बड़े महत्त्व के हैं। मध्यकाल एक विशेष रसावेश में जी रहा था जब समूचे भारत में उपासनागीतों और लीला-काव्यों की मुक्तक रचना की बाढ़ आ गयी थी।'

साहित्य की लोकभूमि पर अलौकिक तत्त्व काव्य के सोपानों से अवतीर्ण हुआ और साहित्य भी इतना बना कि सारी पूर्वागत रस-चिन्तन-परम्परा को चुनौती दे उठा। यही वह आधारशिला है जिस पर भक्ति-रस-चिन्तन जो प्रतिष्ठित हुआ तो उसमें सभी रस कवलित हो गये। सर्वग्रासी साहित्यिक आन्दोलन ने सर्वातिशायी भक्तिरस को इस प्रकार स्थापित किया कि मधुसूदन सरस्वती जैसे अद्वैत-मनीषी को भी 'भक्तिरसायन' ग्रन्थ लिख कर उसे दार्शनिक समर्थन देना पड़ा।

परम्परागत रस सिद्धान्त में एक बात खटकती भी रही है। भावकाव्यों का विचार करते हुए देखा गया है कि स्थायी भावों में रति को ही भावकाव्य में लिया गया है: (1) जब व्यभिचारी भाव से भावकाव्य बनता है तब उसका आधार स्थायी भाव रहता है, फलस्वरूप चरम परिणति नौ रसों में किसी की होती है, परन्तु रति भाव व्यभिचारी होकर नहीं आता फिर भी भावकाव्य बनाता है, तब उसकी कोई रसात्मक परिणति नहीं होती। (2) शृङ्गारी रति को छोड़कर बड़ों, छोटों और समानों के प्रति होने वाली रतियाँ भावमात्र मान ली गयी हैं और देवरति को भी उसी वर्ग में डाल दिया गया है। भामह आदि ने उसे 'प्रेय' नाम से अलग वर्ग में रखा था, पर वैसा ध्वनिमत में पार्थक्य नहीं देखा जाता। (3) महत्त्वपूर्ण बात है कि रतिभावकाव्य के जो उदाहरण दिये गये, वे व्यभिचारी भावकाव्य की अपेक्षा में हीनतर देखे जाते हैं जिनमें लीनता की स्थिति नहीं देखी जाती। इसका कारण यही रहा है कि परम्परावादी विचारकों के समक्ष भक्तिकाव्य का प्राञ्जल एवं प्रचुर उदाहरण ही नहीं था। जो था वह पर्याप्त नहीं माना गया और भागवत को कदाचित् काव्य माना ही न गया। समस्या तब आती है जब ऐसा काव्य आता है जो तल्लीनता का चमत्कार तो देता है, पर बँधी लीक पर चल कर उसे व्याख्या देना असंभव हो जाता है। उदाहरणार्थ :

देख देख राधा रूप अपार।
अपुरव के विहि आनि मिलाओल खितितल लावनि सार॥

अंगहि अंग अनंग मुरुछाएत देखए पड़ए अथीर।
मनमथ कोटि मथन कर जे जन से हेरि महि मधि गीर।।

यहाँ राधा को कान्ता के रूप में साधारणीकृत करके कृष्ण से तादात्म्य लेने और अपनी रतिवासना का आस्वाद पाने हेतु भूल कोई परम्परावादी भारतीय कभी न करेगा, वह इससे बड़ी विडम्बना नहीं मानेगा कि इस पद के नायक और नायिका को लोक में उतार कर अपनी वासना का शृङ्गारी भोग करे। वह तो दोनों को न चाह कर भी किसी-न-किसी प्रकार आराध्य कोटि में लेगा और उनके वर्णित प्रणय को अपने प्रेम का आलम्बन बनायेगा। साधारणीकरण का समूचा प्रासाद यहाँ ढह जाता है और तब रसनिष्पत्ति की अन्य विधा खोजना अनिवार्य हो जाता है। ऐसा एक पद भी चुनौती है और जब वैसा साहित्य उस युग की कारयित्री प्रतिभा को ही निगीर्ण कर बैठा तब मनीषा को नव्य चिन्तन देना ही पड़ा, जो साहित्य-समीक्षा में अभिनव आरम्भ था।

राधा का राधात्व और कृष्ण का कृष्णत्व यथावस्थ रख कर ही रसनिष्पत्ति को व्याख्या देनी चाहिए। स्पष्ट है कि दोनों में एक को आश्रय और दूसरे को आलम्बन मान कर रसिक नहीं ले पाता। उसकी वासना दोनों के प्रति समान होती है। अपनी शृङ्गार-लीला में उनका आलम्बनत्व और आश्रयत्व रहे, पर रसिक की अपेक्षा में दोनों आलम्बन होकर भक्तिरस-वासना को ही व्यक्त करते हैं। जिन में वैसी वासना नहीं, उनके लिए वह काव्य नहीं है, या तो अकाव्य है या फिर कवि-हृदय से हटकर अपनी वासना के दमन की चर्वणा है जो रस तो नहीं ही है और कुछ हो तो हो। माता-पिता भी परस्पर प्रेमालम्बन और प्रेमाश्रय होते हैं पर पुत्र के लिए उनका प्रेम आराध्य है—यह पुत्र में स्थित दोनों के प्रति अलग प्रकार की प्रेम-वासना है जो दोनों के प्रेम का प्रेम है और जिसमें रसिक की दाम्पत्यमयी शृङ्गारी वासना की चर्वणा गर्हित है।

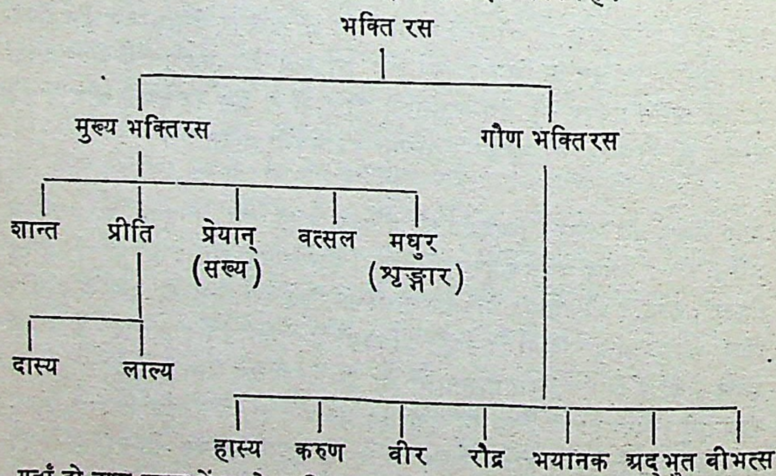
उक्त विषय को लेकर काव्यदर्शन की प्रतिष्ठा करते हुए मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति को न केवल पञ्चम पुरुषार्थ सिद्ध किया अपितु उसे परमपुरुषार्थ मान्य किया। उन्होंने नौ स्थायी भाववासनाओं का निर्धारण चित्त की द्रुति के आधार किया और स्थापित किया कि विविध विषयों के योग से चित्त में लाक्षा के समान द्रवण होता है जिससे चित्त वासनाओं का रंग ग्रहण कर लेता है, फलतः नौ ही वासनाएँ स्थायी होकर चित्त का अङ्ग बन जाती हैं।[20] ये ही स्थायी भाव काव्य के विभावादि से व्यक्त होकर रसत्व प्राप्त करते हैं।[21] यह लौकिक रसों की व्यवस्था है। भक्ति अलौकिक रस है, तदर्थ भक्त में चित्त की गोविन्दाकारता अपेक्षित होती है और वही भक्तिरति है।[22] भक्ति रति विभावादि द्वारा व्यक्त होकर रसरूप लेती है। व्यञ्जना की अवस्था में ही भक्ति का रसत्व रहता है,[23]

इससे स्पष्ट है कि भक्तिरससिद्धान्त में व्यञ्जना व्यापार उसी प्रकार मान्य है, जिस प्रकार कि ध्वनिमत में, केवल साधारणीकरण अनपेक्षित है।

यहाँ साधारणीकरण का इतना ही अर्थ बनता है कि जिसके प्रति भक्ति है, उसके सभी परिच्छद आलम्बनवर्ग में आते हैं और सभी भक्त-सामाजिक के लिए वे भक्ति के ही आलम्बन रहते हैं, और भक्तरसिक भक्तिरति की दृष्टि से एक ही अनुभूति लेते हैं। इस तथ्य को सरस्वतीजी ने इस प्रकार कहा है :

> द्रवीभाव-पूर्वक मन की परमेश्वराकारता भक्ति है जो सविकल्पक ज्ञान के क्षेत्र में आती है जबकि ब्रह्मविद्या निर्विकल्पक चित्तवृत्ति है जिसमें द्रवीभाव नहीं होता, अद्वैत आत्मविषयता रहती है···भगवान् के प्रति प्रेम-प्रकर्ष भक्ति का फल है, अज्ञाननिवृत्ति ब्रह्मविद्या का फल है।[24]

चैतन्य महाप्रभु के गौडीय सम्प्रदाय में उनकी शिष्य-परम्परा ने भक्ति और भक्तिरस के चिन्तन को विशेष शास्त्रीय रूप प्रदान किया। रूपगोस्वामी के 'भक्तिरसामृतसिन्धु' और 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थ इस दिशा में काव्य-विवेचना के अभिनव पथश्चिह्न हैं। भक्तिरसामृतसिन्धु भक्ति को अङ्गी रस मानकर शेष रसों को अङ्ग या संचारी रस मानकर विवेचन करता है। लौकिक रसों में सभी रस स्वतंत्र हो सकते हैं, परन्तु भक्तिकाव्य में अङ्गाङ्गिभाव की अनिवार्य स्थिति देखी जाती है। इस प्रकार भक्तिरस को दो वर्गों में विभक्त किया गया है : मुख्य भक्तिरस और गौण भक्तिरस। विभाग इस प्रकार हैं :



यहाँ दो तथ्य ध्यान में रखने चाहिए :

1. मुख्य भक्तिरस का स्थायी भक्तिरति है जो उपर्युक्त भेदों में विभक्त है।

2. भक्तिरति के अङ्ग होकर आने वाले हास, शोक, उत्साह, क्रोध, भय, बिस्मय और जुगुप्सा स्थायी भाव रति के संचारी होते हैं अत: गौण हैं।

मुख्य भक्तिरस

1. **शान्त भक्तिरस**: इसमें लीलारति नहीं देखी जाती, भक्त भगवान् के स्वरूप-दर्शन में रमता और संसार के प्रति वैराग्य (निर्वेद) देखा जाता है :

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।
ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झरि जैहें।।
... ...
बिन गोपाल कोऊ नहिं अपनो जस अपजस रहि जैहें।।

इस प्रकार शान्तरस यहाँ भक्तिरस में ही परिगणित है। ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी शान्त यहाँ ग्राह्य नहीं।

2. **(क) प्रीति भक्तिरस (दास्य)**: इसमें भक्त भगवान् का दास है।

कीजै प्रभु अपने बिरद की लाज।
महा पतित कबहूँ नहिं आयौ नेकु तिहारे काज।।
... ...
लीजै पार उतारि सूर को महाराज ब्रजराज।
नई न करन कहत प्रभु, तुम हौ सदा गरीब नेवाज।।

(ख) प्रीति भक्तिरस (लाल्य): इसमें भक्त अपने को भगवान् द्वारा लालन-पालन योग्य मानता हुआ सम्बन्ध बनाता है—भगवान् पिता आदि का स्थान रखते हैं और भक्त पुत्रादि का :

ज्यों बालक अपराध कोटि करै मातु न मानै तेइ।।
... ...
जद्यपि सूरज महापतित है, पतितपावन तुम तेइ।।

3. **प्रेय भक्तिरस (सख्य)**: इसमें भक्त और भगवान् में सख्यरति को रस-रूप मिलता है—दोनों एक-दूसरे के सखा होते हैं—जैसे : राम और सुग्रीव, कृष्ण और अर्जुन। लौकिक भक्तों के लिए यह वर्ग नहीं है।

सखा कहत हैं स्याम खिसाने।
आपुहि आपु ललकि भए ठाढ़े, अब तुम कहा रिसाने।

इत्यादि।

4. **वत्सल भक्तिरस (वात्सल्य)**: इसमें भक्त माता, पिता, आचार्य आदि के रूप में देखा जाता है और आराध्य पुत्र, शिष्य आदि होता है। यह वर्ग भी अलौकिक पात्रों के लिए ही है—जैसे, दशरथ, कौसल्या, वसुदेव, देवकी आदि।

चलत देखि जसुमति सुख पावै।
ठुमुकि-ठुमुकि धरनी पर रेंगत, जननी देखि दिखावै।

इत्यादि।

5. मधुर भक्तिरस (शृङ्गार या उज्ज्वल भक्तिरस) : इसे अत्यन्त गोपनीय कहा गया है। जीवगोस्वामी ने टीका में स्पष्ट किया है कि उक्त चार रतियों में काम-वासना का सम्पर्क न होने से कुछ विद्वान् उन्हीं को भक्ति कहते हैं। मधुर रस कामाभिभूत रहता है, अतः रसिक यदि काम का आस्वाद करने लगे तो भक्तिरस नहीं रहता। आराध्या और आराध्य के काममय प्रेम का इसमें चित्रण होता है। दोनों के साथ दूती आदि भी इसमें लोकोत्तर पात्र होते हैं जो आलम्बन वर्ग के हैं। ऋतु, वन, उपवन, एकान्त कुञ्ज आदि उद्दीपन हैं। कटाक्षादि अनुभाव हैं। मरण को छोड़ कर सभी व्यभिचारी होते हैं। दाम्पत्यप्रेममय मधुरा रति उन विभावादि से व्यक्त होती है। रसिक में जब उस रति का भक्तिमय आस्वाद होता है, तभी मधुर भक्तिरस कहा जाता है।

चितवनि रोके हू न रही।
स्यामसुंदर-सिन्धु-सनमुख सरित उमँगि वही ।।
प्रेम-सलिल-प्रबाह-भँवरनि मिलि न थाह लही।
लोल लहर कछाच्छ घूंघट पट करार ढही ।।
थके पल पथि नाव धीरज परत नहिन गही।
मिली सूर सुभाव स्यामहि फेरे हूँ न चही ।।

यहाँ भक्ति-रसिक के लिए गोपी और कृष्ण दोनों आलम्बन हैं। दोनों के प्रति भक्तिरति आस्वादित हो तभी भक्तिरस है।

गौण भक्तिरस

1. हास्य भक्तिरस

बिंध्य के बासी उदासी तपोव्रत
धारी महा बिनु नारी दुखारें।
गौतम तोयतरी तुलसी
सो कथा सुनि भे मुनिबृंद सुखारे।
ह्वै हैं सिला सब चंदमुखी
परसे पग मंजुल कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू
करुना करि कानन को पगु धारे ।। (कवितावली)

2. वीर भक्तिरस

गूलरि फल समान तव लंका ।
बसहु मध्य तुम्ह जंतु ग्रसंका ।।
मैं बानर फल खात न बारा ।
ग्रायसु दीन्ह न राम उदारा ।। (मानस)

3. ग्रद्भुत भक्तिरस

पद बिनु चलइ सुनइ बिनु काना ।
कर बिनु करम करइ बिधि नाना ।।
ग्रानन रहित सकल रस भोगी ।
बिनु बानी बकता बड़ जोगी ।। (मानस)

4. करुण भक्तिरस

राउ सुनाइ दीन्ह बनबासू ।
सो सुनि भयउ न हरषु हरासू ।।
सो सुत बिछुरत गए न प्राना ।
को पापी जड़ मोहि समाना ।। (मानस)

5. रौद्र भक्तिरस

लछिमन बान सरासन ग्रानू ।
सोषौं बारिधि बिसिख कृसानू ।। (मानस)

6. भयानक भक्तिरस

जरइ नगर भा लोग बिहाला ।
झपट लपट बहु कोटि कराला ।।
तात मातु हा करिग्र पुकारा ।
एहि ग्रवसर को हमहि उबारा ।। (मानस)

7. बीभत्स भक्तिरस

मज्जहिं भूत पिसाच बेताला ।
प्रमथ महा झोटिंग कराला ।।
काक कंक लै भुजा उड़ाहीं ।
एकते छीनि एक लै खाहीं ।। (मानस)

ये गौण भक्तिरस तभी भक्ति की सीमा में ग्राते हैं जब इनका ग्रास्वाद सहृदय की भक्तिरति के ग्राधार पर हो। स्वतन्त्र ग्रास्वाद होने पर वे भक्तिरस

के वर्ग में न होंगे। इसी प्रकार शुद्ध रति जहाँ भक्ति से बाह्य होगी वहाँ मुख्य भक्तिरस की सत्ता न होगी। मुख्य भक्तिरस के पाँच वर्गों में प्रथम दो वर्ग ही सामान्य भक्तों की भक्तियाँ हैं, शेष तीन आराध्य के साथ के लोगों में देखे जाते हैं। सभी वैष्णव दर्शनों में जीव ईश्वर का दास ही होता है, वह पिता, सखा या कान्ता के रूप में आराधक नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में बाद की तीन रतियों का आस्वाद भी दास्य-सीमा में ही हो सकता है।

यह प्रवादमात्र है कि सूर सख्य भाव के भक्त थे। वैसा सूर ने कहीं नहीं माना। वे अपनी ओर से दासभाव का आत्मनिवेदन ही करते देखे जाते हैं। कृष्ण के सखाओं का चित्रण करने से सूर की भक्ति को सख्य नहीं माना जा सकता। कुछ भी हो, भक्तिरस की रसिकता, उसकी रस निष्पत्ति आदि परम्परा से हट कर चिन्तन को नव्य आयाम देने में सफल रही। रसव्यञ्जना का सिद्धान्त यहाँ भी मान्य है अतः ध्वनिमत का ही यह नया विकास या प्रकार है।

संदर्भ

1. 'काव्यप्रकाश'(मम्मट)—उल्लास, 1, अभिधा-विचार; 'काव्य-प्रदीप', (गोविन्द ठक्कुर), अभिधाविचार; 'मीमांसा-कोप', तात्पर्य विचार; 'ध्वनिसिद्धान्त तथा तुलनीय साहित्य-चिन्तन' (डा० बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'), पृ० 84.
2. उक्त सन्दर्भ के साथ 'काव्यप्रकाश', उल्लास 5; 'काव्यप्रदीप', उल्लास 5, 'मीमांसाकोप', अनूद्य और विधेय, तथा 'ध्वनि० तुल० साहित्य', पृ० 481-83.
3. आधुनिक रूसी भाषाविद् एल० एस० विगोत्स्की ने इसे अर्थविज्ञान एवं मनोभाषिकी में महत्त्व देकर विचारणीय ठहराया है। उनके लेख का शीर्षक है 'थाट् एण्ड स्पीच्' जो 'साइकोलिंग्विस्टिक्स्' ग्रन्थ (पृ० 509-537) में संकलित है। इस विषय पर लेखक के स्पष्ट विचार पृ० 515-517 पर दृष्टव्य हैं। विगोत्स्की के अनुसार व्यावहारिक उद्देश्य-विधेय व्याकरणिक या ग्रेमेटिकल है जबकि अर्थ उद्देश्यविधेय मनोभाषिक विधेय या साइकोलोजिकल प्रेडीकेट् है।
4. 'दशरूपक', वृत्ति 4/37.
5. 'तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जनीयस्य न ध्वनिः।
किमुक्तं स्यादश्रुतार्थ-तात्पर्येऽन्योक्ति-रूपिणि ॥1॥
विषं भक्षय पूर्वो यश्चैवं परसुतादिषु।
प्रसज्यते प्रधानत्वाद् ध्वनित्वं केन वार्यते ॥2॥
ध्वनिश्चेत् स्वार्थविश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम्।
तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ, तन्न विश्रान्त्यसंभवात् ॥3॥

एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किंकृतम् ।
यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाघृतम् ॥4॥
भ्रम धार्मिक विस्रब्धमिति भ्रमि-कृतास्पदम् ।
निर्व्यावृत्ति कथं वाक्यं निषेधमुपसर्पति ॥5॥
प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरपेक्षा-पूरणाद् यदि ।
वक्तुर्विवक्षितांप्राप्तेरविश्रान्तिर्न वा कथम् ॥6॥
पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षा-परतन्त्रता ।
वक्त्रभिप्रेत-तात्पर्यमत: काव्यस्य युज्यते ॥7॥'—वही.

6. 'रस स एव स्वाद्यत्वाद् रसिकस्यैव वर्तनात् ।
नानुकार्यस्य वृत्तत्वात् काव्यस्याततपरत्वत: ॥
द्रष्टु: प्रतीतिव्रीडेर्ष्या-राग-द्वेष-प्रसंगत: ।
लौकिकस्य स्वरमणी-संयुक्तस्येव दर्शनात् ॥'—वही, 4/38-39.
7. वही, 4/41-42.
8. वही, 4/43-44.
9. 'वक्रोक्तिजीवित', 1/53-56.
10. 'व्यक्तिविवेक', पृ० 125-26.
11. वही, पृ० 123-24.
12. 'अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वने: प्रकाशयितुम् ।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा पुरां वाचम् ॥'—वही, आरम्भिक कथ्य.
13. 'मम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण ।
गोला-नई-निकुडंग-वासिणा दरिअ-सीहेण ॥'—'काव्यप्रकाश', उल्लास 5, अन्तिम भाग.
14. 'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्य-बन्धस्तु रसस्योनिषद् परा ॥'—'ध्वन्यालोक', 3/14.
15. वही, 3/6-9; 32-33.
16. 'व्यक्तिविवेक', पृ० 126, 152.
17. 'ध्वन्यालोक', 2/17.
18. 'औचित्यविचारचर्चा', 3.
19. 'वक्रोक्तिजीवित', 2/2.
20. 'भक्तिरसायन', 2/-124.
21. 'यावत्यो द्रुतयश्चित्ते भावास्तावन्त एव हि ।
स्थायिनो, रसतां यान्ति विभावादि-समाश्रयात् ॥'—वही, 2/26.
22. 'द्रुते चित्ते प्रविष्टा या गोविन्दाकारता स्थिरा ।
सा भक्तिरित्यभिहिता ... ... ॥'—वही, 2/1.
23. 'विभावैरनुभावैश्च व्यभिचारिभिरप्युत ।
स्थायिभाव: सुखत्वेन व्यज्यमानो रस:स्मृत: ॥'—वही, 3/2.
24. वही, 2/9-11.

पाश्चात्य काव्यचिन्तन और ध्वनिसिद्धान्त

पाश्चात्य काव्यचिन्तन से हमारा तात्पर्य उस धारा से होता है जो पुराकाल में ग्रीक से रोम तक और फिर जर्मनी, फ्रांस और ब्रिटेन में तथा आगे बढ़कर अमरीका तक प्रवहमान देखी जाती है, अपि च जिसका ज्ञान सामान्यत: हमें अंगरेजी के माध्यम से है। निश्चय ही यह चिन्तनधारा अपने-आप में स्वतंत्र है, अत: भारतीय धारा के साथ उसका कहीं कोई संगम सोचना भी अनर्गल है। फिर भी सौ सयानों का कहीं-न-कहीं एकमत होना असंभव नहीं है, कुछ बातें ऐसी कही जा सकती हैं जिन्हें लेकर तुलना की जा सके और ऐकमत्य की खोज हो सके। इस अध्याय में यही विचारणीय है। इसमें कुछ ही महान् विचारकों का समावेश किया जा रहा है।

प्लेटो

प्लातूँ का अंगरेजी उच्चारण प्लेटो है और फारसी में अफलातून करके जाना जाता है—जिसे बहुत विद्वान् मानते हैं उसे अफलातून विशेषण दिया जाता है, इससे इस विचारक का महत्त्व सामने आता है। प्राय: 350 ई० पू० में उसके चिन्तन का यूनान में एकच्छत्र प्रभुत्व था। प्लेटो के दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ यहाँ उल्लेखनीय हैं: रिपब्लिक और लाज्। मूलत: इनमें राजनीति और अर्थनीति का सामयिक विवेचन है, परन्तु उसी में दार्शनिक सिद्धान्त अनुस्यूत हैं क्योंकि प्लेटो के विचार से राजा को दार्शनिक होना चाहिए। राज्य में कवियों का क्या स्थान हो? इस पर प्लेटो ने सतर्क विचार किया और पाया कि काव्य द्वारा मनुष्य जैसे तार्किक प्राणी को तर्क-बुद्धि-शून्य बनाकर कवि लोग पथभ्रष्ट करते हैं तथा असत् तथ्यों में भटका कर मनोविनोद देते हैं जो राज्य संस्था के लिए अवाञ्छित है, अत: कवियों को राजतन्त्र में कोई स्थान नहीं मिल सकता। जगत् अपने में 'अनुकृति' है और कवि जगत् की अनुकृति कर काव्य बनाता है, अत: काव्य सर्वथा मिथ्या है। इसके अतिरिक्त 'अनुकृति' कभी पूर्ण नहीं हो सकती, अत: काव्य तथ्यों की अधूरी अनुकृति होने से त्याज्य ही है। प्लेटो के सामने रामायण-महाभारत जैसे काव्य नहीं थे जिनमें जीवन अपनी समग्रता

में शिक्षाप्रद होकर उभरा है, नहीं तो वे वैसी एकान्त धारणा न बनाते। विषय-वासनाओं को उत्तेजित करने वाले काव्य तो त्याज्य होंगे ही क्योंकि वे जीवन-रस निचोड़ लेते हैं, पर बदले में देते कुछ नहीं। अनुकरण में कवि-शिक्षा की अपेक्षा है, कवि अनर्गल रूप से स्वच्छन्द नहीं किया जा सकता।[1]

रसनिष्पत्ति के प्रकरण में देखा जा चुका है कि शंकुक वर्ण्य पात्र को अनुकार्य मान कर अनुकारक (नट या कवि) द्वारा उसकी व्यवस्था देते हैं जो तर्कसम्मत नहीं। ध्वनिमत लोक-व्यवहार का अनुकरण मानता है। यही प्लेटो की भी स्थापना है कि त्रासदी में मनुष्यों का नहीं, प्रत्युत कार्यकलापों का अनुकरण होता है—वह किसी विशिष्ट गुण का नहीं, विशिष्ट प्रकार का अनुकरण है जिसमें सुख और दुःख लोक-व्यवहार से अनुकृत होते हैं। इस प्रकार उपस्थापित वस्तु का भाषा, लय, गेयता आदि द्वारा अभिमूर्तन होता है।[2]

अरस्तू

प्लेटो को अरस्तू जैसा शिष्य मिला जिसने काव्य, विशेषतः नाट्य पर विविक्त चिन्तन प्रस्तुत किया और विरेचन-सिद्धान्त की स्थापना के साथ अनुकृतिवाद को नया परिप्रेक्ष्य दिया। उन्होंने अनुकृति के साथ साधारणीकरण (युनिवर्सलिटी) को जोड़कर भट्टतौत एवम् अभिनवगुप्त जैसे ध्वनिवादियों का मार्ग अपनाया और कहा :

> काव्य इतिहास की अपेक्षा में दार्शनिक तथा उच्चतर रचना है। इतिहास की प्रवृत्ति विशेषपरक और काव्य की सामान्यपरक होती है। सामान्य से तात्पर्य है कि विशिष्ट प्रकार (टाइप) का कोई व्यक्ति विशेष परिस्थितियों में कैसा कह या कर सकता है। इसमें संभावना (प्रोबैबिलिटी) और अनिवार्यता (नेसेसिटी) का विधान लागू होता है। व्यक्ति वहाँ नाम से ही होता है, परन्तु उसमें साधारणीकृति अनुस्यूत रहती है और काव्य का वही लक्ष्य रहता है।[3]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि अरस्तू अनुकृति का वह अर्थ नहीं लेते जैसा भट्टशंकुक ने व्यक्ति को अनुकार्य मान कर लिया, प्रत्युत वे सामान्य को अनुकार्य मानते हैं जिसमें व्यावहारिक संभाव्यताएँ अनुकृत होती हैं—भरत की अनुकृति से ध्वनिमत में यही अर्थ लिया जाता है।[4] वस्तुतः अनुकरण यथार्थ प्रत्ययों की रचना है। प्रत्येक व्यक्ति में वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक-प्रत्यय के तत्त्व रहते हैं। लोक-व्यवहार में उतनी पूर्णता नहीं होती जितनी प्रत्ययात्मक अनुकृति में होती है।[5]

प्लेटो की सुनिश्चित धारणा थी कि जिन वृत्तियों को या वासनाओं को बुभुक्षित रखते हुए निर्बल बना देना चाहिए, काव्य उन्हें तुष्टि देता है। इसके

विपरीत अरस्तू की स्थापना है कि उन्हें दबाना या मारना वाञ्छित नहीं, प्रत्युत आनन्दात्मक विश्रान्ति द्वारा उन वासनाओं में सन्तुलन लाना उचित है और यही काव्य की देन है।[6] मूल प्रवृत्तियों की तुष्टि लोक-जीवन में भी होती है, पर काव्य और नाट्य से वह तुष्टि सर्वथा निरातङ्क एवं सुखात्मक हो कर सर्वथा हानिरहित हो जाती है।[7] यही अरस्तू का विरेचन है जिसमें वे वैयक्तिक भावनाओं का भोग द्वारा निरसन चाहते हैं। ध्वनिमत में देखा जा चुका है कि काव्य द्वारा व्यक्त वासना निर्वैयक्तिक होती है, अत: आस्वाद तो होता है पर उसके निरसन या विरेचन का प्रश्न नहीं उठता। ध्वनिमत में विरेचन तो विघ्नों का होता है, वासना का नहीं और वासना की निर्विघ्न प्रतीति ही रस है।[8]

बूचर ने अरस्तू के विरेचन की व्याख्या करते हुए बताया है कि ट्रेजेडी का भय लोक-सामान्य न होकर एक काल्पनिक मिलन है जो दूसरे के जीवन के साथ हो जाता है जिससे दर्शक अपने आप से ऊपर उठ जाता है। वह ट्रेजिक दु:ख-भोक्ता के साथ एकाकारता पा लेता है और अन्तत: समस्त मानवता से उसका तादात्म्य हो जाता है।[9] यह निरूपण कुछ विपरीत लगता है—ध्वनिमत के अनुसार प्रमाता साधारणीकृत पहले होता है जिससे द्रष्टा का व्यक्तित्व तिरोहित हो जाता है, पात्र भी निर्वैयक्तिक होता है और तभी तादात्म्य या एकाकारता की संभावना बन सकती है, उसके पूर्व तो व्यक्ति का ही व्यक्ति से तादात्म्य होगा जो रस-विघ्न है।

अरस्तू की मान्यता है कि सहृदय भावाविष्ट पात्र के ही भावावेश में तन्मयता प्राप्त करता है, उदाहरणार्थ : जो वस्तुत: क्रुद्ध पात्र दिखते हैं, उन्हीं के क्रोध में उसका योग होता है।[10] इस धारणा पर ध्वनिसिद्धान्त की ओर से प्रश्न उठाया जा सकता है : पात्र से रामादि अनुकार्य को लिया जाय तो वे न वहाँ होते हैं और न किसी आवेश में देखे जाते हैं। यदि नट या कवि (अनुकारक) को लिया जाय तो भी वहाँ कोई भावावेश नहीं होता, कोरा अभिनय रहता है। अत: 'पात्र' कहना संगत नहीं लगता, वह तो साधारणीकृत क्रोध का प्रदर्शनकारी भर है जिसके वैयक्तिक क्रोधावेश की चर्चा ही भ्रामक है। भारतीय दृष्टि से पात्र वह साधन है जिसमें रस-सामग्री देखी जाती है, परन्तु भावग्रहण का उस से कोई सम्बन्ध नहीं, वह तो रससामग्री से व्यक्त (या अनुमित) होने वाला तत्त्व है। अंगरेजी का 'ऐक्टर' शब्द भी ऐसा ही है जिसमें केवल अभिनय रहता है, भाव नहीं, भावग्रहण रसिक का भाग है।

मम्मट के अनुसार काव्य के दो महत्त्वपूर्ण प्रयोजन हैं :
(1) सद्य:परनिर्वृत्ति या तत्क्षण परमानन्द की प्राप्ति और (2) कान्ता-संमित उपदेश जिसके अनुसार सहृदय को शिक्षा मिलती है कि रामादि के समान आचारशील होना चाहिए रावणादि के समान नहीं। ये दोनों परस्पर-निरपेक्ष

प्रयोजन हैं। यह आवश्यक नहीं कि काव्य से मिलने वाला उपदेश सभी सहृदयों की जीवनचर्या में समाविष्ट ही हो जाता हो, यद्यपि काव्य का यह प्रदेय सामाजिक चरित्रनिर्माण में सहायक होता ही है। प्रथम प्रयोजन सभी सहृदयों का भाग है। यही तथ्य अरस्तू के अनुसार भी मान्य है—उनके अनुसार काव्य का प्रभाव अनुभूति पर होता है, संकल्प पर नहीं। धर्म की कुछ बाधाओं का निराकरण भले ही काव्य से हो सकता है, पर मानवीय स्वभाव बदलना काव्य का कार्य नहीं। तदनुसार सौन्दर्यानुभूति की उपलब्धि ही परम प्रयोजन है।[11]

डेमेट्रियस

प्राचीन ग्रीक विचारकों में डेमेट्रियस शैलीपरक विचारक हैं। उनकी शैली को भारतीय रीति से पृथक् करके लेना चाहिए। काव्य में रीति को शब्दयोजना या (वामन आदि के अनुसार) शब्दार्थयोजना माना गया है जिसमें रचना की मुखरता पायी जाती है, रचयिता के व्यक्तित्व का समावेश नहीं खोजा जाता। इसके विपरीत शैली कवि या रचनाकार के शील से सम्बन्ध रखती है: 'शीले भवा, शीलादागता, शीले जाता वा शैली'। कवि की अपेक्षा काव्य पर अधिक बल देने के कारण भारत में शैली तत्त्व पर विचार कम ही हुआ है, कुन्तक ने 'मार्ग' नाम से जो विचार किया है, उसमें रीति-तत्त्वों के साथ शैली का योग कुछ-कुछ देखा जा सकता है। डेमेट्रियस शैली की बात करते हैं और उसका सम्बन्ध देश-काल तथा कवि-स्वभाव से मानते हैं। प्राचीन कवियों की शैली में मसृणता (पालिश) और संश्लिष्टता प्रधान थी, सरलता और सुबोधता उसके गुण थे जबकि अर्वाचीन लेखकों की शैली उदात्त (सब्लाइम्) और सुव्यवस्थित (अक्योरेट) होती है।[12]

भारतीय परम्परा में शैली का स्वरूप सामने लाया जाय तो स्पष्ट होगा कि गुण, अलंकार, दोषाभाव, औचित्य, छन्द—ये सभी शैली के घटक हैं। इन सबको रचयिता की दृष्टि से लें तो शैली का आत्मनिष्ठ रूप बनता है और रचना में उसका वस्तुगत रूप उभरता है। इस प्रकार कवि अपने को काव्य के कथ्य से एकीभूत देखा जाता है, अन्यथा शैली अग्राह्य होती है।[13]

डेमेट्रियस शैली के चार प्रकार मानते हैं: सरल (प्लेन), वर्णनात्मक (स्टेट्ली), मसृण (पालिश्ड) और ओजस्वी (पावरफुल)। इनमें मसृण और सरल शैलियाँ मिश्ररूप लेती हैं, जिसे भारतीय वैदर्भी रीति मान सकते हैं और कुन्तक के सुकुमारमार्ग के समकक्ष कह सकते हैं। ओजस्वी और वर्णनात्मक का मिश्ररूप गौडी रीति अथवा विचित्रमार्ग कहा जा सकता है। कभी-कभी सभी का मिश्रण देखा जाता है जिसे पाञ्चाली रीति या मिश्र मार्ग कह सकते हैं।[14]

ध्वनि में रसानुसार रीति को ग्राह्य माना जाता है और डेमेट्रियस संवेगों के अनुसार शैली को स्थापित करते हैं।[15] अलंकारों के औचित्य पर डेमेट्रियस का

विशेष पक्षपात है जो ध्वनिमत के अनुसार ही है।[16] कथ्य का अपना एक व्यक्तित्व बन जाता है जिसके अनुरूप शैली का महत्त्व होता है—कवि का शील इसी में देखा जाता है कि उसने प्रतिपाद्य क्या चुना है और उसके निर्वाह हेतु उसने शब्दार्थयोजना कैसी अपनायी है। ध्वनिसिद्धान्त व्यञ्जना शब्दव्यापार को महत्त्व देता है और डेमेट्रियस भी व्यङ्ग्य (सजेस्टेड) विचार को गौरव देते हैं। प्रकारान्तर से ध्वनिमत का ही वहाँ समर्थन है।[17]

लांजिनस्

उदात्त तत्त्व को काव्य का सर्वस्व घोषित करने वाले लांजिनस् का ग्रीक विचारकों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे इस पर 'सब्लाइम्' नाम से विचार करते हैं जिसका अनुवाद 'उदात्त' शब्द से किया गया है। उद् (ऊर्ध्व) + आत्त (गृहीत) शब्दों से इसकी निष्पत्ति है, अर्थात् सामान्य से ऊपर उठा हुआ अर्थ 'उदात्त' है। संस्कृत में उदात्त नाम से एक अलंकार भी है जिसमें वर्ण्य वस्तु की सम्पन्नता अथवा महिमा की व्यञ्जना या वर्णना होती है।[18] उसी को विस्तृत अर्थ देकर लांजिनस् के सिद्धान्त को उदात्तमत कहा जाने लगा है। वर्ण्य वस्तु की वर्णन-शैली को उदात्त मानने का आग्रह लांजिनस् की विशेषता है। भाषा पर उनका विशेष बल है।[19] इस उदात्तता के परिपोषक पाँच अङ्ग लांजिनस् को मान्य हैं: (1) विचार की गरिमा, (2) शक्तिशाली तथा हृद्य भावनाओं का समायोजन, (3) अलंकारों का समुचित निर्वाह, (4) संतुलित शब्दार्थ योजना द्वारा उत्कृष्ट अभिव्यक्ति और (5) सम्पूर्ण रचना का उत्कर्ष। ध्वनिमत में इन्हें शैली का घटक माना जायगा।

लांजिनस् का विश्वास है कि भाव का अकृत्रिम प्रकाशन ही उदात्तता का रहस्य है जिससे दिव्य प्रेरणा के साथ लालित्यपूर्ण उन्माद का आस्वाद होता है।[20] आनन्दवर्धन प्रतीयमान अर्थ के विषय में यही कुछ कहते हैं: महाकवियों की वाणी आस्वादमय व्यङ्ग्य वस्तु का निःस्पन्दन कर लोकोत्तर प्रतिभा का स्फुरण प्रस्तुत करती है।[21]

अलंकार योजना के विषय में ध्वनिमत और उदात्तमत का विलक्षण सामञ्जस्य देखा जाता है। अन्तर इतना ही है कि लांजिनम् उदात्तता से अलंकारों की महिमा मानते हैं जबकि आनन्दवर्धन व्यङ्ग्यार्थ की आभा से उनका उत्कर्ष स्वीकार करते हैं।[22] कवि रस से इतना प्रतिबद्ध हो कि अलंकार स्वतः बन जाय, उसके लिए पृथक् यत्न न करना पड़े, यही ध्वनि सम्मत अलंकार का गौरव है। लांजिनस् भी मानते हैं कि अलंकार अलग से सहृदय को ज्ञात ही न हो सके, तभी वह अलंकार है।[23]

कालरिज्

19वीं शताब्दी के पाश्चात्य काव्य-मनीषियों में कालरिज् को विवादपूर्ण अवधारणाओं के कारण महत्त्व मिला। विज्ञान और अध्यात्म के मिश्रण से जो काव्य-विवेचन उन्होंने प्रस्तुत किया, उस पर क्रिश्चियन् मान्यताओं की छाप मिलती है। युग-परिवेश में यह मिश्रण सर्वात्मना स्वागतयोग्य होना चाहिए था, पर विचारकों की पूर्ण सहमति नहीं देखी जाती। यहाँ विवाद न उठा कर केवल उन तथ्यों को सामने लाना है जो कालरिज् को ध्वनि के निकट ला सकते हैं। दोनों धाराएँ देश-काल का भेद रख कर भी कहीं-न-कहीं संगम लेती देखी जा सकती हैं जो एक आश्चर्य है और इसे कालरिज् की प्रतिभा का निदर्शन कहा जायगा जिसके बल पर वे उपेक्षणीय नहीं हो सकते।

कालरिज और व्यञ्जना : कालरिज् ने व्यञ्जना जैसे किसी शब्द-व्यापार पर यथावत् विचार नहीं किया है, परन्तु उन्होंने ज्ञान के स्वरूप को ज्ञाताज्ञात मानते हुए कहा है कि भाषा-सिद्धान्त यही है कि शब्द-व्यापार विचारों और वस्तुओं के ज्ञान को अपूर्णरूप में ही उद्घाटित करते हैं।[24] कालरिज् ध्वनि के अनुसार ही स्थापित करते हैं कि वर्ण्य के साथ रसिक की एकाकारता ही काव्य-बोध है।[25] शब्दों से व्यक्त बिम्बों पर ही रसानुभूति प्रतिष्ठित है, इसे कालरिज् कल्पना को परिभाषित करते हुए कहते हैं :

> यह सब एक अलौकिक अनुभूति है जो साधारणीकृत रूप में उदय लेती है···यह कल्पना की जीवनपूर्ण वस्तु है जो समरसता शक्ति की उपज है। यह कल्पना तर्कणीय तथ्यों को अनुभवनीय बिम्बों में गुम्फित करती है, समन्वित बनाती है, प्रतीकों को व्यवस्थित कर उन्हें समरस करती है···यह रूपकतत्त्व है जो भावतत्त्व को चित्रमयी भाषा में अनूदित करता है···ये प्रतीक सत्य को व्यक्त कर अनुभवनीय रूप देते हैं।[26]

> इस अखण्डता की अभिव्यक्ति भाषा की रूपगत और अलंकृत धारावाहिकता में होती है। रूप और अलंकार भावक्षोभण से उद्भव पाते हैं···वहाँ हमारे (वैयक्तिक) भाव आनन्द के निमित्त बन जाते हैं, उनकी यथेच्छता समाप्त हो जाती है।[27]

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि कालरिज् यदि भारतीय विचारक होता तो व्यञ्जना की चर्चा अवश्य करता। यहाँ आनन्दवर्धन को उद्धृत किया जा सकता है :

> तद्वत् सचेतसां सोर्थो वाच्यार्थ-विमुखात्मनाम्।
> बुद्धौ तत्त्वार्थ-दर्शिन्यां झटित्येवावभासते ।। ('ध्वन्यालोक', 1/12)

अर्थात् सहृदयों की बुद्धि उस तात्त्विक व्यङ्ग्यार्थ की प्रतिभा से सम्पन्न होती है

और वे वाच्यार्थ से विमुख रहते हैं। उनकी बुद्धि में व्यङ्ग्यार्थ तत्क्षण भासित हो जाता है।

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवत्वमायान्ति मधुमास इव द्रुमाः ।। (वही, 4/4)

पहले के जाने हुए होकर भी लौकिक पदार्थ रसावेश में सब-के-सब नवीन हो उठते हैं जैसे वसन्त में पुराने वृक्ष नवाकार धारण करते हैं।

कल्पना : इस सम्बन्ध में कालरिज् के कुछ विचार ऊपर आ चुके हैं। अंगरेजी में जिसे 'इमैजिनेशन्' कहते हैं, उसे हिन्दी में 'कल्पना' नाम दिया गया है। भारत में 'कल्पना' का इस रूप में महत्त्व आधुनिक है, परन्तु भामह ने काव्य के सन्दर्भ में यह नाम उल्लिखित किया है : 'कल्पनां नाम जात्यादि-योजनां परिचक्षते' (काव्यालंकार 5/6)—अर्थात् जात्यादियोजना को कल्पना कहते हैं। काव्यशास्त्र में इसका विस्तृत विवेचन नहीं है, परन्तु 'कल्पना' शब्द कुछ-कुछ अपेक्षित अर्थ देने में समर्थ देखा जाता है :

1. कल्पना शब्द—कृपू समर्थ्ये धातु (णिजन्त) से युच् प्रत्यय लगा कर निष्पन्न है (पा. सू. 3/3/107), अतः वह रचना की प्रेरक शक्ति है, उसको कारयित्री प्रतिभा कहा जा सकता है।

2. बौद्धदर्शन के अनुसार दृश्यमान जागतिक पदार्थ कल्पित हैं जिनकी कल्पना बुद्धि करती है। अतः काव्य में वर्णित विषय अनुकल्पित कहे जा सकते हैं क्योंकि वे कल्पना की कल्पना से बनते हैं।

3. याज्ञवल्क्य और मनु ने भाइयों के विभाजन के सम्बन्ध में क्रमशः भागकल्पना और अंशकल्पना (या. स्मृति 2/120 तथा मनुस्मृति 9/116) का प्रयोग किया है जिससे व्यवस्थित करना, विश्लेषणपूर्वक निश्चित करना अर्थ आता है।

4. कालिदास ने ('मालविकाग्निमित्र', 3/14) चित्रनिर्माण के संदर्भ में 'कल्पना' का प्रयोग किया है जिस का आकृति-निर्माण अर्थ आता है। दूसरे स्थान पर ('शाकुन्तल' में—दे. आपटे) 'कल्पनापोढ' शब्द का प्रयोग कर कालिदास ने बिम्बविधान या कलात्मक रचना के अर्थ में उसका प्रयोग किया है। 'अपोह' को सामने रख कर विचार करें तो अन्य बिम्बों या संवेद्यों का अपोहन या व्यावर्तन कर एक ही संवेद्य बिम्ब में कृति द्वारा उपस्थापन कल्पना है।

5. 'कल्पना सज्जना समे' ('अमरकोश', 3/2/42) के अनुसार हाथी की सजावट कल्पना है जिससे अलंकरण का अभिप्राय आता है।

6. 'प्रबन्ध-कल्पना कथा' (वही, 1/6/6) में प्रबन्ध-रचना का अर्थ लिया गया है।

उक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि 'इमैजिनेशन्' की अपेक्षा संस्कृत 'कल्पना' शब्द अधिक व्यापक है। कालरिज् ने उसे परिभाषित करते हुए कहा है :

हम जिसे 'कल्पना' यह विशेष नाम देते हैं, वह समवेत उपस्थापन की अभिनव ऐन्द्रजालिक शक्ति है जो विरुद्ध एवं विश्लिष्ट गुणों में सामञ्जस्य तथा समरसता लाती है। पुरातन तथा परिचितपूर्व दृश्यों में नवीनता, ग्राम्य तथ्यों में उदात्तता, व्यावहारिक निरूपणीयों में विलक्षणता तथा असामान्य भावप्रवण व्यवस्था, जागरूक निर्णय और उल्लासपूर्वक अनुभूति के प्रति गत्यात्मक स्वाधिकार कल्पना के गुण हैं। वह विविध तथ्य-समूहों को प्रभावात्मक एकता प्रदान करने वाली शक्ति है जो विचारों की कड़ियों को एकीभूत अनुभूति में समाहित करती है अतः उसके द्वारा विलक्षण संगीतमय आनन्द सुलभ होता है।[28]

कालरिज् के अनुसार समवेत उपस्थापन, ऐन्द्रजालिक शक्ति, समरसता, नवीकरण, जागरूकता और गत्यात्मकता का समन्वितरूप ही कल्पना है। भारतीय कल्पना को परिभाषित करने का जो ऊपर उपक्रम हुआ उससे भी इन्हीं तथ्यों का आयात होता है और काव्यशास्त्र द्वारा ध्वनि नाम से प्रतिष्ठित काव्य में इन तत्त्वों का सहज समावेश है।[29] प्रतिभा नामक कवित्व शक्ति को परिभाषित करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने मानो कल्पना का ही स्वरूप स्पष्ट कर दिया है :

प्रतिभा अपूर्व-वस्तु-निर्माण-क्षमा प्रज्ञा। तस्या विशेषो रसावेश-वैशद्य-सौन्दर्य काव्यनिर्माण-क्षमत्वम्। ('ध्वन्यालोक लोचन', 1/16)

अर्थात् कवि की उस प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं जो अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ होती है। रसावेश की विशदता और सौन्दर्य से सम्पन्न काव्यरचनाशक्ति उसकी विशेषता है।

रसावेश : इस विषय में पाश्चात्य चिन्तन प्रायः कम ही कह पाता है, परन्तु काव्यानन्द को लेकर कहीं वैमत्य नहीं देखा जाता। कालरिज् ने कुछ स्पष्ट तथ्य सामने रखे हैं—वे कहीं 'प्लेज़र' और कहीं 'डिलाइट' शब्दों का प्रयोग कर उन्हें काव्यानन्द के लिए अपर्याप्त पाते हैं, अतः 'रस' जैसे शब्द की उन्हें खोज है। उनके अनुसार :

एक समय आता है जब निष्क्रियता (रसिक की संविद्विश्रान्ति) सार्थक सक्रियता का गौरव प्राप्त करती है, जब लोग गम्भीर एवं शान्त संवेदन प्राप्त कर अपने-आप में एकाग्र रह सकते हैं···क्योंकि वे चित्रतुल्य हो जाते हैं। परन्तु ऐसे सहृदय अल्प हैं जो बुद्धि के क्रिया-कलाप को समञ्जस संवेदन में परिवर्तित कर पाते हैं···।[30]

काव्य परमानन्द देता है जब पूर्णतः ज्ञात न होकर सामान्य (साधारणीकृत) रूप में अनुभूतिगम्य बनता है।[31]

आई० ए० रिचर्ड्स

आधुनिक समीक्षा में रिचर्ड्स को व्यावहारिक समीक्षा (प्रैक्टिकल् क्रिटिसिज़्म्) का प्रवर्तक माना जाता है। जड़ (शास्त्रीय) समीक्षा का विरोध कर उन्होंने गत्यात्मक समीक्षा के मानक दिये। ध्वनि का सन्दर्भ लेकर उनकी विचार-सरणि से कतिपय तथ्यों का समाकलन यहाँ अभीष्ट है :

काव्यभाषा : रिचर्ड्स के अनुसार अभिधान (स्टेटमेन्ट) वैज्ञानिक भाषा की वस्तु है, काव्य की भाषा भावात्मक होती है जिसके प्रति वैज्ञानिक अर्थ गुणीभूत हो जाता है।[32] यही बात आनन्दवर्धन ने ध्वनि की परिभाषा में कही है : ध्वनिकाव्य में वाचक और वाच्य उपसर्जनीभूत रहते हैं और काव्यार्थ की व्यञ्जना करते हैं।[33] रिचर्ड्स ने काव्यबोध-क्रम इस प्रकार दिया है :

1. शब्दों का प्रत्यक्ष अर्थ-ज्ञान
2. अर्थ-ज्ञान से सम्बद्ध बिम्ब-ग्रहण
3. शब्द और वाच्यार्थ से असम्बद्ध बिम्बों का ग्रहण
4. विविध वर्ण्य वस्तुओं का चिन्तन
5. भाव-बोध
6. संकल्पात्मक प्रभाव की चित्तदशा।[34]

अर्थभेद : रिचर्ड्स अर्थतत्त्व को 'सेन्स्' और 'नान्सेन्स्' वर्गों में विभक्त करते हैं। प्रथम वर्ग में मुख्यत: वाच्यार्थ का ही समावेश है जो शब्दकोशीय अर्थ कहा जा सकता है, साथ ही लक्ष्यार्थ को भी उसी में गिना जा सकता है क्योंकि अंगरेजी में उसके लिए पृथक् व्यवस्था नहीं है। दूसरे वर्ग में वाच्येतर (और लक्ष्येतर भी) अर्थों का समावेश है। 'नान्सेन्स्' से रिचर्ड्स अवाच्य अर्थ लेते हैं जो वहाँ के चिन्तन में प्रचलित है। वस्तुत: साहित्यिक अर्थ के लिए इस शब्द का प्रयोग प्राय: होता है। वह अर्थ पूरी संरचना से तो आता है, पर वैसा शब्दकोशीय अर्थ नहीं होता।[35] इस वर्ग में तीन अर्थ-कक्ष्याएँ हैं :

1. अनुभूतितत्त्व वाच्यार्थ के बाद की दूसरी अर्थ-कक्ष्या है—इसमें संवेग वृत्ति, संकल्प, इच्छा, सुख-दु:ख आदि आते हैं। अनुभूति (फीलिङ्) से रिचर्ड्स इन सब को ग्राह्य मान कर चले हैं।[36]

2. तीसरी कक्ष्या 'काकु' की है जिसमें स्वर, कण्ठध्वनि आदि का समावेश है। इसे रिचर्ड्स ने काव्य में विशेष महत्त्व नहीं दिया है।[37]

3. चौथी कक्ष्या में प्रयोजन या उद्देश्य का परिगणन है जिसे रिचर्ड्स ने कवि का 'इन्टेन्शन्' कहा है। वस्तुव्यङ्ग्य, कान्तासंमित उपदेश जैसे ध्वनि-सम्मत काव्य प्रयोजनों का इसी वर्ग में समावेश है।

पूरा 'नान्सेन्स्' वर्ग व्यङ्ग्यार्थ की कोटि में आता है।

अभिव्यञ्जनावाद (एक्सप्रेशनिज़्म)

इतालवी काव्यमनीषी बेनेदेतो क्रोसे (क्रोचे) राजनीति में मसोलिनी के साथ रहने से उतनी प्रसिद्धि न पा सके जितना कि दार्शनिक अनुसन्धान द्वारा वे यशोभागी बने। उनका काव्यविषयक सिद्धान्त 'एक्सप्रेशनिज़्म्' नाम से विख्यात है जिसे हिन्दी में 'अभिव्यञ्जनावाद' करके जाना जाता है। अपने 'ईस्थिटीक' ग्रन्थ में क्रोचे ने कवि के कृती स्वरूप पर प्रकाश डाला। उनके द्वारा उपस्थापित 'एक्सप्रेशन्' शब्द जो हिन्दी में 'अभिव्यञ्जना' नाम से चलता है, विशेष अभिप्राय और महत्त्व रखता है। इसका सम्बन्ध व्यञ्जना-व्यापार से कितना बन पाता है, विचारणीय है। ध्वनिवादी आचार्य यह नहीं मानते कि व्यञ्जना से आयात व्यङ्ग्यार्थ सर्वत्र अखण्ड बोध ही कराता है, वस्तुतः प्रत्यक्ष में ज्ञात वस्तु की अखण्डता भाषा में आते ही खण्डित हो जाती है—'श्वेत गाय दौड़ रही है' कहें तो श्वेत गुण, गोत्व, धावन क्रिया की पृथक् प्रतीति ही शब्द से हो जाती है, जिसे श्रोता अखण्ड बना लेता है, जिसमें भाषा सहायक मात्र है, उससे प्रतिपन्न बोध अखण्ड नहीं होता।[38] अखण्डता की प्रतिपत्ति व्यञ्जना से भी भावबोध-क्षण में आती है जब संविद्विश्रान्ति का रसावेश उपलब्ध होता है। चित्र की रेखाएँ प्रतीति में ही अखण्डता प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार वाच्यार्थ की अनेकता काव्यबोध के रसात्मक क्षण में एकता प्राप्त करती है जो केवल सहृदय की महिमा है। सुन्दरी के अवयव पृथक्-पृथक् दृश्य बनते हैं, पर उन अवयवों से व्यक्त लावण्य एकीभूत प्रतीति देता है, यही व्यञ्जना की सार्थकता है।[39]

आधुनिक परिवेश में कहा जायगा कि विश्लिष्ट वाच्यबिम्बों का एकीभाव व्यञ्जना की देन है जो सहृदय-सापेक्ष है। इसी तथ्य को ध्यान में रख कर क्रोचे ने (काव्य की) भाषा को एकीभूत तत्त्व बताया है, उसमें बिम्बों की बहुलता नहीं होती क्योंकि बहुलता काव्यबोध को रूपायित नहीं करती, प्रत्युत अभिव्यञ्जना की व्याख्यामात्र करती है।[40] क्रोचे का अभिप्राय है कि कवि की आन्तरिक अभिव्यक्ति में विविधता नहीं रहती, वह एकीभूत अखण्ड प्रातिभ प्रत्यय होता है जो भाषा में बाह्यरूप लेकर विविधता भासित कराता है, परन्तु यह विविधता मूल अभिव्यञ्जना की एकता के आधार पर प्रतिष्ठित है—अनेकता में एकता न होकर एकता पर अनेकता टिकी है। कवि के मानस प्रत्यक्ष में बिम्बित वस्तु एक, अखण्ड रहता है जिसे शब्दों की विविधता में विविध देखा जाता है, अन्ततः काव्यबोध में पुनः एकीभाव प्राप्त करता है। आनन्दवर्धन के अनुसार कहना होगा कि विविक्त बोध देने वाले वाच्यार्थों से परे जा कर ही सहृदय व्यङ्ग्यार्थ को अखण्ड रूप में ले पाता है जब उसकी बुद्धि आन्तरिक

तत्त्व का दर्शन करती है।[41]

कालिङ्वुड के अनुसार वाच्यार्थ की भाषा तर्क-प्रधान हो जाती है, पर भाषा का वह परमार्थ स्वरूप नहीं है, जैसे अस्थि और अङ्गभेद जीवित शरीर के परमार्थ रूप नहीं हैं। अर्थात् शरीर की सत्ता से अङ्गों की विविधता होती है, उसी प्रकार एकीभूत अभिव्यञ्जना पर तार्किक अर्थों की अनेकता अवलम्बित है।[42] यह भाषा के उस मूल रूप को खोजने का प्रयास है जिसमें प्रत्ययों की समुदित एकता परिकल्पित की जाती है, वस्तु-स्थिति को सामने रखकर तो यही कहना होगा कि भाषा संकेतों की व्यवस्था है[43] और तब संकेतों की विविधता भी प्रतिफलित होगी ही जिसे एकत्व में बदलना सहृदय का ही कार्य है। अलग-अलग नक्षत्र-दर्शन करने वाला पुरुष यदि समग्रता में तारक-खचित शारदी राका का सौन्दर्य नहीं ले पाता तो उसका उत्तरदायित्व पुरुष की उस अशक्ति पर तो जाता ही है जो विश्वरूपता को आत्मसात् नहीं कर पाती, पर साथ ही उस रचना को भी कम उत्तरदायी नहीं मान सकते जो एकीभाव के विरुद्ध अनेक-रूपता का दृश्य प्रस्तुत करती है। एकता का पुनराकलन भावातिरेक के क्षण में ही संभव है जो कालिङ्वुड को भी मान्य है। वे कहते हैं:

> भाव की अभिव्यञ्जना कोई परिधान नहीं है जो पहले से उपस्थित भाव को पहना दी जाती हो, प्रत्युत वह क्रियाक्रम है जिसके बिना भावबोध की सत्ता ही असंभव है। भाषा हटा लें तो वह भी हट जाता है जिसे अभि-व्यक्त किया गया है, कुछ भी नहीं बचता, केवल उथली-सी अनुभूति मानस धरातल पर शेष रह सकती है।[44] यह सत्य है कि भाषा और भाव की जाति एक होती है,[45] पर यह विवादग्रस्त है कि प्राथमिकता भाषा (अभि-व्यक्ति) को दी जाय।

क्रोचे की धारणा रही है कि भाषा में जो बाह्य अभिव्यक्ति दी जाती है वह आन्तरिक अभिव्यक्ति की अनुकृतिमात्र है, पर आन्तरिक अभिव्यक्ति का स्वरूप स्पष्ट नहीं। आन्तरिक अभिव्यक्ति के तीन पक्ष हैं: प्रातिभ प्रत्यय (इन्ट्यूटिव नालेज्), बिम्बाधान (इमेज्-मेकिङ्) और अभिव्यक्ति (एक्सप्रेशन्)। इन तीनों में तात्त्विक अन्तर नहीं होता क्योंकि प्रातिभ प्रत्यय किसी-न-किसी बिम्ब में आकार लेता ही है, तभी वह प्रत्यय का आकार पाता है और जब प्रत्यय को आकार मिलता है तब अभिव्यञ्जना भी निश्चय ही हो चुकती है—केवल विश्लेषण में अन्तर किया जाता है जो 'कहियत भिन्न न भिन्न' की स्थिति होती है। क्रोचे के अनुसार यह आन्तरिक अभिव्यञ्जना ही यथार्थ कला है, बाहर की अभिव्यक्ति उसकी प्रतिभा भर है। क्रोचे का आशय है कि आन्तरिक अभि-व्यञ्जना की दृष्टि से सभी कवि हो सकते हैं जबकि बाहर उसका अनुवाद सब नहीं कर पाते हैं तथा जो करते हैं, वे भी उसे यथावत वाणी नहीं दे सकते क्योंकि

रूढ़ भाषा बाधक रहती है जो यथार्थ प्रत्यय को बाहर यथावत ला ही नहीं सकती, केवल उसके समीप पहुँच सकती है।

उक्त आधार पर धारणा यह बनती है कि 'लोकोत्तर-वर्णना-निपुण-कवि-कर्म' का महत्त्व अल्प है जो एक विरोधाभास है। कवि-कौशल आन्तरिकता में न होकर बाह्य शब्दार्थ-योजना में देखा जाता है, आन्तरिक रूप से अभिव्यक्ति सबमें होती है, तब कवि किसे कहा जाय ? इसके अतिरिक्त सहृदय बाह्य अभि-व्यञ्जना के ही आश्रय से आन्तरिक अनुभूति या प्रातिभ प्रत्यय में उतर सकता है। ऐसी स्थिति में कुन्तक का कथन युक्ति-संगत है—कवि के चित्त में प्रतिभा से भासमान वस्तु अनगढ़े रत्न के समान है जो पाषाण-खण्डवत् होता है, वही कवि की विदग्धता से जब बाँकपन के साथ वाक्य में आता है तब सान पर चढ़े हुए मणि के तुल्य मनोहारी होता और काव्यरसिकों को आह्लाद देकर काव्य-पद का भागी बनता है।[46]

सारांश यह है कि शब्दार्थ-योजना में ही कवि की प्रतिभा स्वरूप-ग्रहण करती है, वही कवित्व का निकष है जिसका महत्त्व अल्प करने में क्रोचे के चिन्तन का महत्त्व समीक्षणीय बनता है। बाह्य अभिव्यञ्जना का कौशल ही विवेचनीय हो सकता है, अतः उसके महत्त्व से ही प्रातिभ प्रत्यय की महिमा आँकी जा सकती है।

ए० सी० ब्रैडले

हीगेल के अनुयायी ब्रैडले प्रत्ययवादी दार्शनिक मनीषी के रूप में विख्यात हैं। काव्य-सम्बन्धी उनके चिन्तन में प्रत्ययवाद की गहरी छाप है, तदनुसार काव्य एक प्रत्यय (आइडिया) की वस्तु (आइडियल्) है। कवि और सहृदय का प्रत्यय-विशेष ही किसी रचना को काव्यरूप देता है : 'अनेक रूप वाले दर्पण के तुल्य शाश्वत की स्फटिक-शिला पर जीवन के विचित्र चिन्ह प्रकट होते हैं।'[47] यही जीवन है और यही प्रत्यय काव्य का आधार है। ध्वनिमत में चित्तवृत्ति की रस-रूपता काव्य की वस्तु है। जिसमें दुःखात्मक भाव भी सुखात्मक रूप से उदित होते हैं। यही विचार शेली के अनुसार ब्रैडले ने दिया है :

> यद्यपि काव्यानन्द अमिश्रित है, परन्तु हमारी चेतना के प्राञ्जल भाग का आनन्द अतिसामान्य पीड़ा से संपृक्त रहता है। वहाँ शोक का आनन्द लौकिक सुख से अधिक मधुर होता है। काव्य में भय, अवसाद आदि को भी उच्चतम आनन्दमयी अभिव्यक्ति मिलती है।[48]

साधारणीकरण के संदर्भ में ब्रैडले का कथन है : 'काव्य हमारी कल्पना को कमनीय तथा निर्वैयक्तिक कर देता है—यह निर्वैयक्तिकता उस समस्त की होती है जो कुछ हम होना चाहते हैं।'[49] वैयक्तिकता के विगलित हो जाने से सहृदय

की चेतना 'भूमा' में विलीन हो जाती है, यह रस-निष्पत्ति है जिसमें पूर्णता की उपलब्धि होती है। ब्रैडले की धारणा है :

> काव्य के भाव कल्पनाशील आत्मा को इसीलिए आनन्दित करते हैं कि वे भाव पूर्णता के विम्ब होते हैं—विस्तृत अर्थ में काव्य का कार्य इसी भाव को व्यक्त करना है।[50]

> कवि रचयिता है, परन्तु यह रचना केवल उसी की कल्पना-प्रसूति नहीं है, प्रत्युत वह उन (साधारणीकृत) रूपों को व्यक्त करती है जो विश्व-जनीन प्रकृति के प्रति सामान्य होते हैं; फलतः काव्य शाश्वत सत्य के रूप में व्यक्त जीवन-बिम्ब है।[51]

यही कारण है कि रस का प्रमाता वैयक्तिक परिमित सत्ता छोड़कर अपरिमित चेतना प्राप्त करता है, उसके लिए काव्य-रस सामने चमचमाता-सा, हृदय में प्रवेश करता-सा, सर्वाङ्गीण आलिङ्गन भरता-सा, अन्य सब कुछ तिरोहित करता-सा, स्वाकार-सा वनकर अलौकिक चमत्कारी रूप में व्यक्त होता है।[52]

टी० एस० इलियट

क्लासिकवादी कैथलिक विचारक के रूप में इलियट की बड़ी ख्याति है। वे निर्वैयक्तिकता (इम्पर्सनलाइजेशन) को काव्य की महती देन मानते हैं, इसे भारतीय धारा के साधारणीकरण का पाश्चात्य संस्करण कहना चाहिए। इसे चार स्तरों में सामने रखा जा सकता है :

1. समग्र देश-काल के काव्यों का समवाय एक है, काव्य-विशेष का कोई व्यक्तित्व नहीं होता। अर्थात् काव्य एक जीवित किन्तु निर्वैयक्तिक संघटन है।[53]

2. काव्य के साथ कवि भी निर्वैयक्तिक तत्त्व है अतएव कवि-चेतना में अनुभूतिसंघ रूप ग्रहण करते हैं और अभिव्यक्ति लेते हैं। कवि-मानस स्वयं तटस्थ रह कर मानवीय अनुभूतियों का मिश्रण तैयार करता है। कवि यदि काव्यार्थ की अनुभूति करता है तो वह उसका सहृदय रूप है जो रचयिता से भिन्न होता है।[54]

3. काव्य-जनित अनुभूति भी निर्वैयक्तिक होती है। काव्यबोध सभी व्यावहारिक बोधों से विलक्षण एक मिश्रण (पानकरस) है।

4. इस प्रकार सहृदय भी स्वगत या व्यक्तिगत अनुभूति से परे निर्वैयक्तिक संवेदन ही काव्य से प्राप्त करता है, निर्वैयक्तिक चेतना के कारण ही कोई सहृदय बनता है।[55]

ध्वनि के सन्दर्भों में जिस साधारणीकरण की पर्याप्त चर्चा हुई है, उसे इलियट से समर्थन मिलता है। कवि, काव्य, काव्यबोध और सहृदय की समग्रता में निर्वैयक्तिकता स्वरूप लेती है, यही इलियट का अभिप्राय है।[56] इलियट के

अनुसार काव्यात्मा गम्भीर एवं नामरहित अनुभूतियों में रहती है जहाँ विरलता से ही प्रवेश हो पाता है।[57] इस सन्दर्भ में काव्यबोध के स्तर भी महत्त्वपूर्ण हैं जिन्हें इलियट के अनुसार इस प्रकार लिया जाता है :

1. अतिसामान्य दर्शक कथावस्तु को सर्वस्व मानता है।
2. कुछ विचारशील के लिए चरित्र, घातप्रतिघात आदि महत्त्वपूर्ण हैं।
3. और अधिक विचारशील को शब्दार्थ-योजना रुचिकर है।
4. संगीत-संवेदना वाला लय आदि पर मुग्ध होता है।
5. संवेदनशील, बोध-सम्पन्न सहृदय के लिए अर्थ की उदात्त गरिमा महत्त्व रखती है जो स्तर-प्रतिस्तर अभिव्यक्ति लेती चलती है।[58]

पञ्चम श्रेणी के सहृदयों के प्रयोजन से ही काव्य की सार्थकता है जिनमें तलस्पर्शी काव्यबोध की वासना रहती है : 'सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्'—ये रसिक सभी स्तरों की एकीभूत अनुभूति प्राप्त करते हैं।[59] यही भावात्मक एकता का स्तर है जिसमें कवि व्यक्तित्व से परे (साधारणीकृत) माध्यम अपनाता है। यहाँ इलियट कहना चाहते हैं कि लोक से बाहर की वस्तु न होकर भी वहाँ व्यक्तित्व जैसी लौकिक महत्त्व की वस्तु नगण्य बन जाती है।[60] यही ध्वनिकार को भी मान्य है। काव्य-भाव को लेकर एक मत भट्टनायक का है जिसमें वह स्वगत या परगत न होकर काव्यगत ही रहता है, दूसरा प्रस्थान ध्वनिमत का है कि रसिक का स्वगत भाव ही (साधारणीकृत होकर) रसरूप में अभिव्यक्ति लेता है, इस विषय में इलियट निर्णायक रूप से कुछ नहीं कहते। उनका इतना ही कथ्य रहा है कि जन-साधारण का भाव ही उदात्ततम स्वरूप लेकर काव्य की सम्पत्ति बनता है।[61]

ब्लैकमूर

ध्वनि-सम्मत व्यञ्जना व्यापार के समीपतम आकर विचार करने वालों में ब्लैकमूर का महत्त्व है। 'लैंग्वेज् ऐज् जेश्चर' ग्रन्थ में उन्होंने भाषा को व्यञ्जक संकेतों के समूह के रूप में मान्य किया है और काव्य-भाषा की तदनुरूप ही व्यञ्जना दी है। ध्वनिमत काव्य की व्याख्या में भाषा शास्त्रीय विवेचना को महत्त्व देता है और ब्लैकमूर भी इसी विचारधारा के जान पड़ते हैं। काव्य-भाषा के दो छोर हो सकते हैं : एक वह जिसमें लोकप्रचलन की रूढ़ योजना हो और दूसरा वह जिसे कवि ही समझ सके। ये दोनों ही बिन्दु काव्य में अनुपयुक्त हैं।[62] ध्वनिमत के अनुसार प्रथम में अर्थ अगूढ़ होगा और दूसरे में अस्फुट रहेगा जो उत्तम काव्य के लिए अग्राह्य है :

नान्ध्री-पयोधर इवातितरां प्रकाशो
नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः।

अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च शाश्वत्
सौभाग्यमेति मरहट्ठ-वधू-कुचाभः ।।

ब्लैकमूर भाषा को इङ्गित रूप (ऐज् सजेशन्) मान कर चले हैं: विशेष परि-स्थिति में भाषा अपनी सहज इङ्गन-शक्ति प्राप्त करती है। इङ्गितों से ही भाषा बनी है अतः वह उसका नैसर्गिक स्वरूप है। इङ्गित वह अर्थ-पूर्णता है जो शब्द के प्रत्येक अर्थ में संचरित होकर उसे गतिमयता देती है।[63] यही बात अन्य प्रकार से ध्वनिकार कहते हैं: जो चारुता अन्य उक्ति से अशक्य रहती है, उसे प्रकाशित करता हुआ शब्द व्यञ्जक बनता है और तब ध्वनि नाम पाता है।[64]

भाषाविज्ञान

काव्यभाषा निश्चय ही भाषा के रूढ स्वरूप से भिन्न होती है, यह तथ्य ऊपर स्पष्ट किया गया। आधुनिक भाषाविज्ञान में भी इसे मान्य करना पड़ा। चार्ल्स् एफ्० हाकेट् का कथन इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण है:

> अधिक उत्तम तथा आधारभूत परिभाषा काव्यभाषा की यही है कि उसमें यथाशक्य पदों द्वारा प्रस्तुत आकृतियों के संगुम्फनों का महत्त्व द्वितीय श्रेणी का रहता है, अर्थात् वाच्यार्थ को अभिनव शक्ति देने के वे साधन हो जाते हैं।[65]

ध्वनिकार का काव्यभाषा के विषय में ऐसा ही कथन है: प्रकाश का इच्छुक व्यक्ति जिस प्रकार दीपशिखा हेतु यत्न करता है, उसी प्रकार कवि-वाच्यार्थ को व्यङ्ग्यार्थ का साधन मानकर आदर देता है।[66] अर्थात् वाच्यार्थ दीपक है और व्यङ्ग्य उसका प्रकाश है जिसके बिना सार्थकता नहीं है। जे० वेन्ड्रीस् का अभिमत है:

> प्रयोग-क्षण में शब्द का क्षणिक मूल्य रहता है और वह उन अर्थों से वञ्चित रह जाता है जिनके लिए वह अन्य स्थितियों में आ सकता है—शब्दों का यह अर्थवैविध्य निरन्तर गतिमय रहता है।[67]

निश्चय ही यह अर्थ-वैचित्र्य सर्ववेद्य नहीं हो सकता क्योंकि शब्द और अर्थ की रटन्त-विद्या से वह ज्ञेय नहीं बनता, उसे काव्य-तत्त्वज्ञों की अपेक्षा रहती है।[68]

मनोविश्लेषण

मनोविज्ञान की सभी धाराओं का पर्यालोचन यहाँ अपेक्षित नहीं क्योंकि अभी तक उन क्षेत्रों में काव्य-विषयक धारणाओं को लेकर विवेचन नहीं हो पाया है। मनो-विश्लेषण की धारा में काव्यार्थ का विचार किया जाता रहा है अतः उसे सामने

रख कर देखना चाहिए। काव्यानन्द एक प्रकार का सुखात्मक बोध है, अतः सुख-दुःख-सिद्धान्त (प्लेज़र-अन्प्लेज़र-थियरी) उस पर सरलता से लागू हो जाती है। फ्रायड ने सुख की दो कोटियाँ मानी हैं—सापेक्ष सुख और निरपेक्ष सुख।

1. सापेक्ष सुख (फ़ोर प्लेज़र) और दुःख में मनोदैहिक उत्तेजनाएँ कारण होती हैं। दुःख के निवारण का प्रयास होता है जबकि सापेक्ष सुख की उत्तेजनाएँ या तो मात्रा में अल्प होती हैं या उनके लय में विशेषता रहती है। सापेक्ष सुख में इच्छापूर्ति हेतु बुभुक्षा-जनित उत्तेजनाएँ मनोदैहिक रचना को आक्रान्त कर लेती हैं अतः प्राणी भोग हेतु प्रयास करता है और भोगसाधन न जुटने पर दुःखी होता है। व्यावहारिक सुखों की यही परिणति होती है।[69]

2. निरपेक्ष सुख (एन्डप्लेज़र) में उत्तेजनाओं का शमन रहता है, इसे मनोविश्रान्ति की अवस्था कह सकते हैं। यह वह परमसुख है जिसमें भोगेच्छा की उत्तेजनाएँ नहीं रहतीं। यह स्वयं प्रयोजन है, बाहर प्रयोजन की खोज नहीं होती। दाम्पत्य-सुख की पराकाष्ठा को इसके उदाहरण में लिया जाता है।[70]

सौन्दर्यानन्द या काव्यानन्द द्वितीय कोटि का ही सुख है जिसमें बाह्य प्रयोजन अपेक्षित नहीं रहते। क्रिस का कहना है कि कला अपने-आप में आनन्दप्रद है जिसमें रागावेश (पैशन्) से मुक्ति मिल जाती है। वहाँ कलाकार के प्रातिभ सौन्दर्यबोध का शासन रहता है जहाँ व्यावहारिक उत्तेजनाएँ विश्राम पा जाती हैं। इसी प्रकार फ्रायड भी कलात्मक बोध को तीन वर्गों में लेता है[71] :

(क) कुशल कलाकार द्वारा निर्मित सुन्दरतम नग्नचित्र देखकर अप्रकृत (एब्नार्मल) व्यक्ति आत्मरक्षा का बहाना खोज लेता है और गोपनवृत्ति अपना कर दमित वासना की बुभुक्षा शान्त करता है।

(ख) प्रकृत (नार्मल) व्यक्ति, जो व्यावहारिक भूमिका से ही उक्त कृति को देखता है, सापेक्ष सुख ही उपलब्ध करता है जिससे उसकी भोगेच्छा तीव्र हो जाती है और लोक में भोग की खोज करता हुआ जब सुलभ नहीं कर पाता तब दुःख का ही अनुभव करता है। इस प्रकार वह सुख और दुःख दोनों की उत्तेजनाओं में पड़ा रहता है, कला के परमार्थ आनन्द से वञ्चित ही रहता है।

(ग) कला का पारमार्थिक आनन्द कुछ सहृदय ही प्राप्त करते हैं जिनकी उत्तेजनाएँ विश्रान्ति पा जाती हैं। इसे निरपेक्ष सुख कहा जाता है क्योंकि कला से बाहर सुख खोजने की रागाविष्ट अपेक्षा वहाँ नहीं रहती। सौन्दर्यानुभूति रचना की समग्रता को लेती है, अङ्गों में नहीं रमती (एस्थेटिक एक्सपीरिएंस इज डिपेन्डेन्ट आन फार्म दैन आन कान्टेन्ट) यही ध्वनिमत की साधारणीकृत रसिक-वासना है जिसका भोग ही काव्य का परमार्थ और लोक में लोकोत्तर संवेदन है।

यहाँ हम ध्वनिमत का स्पष्ट अनुमोदन पाते हैं। वैयक्तिक वासना का अनुरञ्जन काव्यबोध नहीं है। वह एक प्रकार की सर्वात्मनीन भावना है जिसमें

पहुँचने पर उत्तेजनाओं को विश्रान्ति मिल जाती है।

प्रस्तुत अध्याय में पाश्चात्य चिन्तन की सीमाओं में ध्वनि का तुलनात्मक पर्यालोचन किया गया और पाया गया कि एक प्रकार का ऐकमत्य खोजा जा सकता है। यह पृथक् अनुसन्धान का विषय है अतः संक्षेपण-वृत्ति अपनायी गयी। आधुनिक हिन्दी काव्यचिन्तन उससे प्रभावित है जिस पर आगामी अध्याय में विचार किया जा रहा है।

सन्दर्भ

1. 'रिपब्लिक', पृ० 394-97.
2. 'लाज', पृ० 669.
3. 'पोइटिक्स', IX.
4. पोइट्री एण्ड फाइन आर्ट', पृ० 161.
5. वही, पृ० 153.
6 वही, पृ० 245.
7. वही, पृ० 197.
8. 'सर्वथा रसनात्मक-वीत-विघ्न-प्रतीति-गाह्यो भाव एव रसः', —'अभिनव भारती', पृ० 280.
9. 'पोइटिक्स'—बूचर, पृ० 266.
10. 'पोइटिक्स', 2/17.
11. 'पोइट्री एण्ड फाइन आर्ट', पृ० 269.
12. 'आन स्टाइल', पृ० 14.
13. वही, पृ० 302.
14. वही, पृ० 36-37.
15. वही, पृ० 92-97.
16. वही, पृ० 287.
17. 'एण्ड इन ट्रुथ एम्बिगुइटी मे आफन ऐड स्ट्रैंग्थ, ऐन आइडिया सजेस्टेड इज मोर वेटा; सिम्प्लिसिटी आफ स्टेटमेंट एक्साइट्स कंटेम्प्ट'—वही, पृ० 254.
18. 'उदात्तं वस्तुनः सम्पन्महतां चोपलक्षणम्'। —'काव्यप्रकाश', 10/115.
19. 'आन दि सब्लाइम्', पृ० 1.
20. वही, पृ० 8.
21. 'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥'—'ध्वन्यालोक', 1.
22. 'वाच्यालंकार—वर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशानुगमे सति।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ॥'—वही, 3/36.

'सम हाउ आर अदर फिगर्स नेचुरली फाइट आन दि साइड आफ सब्लिमिटी, एण्ड इन टर्न रिसीव ए वन्डरफुल रेनफोर्स फ्राम इट',—'आन दि सब्लाइम्', पृ० 17.

23. 'रसाक्षिप्तया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्न—निर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनेर्मतः ॥'—'ध्वन्यालोक', 2/17.
'ए फिगर लुक्स बैस्ट व्हैन इट् एस्केप्स वन्स नोटिस दैट इज फिगर',—'आन द सब्लाइम्', पृ० 17.
24. 'कालरिज'ज फिलासफी आफ लिट्रेचर', पृ० 86-87.
25. वही, पृ० 136.
26. कालरिज् : 'ए कलेक्शन आफ क्रिटिकल एस्सेज', पृ० 112.
27. वही, पृ० 128.
28. 'दैट सिन्थैटिक एण्ड मैजिकल पावर, टु विच वी हैव एक्सक्लूसिवली एप्रोप्रिएटेड दि नेम आफ इमैजिनेशन्···रिवील्स इट्सेल्फ इन दि बैलेंस आर रिकन्सिलेशन आफ अपोजिट आर डिस्कार्डेन्ट क्वालिटीज···दि सैंस आफ नावल्टी एण्ड फ्रैशनैस, विद् ओल्ड एण्ड फेमिलिअर आब्जेक्ट्स, एण्ड मोर दैन यूजुअल स्टेट आफ इमोशन, विद् मोर दैन यूजुअल आर्डर; जजमैंट ऐवर अवेक एण्ड स्टेडी सेल्फ-पजैस्शन विद् एन्थ्यु-जिआज्म एण्ड फीलिंग प्रोफाउन्ड आर विहीमेंट'.

'दि सैंस आफ म्युजिकल डिलाइट···विद् दि पावर आफ रिड्यूसिंग मल्टीट्यूड इन्टु यूनिटी आफ इफेक्ट, एण्ड माडिफाइंग ए सिरीज आफ थाट्स बाई समवन प्रेडोमिनेंट थाट आर फीलिंग'.—बाइग्राफिआ लिट्रेरिआ : 2, पृ० 12, 14.
29. 'ध्वन्यालोक', 1/4, 8; 3/20, 4/2, 4, 5, 6.
30. 'ए क्लेक्शन आफ क्रिटिकल एस्सेज', पृ० 170.
31. वही, पृ० 80.
32. 'एस्सेज आन र्‌हेटारिक्स' पृ० 163; प्रिन्सिपिल्स आफ लिट्रेरी क्रिटिसिज्म', पृ० 267.
33. 'यथार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्य-विशेषः स ध्वनिरिति सुरिभिः कथितः ॥'—ध्वन्यालोक.
34. 'प्रिंसिपिल्स आफ लिट्रेरी क्रिटिसिज्म', अध्याय 16.
35. 'इन इंगलिश 'नानसेन्स' एज ए लिट्रेरी फार्म आफन कन्सिस्ट्स आफ अटरेन्सेस दैट हैव ए क्लीअर स्ट्रक्चरल मीनिंग बट यूज वर्ड्स दैट आइदर हैव नो लेग्जिकल मीनिंग आर हूज लेग्जिकल मीनिंग्ज आर इन्कन्सिस्टेन्ट वन विद् एन अदर ?'—पर्स्पेक्टिव आन लैंग्वेज—पृ० 125, कलेक्टेड एस्से—रिवोल्यूशन आफ ग्रामर बाई डब्ल्यू नेल्सन फ्रांसिस.
36. 'प्रेक्टिकल क्रिटिसिज्म', पृ० 181.
37. वही, पृ० 354; 206.
38. यथा गवि शुक्ले चलति दृष्टे 'गौः शुक्लश्चलति' इति विकल्पः । यदेव दृष्टं तदेव विकल्पयति, न तु यथा दृष्टं तथा । यतोऽभिन्नासंसृष्टत्वेन दृष्टं, भेदसंसर्गाभ्यां विकल्पयति ।—काव्यप्रकाश 10/115.
३६. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥—ध्वन्यालोक 1/4.

40. 'स्पीच इज युनिटी, नाट मल्टिप्लिसिटी आफ इमेजेज, एण्ड मल्टिप्लिसिटी इज नाट एक्सप्लेन, बट इन्डीड प्रिसपोजेज दि एक्सप्रेशन टु बि एक्सप्लेन्ड'—ऐस्थेटिक, पृ॰ 144.
41. तद्वत् सचेतसां सोर्थो वाच्यार्थ-विमुखात्मनाम् ।
बुद्धौ तत्त्वार्थ-दर्शिन्यां झटित्येवावभासते ।—ध्वन्यालोक 1/12.
42. 'दि ग्रैमैटिकल एण्ड लाजिकल आर्टिकुलेशंस आफ इंटेलेक्चुअलाइज्ड लैंग्वेज आर नो मोर फन्डामेंटल टु लैंग्वेज ऐज सच, दैन दि आर्टिकुलेशंस आफ वोन एण्ड लिम्ब आर फन्डामेंटल टु लिविंग टिश्यूज'—आर॰ जी॰ कालिंगवुड : 'दि प्रिन्सिपिल्स आफ आर्ट', पृ॰ 236.
43. 'स्पीच इज आफ्टर आल आनली ए सिस्टम आफ जेस्चर्स,—वही, पृ॰ 243.
44. वही, पृ॰ 244.
45. 'दि इंगलिश टंग विल आनली एक्सप्रेस इंगलिश इमोशंस; टु टाक आफ फ्रेंच, यू मस्ट एडप्ट इमोशंस आफ ए फ्रेंचमैन',—वही, पृ॰ 245.
46. कविचेतसि प्रथमं प्रतिभा-प्रतिभासमानमघटित
पाषाण-शकलकल्प-मणिप्रख्यमेव वस्तु विदग्ध-
कविविरचित-वक्र-वाक्योपारूढं शाणोल्लीढ-
मणि-मनोहरतया तद्-विदाह्लादकारि काव्यत्वमधिरोहति । —वक्रोक्ति-जीवित.
47. 'माडर्न एस्सेज इन क्रिटिसिज्म', पृ॰ 163.
48. वही, पृ॰ 160.
49. वही, पृ॰ 167.
50. वही, पृ॰ 151-52.
51. वही, पृ॰ 149.
52. 'काव्यप्रकाश', उल्लास 4 : रसनिष्पत्ति.
53. 'अमेरिकन ट्रेडिशंस इन लिटरेचर', पृ॰ 1298.
54. वही, पृ॰ 1298-99.
55. वही, पृ॰ 1299.
56. वही, पृ॰ 1298.
57. 'दि ऐक्चुअल, फार पोइट्री आर फार मिस्टर इलियट्'स पोइट्री, रिजाइड्स पर्हेप्स अमंग दि डीपर, अन्नेम्ड फीलिंग्ज व्हिच फार्म दि सब्स्ट्रैटम आफ अवर बीइंग टु व्हिच वी रेअरली पेनेट्रेट'—'लैंग्वेज ऐज जेस्चर', पृ॰ 164.
58. वही, पृ॰ 173.
59. वही, पृ॰ 174.
60. 'अमेरिकन ट्रेडिशन इन लिट्रेचर', पृ॰ 1300.
61. 'दि पोइट्री आफ ए पीपिल टेक्स इट्स लाइफ फ्राम दि पीपिल्'स स्पीच इन टर्न गिव्ज लाइफ टु इट; एण्ड रिप्रेजेन्ट्स इट्स हाइऐस्ट पाइंट आफ कान्शसनैस, इट्स ग्रेटेस्ट पावर एण्ड इट्स मोस्ट डेलिकेट सेन्सिविलिटी',—'दि यूज आफ पोइट्री', पृ॰ 15.
62. आर॰ पी॰ ब्लैकमूर : 'लैंग्वेज ऐज जेस्चर', पृ॰ 320.
63. वही, पृ॰ 4-6 तथा 129.
64. 'उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन् ।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत् ॥'—'ध्वन्यालोक', 1/15.

65. 'ए कोर्स इन माडर्न लिंग्विस्टिक्स', पृ० 559.
66. 'आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः ॥'—ध्वन्यालोक, 1/9.
67. जे० वेन्ड्रीज : 'लैंग्वेज', पृ० 197.
68. 'शब्दार्थ-शासन-ज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु शब्दार्थ-तत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥' —ध्वन्यालोक, 1/7.
69. 'एन्साइक्लोपीडिया आफ साइकोएनेलिसिस', पृ० 150, 313-314.
70. वही.
71. वही, पृ० 18-19.

आधुनिक हिन्दी में काव्यचिन्तन

भारतीय काव्य-चिन्तन-धारा का जो स्वरूप रीतिकाल तक अपनी शास्त्रीय महिमा समेटे रहा, उसे आधुनिक काल में पश्चिम के प्रभाव से नयी दिशा मिली। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डा० श्यामसुन्दरदास इस युग के आरम्भकर्ता धुरीण विचारक माने जा सकते हैं जिनका प्रभाव परवर्ती चिन्तन को आधार-भूमि देता है। शास्त्रीय सिद्धान्तों को तात्त्विक परिशीलन के उद्‌गम से परे हटा कर इन मनीषियों ने युग-सापेक्ष तटों से चतुर्दिक् घेर कर गङ्गाप्रवाह को पुष्क-रिणी का स्वरूप दिया और सभी को निष्णात बनने का सुगम उपाय सुलभ कर दिया। रस, व्यञ्जना, ध्वनि आदि शब्द अपने पुरातन वृन्तों से विच्युत हो कर म्लान-कुसुम बनने लगे जिन का बासी गन्ध प्रत्येक शिक्षित जन को मत्त बनाने में सफल हुआ। इस धारा के प्लावन से कुछ पूर्व श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने 'काव्यकल्पद्रुम' लिखा था जो अपने चिन्तन को एक सीमा तक यथार्थ भूमि देता है, पर उसकी परम्परा में कुछ ही ग्रन्थ लिखे जा सके जिनमें गुलाबराय के 'काव्य के रूप' और पं० रामदहिन मिश्र के 'काव्यदर्पण' को ले सकते हैं, परन्तु उनकी ओर समीक्षा के विद्यार्थियों का ध्यान गया ही नहीं और गया भी तो उचटती दृष्टि ही पड़ सकी।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जैसे एकाध मनीषी अवश्य हैं जो शास्त्रीय समीक्षा-पद्धति को यथावत् लेकर विचार करते देखे जाते हैं। नव्यतम समीक्षा-धुरीणों में डा० राममूर्ति त्रिपाठी का नाम इस दृष्टि से समादरभागी है कि शास्त्रीय चिन्तन अपनी समग्रता में पुन: प्रतिष्ठा पा रहा है। प्रस्तुत अध्याय में कतिपय आधुनिक विचारकों को सामने रख कर इस विषय पर प्रकाश डालना अभीष्ट है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

शुक्लजी अपने समय तक हुए पाश्चात्य चिन्तन को भारतीय परम्परा की तुलना में लेने वाले प्रतिभाशाली विचारक थे। इस दृष्टि से यहाँ विचार नहीं करना

है, प्रत्युत देखना है कि शास्त्रीय प्रतिमानों को उन्होंने किस रूप में समझा था।

आनन्द और चमत्कार

चमत्कार सहृदय की मनोदैहिक प्रतिक्रिया है जो यथावसर देखा जा चुका है, परन्तु शुक्ल जी कुछ और ही समझते हुए कहते हैं : 'किसी भाव या मार्मिक भावना से असंपृक्त अलंकार चमत्कार या तमाशे हैं' ('चिन्तामणि', पृ० 251)। इस प्रकार अनुभूति से हटा कर चमत्कार को तमाशा बताना शुल्क जी की विलक्षण उपलब्धि है। इसीलिए वे अन्यत्र स्थापित करते हैं : 'यदि किसी उक्ति में रसात्मकता और चमत्कार दोनों हों तो प्रधानता का विचार करके सूक्ति या काव्य का निर्णय हो सकता है' ('रसमीमांसा', सं० 1, पृ०37)। यहाँ रस के साथ चमत्कार का कोई सम्बन्ध न मान कर शुक्ल जी रस को काव्य का और चमत्कार को सूक्ति का धर्म मानते हैं। और 'नीयत' का हाल यह है कि : 'आनन्द शब्द ने जिस प्रकार काव्य की नीयत को बदनाम किया है, उसी प्रकार चमत्कार शब्द ने उसके रूप को बहुत कुछ बिगाड़ा है। ('रसमीमांसा', पृ० 100)। काव्य से आनन्द और चमत्कार नहीं मिलता है तो क्या मिलता है ? इसे आगे देखिए।

रस

"मेरी समझ में रसास्वादन का स्वरूप 'आनन्द' शब्द से व्यक्त नहीं होता। 'लोकोत्तर' 'अनिर्वचनीय' आदि विशेषणों से न तो उसके अवाचकत्व का परिहार होता है, न प्रयोग का प्रायश्चित। क्या क्रोध, जुगुप्सा, शोक आदि आनन्द का रूप धारण कर के ही श्रोता के हृदय में प्रकट होते हैं, अपने प्रकृत रूप का सर्वथा, विसर्जन कर देते हैं, उसका कुछ भी लगा नहीं रहने देते ?... क्या कोई दुःखान्त कथा पढकर बहुत देर तक उसकी खिन्नता नहीं बनी रहती ?...इस 'आनन्द' ने काव्य के महत्त्व को बहुत कुछ कम कर दिया है— उसे नाच-तमाशे की तरह बना दिया है।" (वही)

शुक्लजी अनिर्वचनीयता का विरोध करते हुए 'अवाचकत्व' कह जाते हैं, 'अवाच्यत्व' होना चाहिए। रसादि वाच्यरूप में न आकर व्यङ्ग्य रूप में आते हैं तभी रसिक के लिए आह्लादकारी होते हैं; रस, भाव आदि स्वशब्दवाच्य हो जायँ तो रस-दोष माना जाता है। इसी तात्पर्य से रस को सभी मतों में अनिर्वचनीय कहा जाता है :

सोक-बिबस कछु कहै न पारा।
हृदयँ लगावत बारहिं बारा॥ (मानस)

यहाँ कुछ न कह पाने से ही शोकजनित विवशता की अनुभूति होती है,

'शोकविवश' कहना रसिक के लिए किसी काम का नहीं—अनुभाव-हीन रचना होती और 'शोक' शब्द आता भी, तो भी अनुभूति न होती, यह तो रसास्वाद का सुपरिचित सिद्धान्त है जो काव्यज्ञों के लिए व्यावहारिक-सा बन गया है, तब शुक्लजी को आपत्ति क्या है ? 'लोकोत्तर' से वे क्यों चिढ़ते हैं ? क्या किसी की मृत्यु पर विधवा का रोदन लोक में भी हमें रस देता है ? परन्तु दशरथमरण पर कौशल्या का रोदन करुण भी है और रस भी, आनन्द के स्थान पर कोई शब्द लाया जाय, लोकोत्तरता का परिहार असंभव है । व्यवहार और काव्य में जो अन्तर बचता है, वही लोकोत्तरत्व का आधार है। उस विधवा को फिर लिया जाय तो क्या वह काव्यरस लेती होती है ? दुःखान्त कथा का 'कुछ बच रहना' और बात है, पूर्णतः दुःखमग्न होना दूसरी बात है, यह अन्तर क्यों है ? दुःखात्मक भाव प्रकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर दें तो फिर रस की विविधता ही न बनेगी, यद्यपि उनकी वैयक्तिकता निलीन रहती है, यह शास्त्रों की मान्यता है । सुखात्मक भावों का भी लोकपक्ष पूरा-पूरा काव्य में नहीं रहता, अन्यथा काव्य का आस्वाद ही क्या होगा ? पुष्पवाटिका में सीता-राम के पूर्वराग की परिस्थितियाँ भिन्न हैं, व्यवहार में स्त्री-पुरुष का प्रेम-प्रसंग देखना सर्वथा भिन्न प्रतिक्रिया उत्पन्न करेगा । प्रसंगान्तर में यही बात शुक्ल जी भी कहते हैं :

> जब तक कोई···सुख-दुःख आदि से संवद्ध कर के देखता रहता है, तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है ।···जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूट कर—अपने-आप को बिल्कुल भूल कर—विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त-हृदय हो जाता है। (वही, पृ० 5) ।

सुख-दुःख से असम्बद्ध मनोदशा व्यावहारिक से भिन्न तो शुक्ल जी भी मानेंगे, लोकोत्तर कहने में उनकी हिचक दूसरी विचारणीय बात है । पृथक् सत्ता की धारणा ही छूट गई और हृदय मुक्त हो गया, सहृदय अपने को ही भूल गया (जो रस की शर्त है) तब क्रोध, जुगुप्सा, शोक आदि का दुःख भी कहाँ रहा ? व्यक्ति के धरातल पर उनकी प्रतीति से तो हृदय मुक्त हो गया, अब साधारणीकृत भावना बची जो रसास्वाद की सामग्री है । बदतोव्याघात तो तब आता है जब आचार्य शुक्ल कहते हैं :

> साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तुविशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है। ('चिन्तामणि'—भाग 1, 1970, पृ० 185)

अब लीजिए, यह हृदयमुक्ति कैसी है जिसमें सीता-व्यक्ति के प्रति राम-व्यक्ति के समान सहृदय भी प्रेमासक्त हो गया, वह सुधबुध कहाँ भूला ?

और भी :

यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है तो शृङ्गार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रह कर आलम्बनरूप में उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसकी कल्पना में आयेगी। यदि किसी से प्रेम न हुआ तो सुन्दरी की कोई कल्पित मूर्ति उसके मन में आयेगी। (वही)

इसे उलट कर भी कह सकते हैं कि यदि किसी पाठिका या श्रोत्री का किसी सुन्दर युवक से प्रेम है तो···उसकी मूर्ति कल्पना में आयेगी। यदि किसी से प्रेम न हुआ तो युवक की कल्पित मूर्ति उसके मन में आयेगी। यह न साधारणीकरण हुआ और न रस। यह तो शुक्लजी की अपनी धारणा है जिसे वे शास्त्रों पर थोपना चाहते हैं।

व्यञ्जना

आचार्य शुक्ल ने शब्दवृत्तियों पर कोई विचार नहीं किया है, फिर भी काव्य की दृष्टि से वे व्यञ्जनावादी जान पड़ते हैं। इसका प्रमाण उनका विविक्त चिन्तन नहीं है, प्रत्युत व्यञ्जना आदि शब्दों की जाने-अनजाने प्रयोग-प्रचुरता है। कुछ उद्धरण लेकर देखा जा सकता है :

आश्रय की जिस भाव-व्यञ्जना को श्रोता या पाठक कुछ भी अपना न सकेगा, उसका ग्रहण केवल शील-वैचित्र्य के रूप में होगा। (वही, पृ० 187)

ध्वनिमत की भावव्यञ्जना सहृदय में होती है जबकि शुक्लजी उसे आश्रय (अनुकार्य) में मानते हैं। आश्रय में तो भाव है ही, उसमें व्यञ्जना कैसी ? यह तो उत्पत्ति जैसी बात हुई।

'पात्र की भाव-व्यञ्जना के साथ श्रोता या दर्शक की पूर्ण सहानुभूति होगी।' और 'उसकी भरपूर व्यञ्जना का वचन या क्रिया द्वारा कोई पात्र आकर करता।' (वही, पृ० 187) से ऐसा लगता है कि वे अनुमान, उत्पत्ति और अभिव्यक्ति में कोई अन्तर नहीं रख पाये हैं। परन्तु कभी-कभी वे कहते हैं : 'भाषाशैली को अधिक व्यञ्जक, मार्मिक और चमत्कारपूर्ण बनाने में भी कल्पना ही काम करती है' (वही, पृ० 215)। इस प्रकार पात्र, आश्रय और भाषाशैली सब व्यञ्जक होते हैं, वे किसमें क्या व्यक्त करते हैं, अज्ञात है।

भावकोश

आचार्य शुक्ल स्थायीभाव को स्वतन्त्र भाव न मान कर भावकोशरूप मानते हैं जिसमें संचारी भावों की प्रणाली ही समुदित भाव का रूप लेती है :

रति को ही लीजिए। प्रिय का साक्षात्कार होने पर हर्ष, वियोग होने पर

विषाद, उस पर कोई विपत्ति आने से उसे खोने की शङ्का, उसे दुःख पहुँचाने वाले को देख क्रोध आदि अनेक भावों का स्फुरण 'रति' की प्रणाली स्थिर हो जाने से हुआ करती है। इन भावों के अतिरिक्त न तो 'रति' की कोई स्वतंत्र सत्ता है और न कोई विशेष स्वरूप। ('रसमीमांसा', पृ० 170)।

यहाँ शुक्लजी ने क्रोध का आलम्वन बदल दिया है जो 'रति' के बाहर है और साथ ही 'क्रोध' स्थायी को स्वतन्त्र स्वरूप में मान्य करने का अनजाने ही उपक्रम है जो प्रतिज्ञा-हानि है। स्थायीभाव को संचारी भावों का कोशमात्र मानना वैसा ही है जैसे सागर को तरङ्गों का समुदायमात्र मान कर उसकी स्वतन्त्र सत्ता अमान्य कर दी जाय। रति पहले होगी, तभी अन्य भाव उसमें संचरण करेंगे, इस व्यावहारिक सिद्धान्त के विपरीत पुष्ट तर्क का अभाव है अतएव शुक्लजी आगे वहीं कहते हैं :

भावकोश से अभिप्राय भावसमष्टि नहीं है, बल्कि अन्तःकरण में संघटित एक प्रणालीमात्र है जिसमें कई भिन्न भावों का संचार हुआ करता है। जैसे 'रति' की प्रणाली के भीतर जो भाव प्रकट होते हुए कहे गये हैं, 'रति' उनसे संयोजित कोई मिश्रभाव नहीं है। (वही)

रति आदि को भावकोश तभी कहा जा सकता है जब अन्य भावों के संचरण से पृथक् उसकी सत्ता प्रतीत न होती हो। रति की प्रतीति स्वतन्त्र भी होती है, उसके अपने अनुभाव होते हैं और सब से बड़ी बात है कि कारणरूप विभाव तो उसके ही होते हैं :

आजु सुभायन ही गई बाग, बिलोकि प्रसून की पाँति रही पगि।
ताही समै तहँ आए गोपाल, तिन्हैं लखि औरौ गयौ हियरौ ठगि॥
पै द्विजदेव न जानि पर्‌यौ धौं कहा तेहि काल परे अँसुवा जगि।
तैं जो कह्यौ सखि लोनो सरूपु, सो मो अँखियान में लोनी गई लगि॥

यहाँ अश्रु अनुभाव रति का ही है, कोई शङ्का या विषाद अश्रु-कारण नहीं है और 'गोपाल' आलम्बन तो रति का है ही। आवश्यक नहीं कि संचारी के बिना स्थायी का पता न रहता हो कि उसे भावकोश माना जाय, प्रत्युत संचारी भावों के कारण भी अलग होते हैं जैसा कि शुक्लजी ने मान्य किया है। प्रणाली की स्थिरता ही भाव की स्थायिता है। परन्तु प्रणाली तो संचारी की भी होती है, चाहे स्थिर न होती हो।

बीजभाव

शुक्लजी के समक्ष प्रश्न है कि किसी पात्र को देखकर रसानुभूति होती है जबकि दूसरा काव्य सुनकर या नाट्य देखकर भी मूर्तिवत् रहता है। इसके समाधान हेतु वे 'बीजभाव' की स्थापना करते हैं :

> जिसकी प्रेरणा से घटनाचक्र और अनेक भावों के स्फुरण के लिए जगह निकलती चलती है, इस बीजभाव को साहित्य-ग्रन्थों में निरूपित स्थायी भाव और अङ्गीभाव, दोनों से भिन्न समझना चाहिए।…ऐसे बीजभाव की प्रतिष्ठा जिस पात्र में होती है, उसके सब भावों (कोमल या कठोर) के साथ पाठक की सहानुभूति होती है। अर्थात् पाठक या श्रोता भी रस-रूप में उन्हीं भावों का अनुभव करते हैं जिन भावों की वह व्यञ्जना करता है। ('चिन्तामणि', पृ० 178-79)

पात्र में बीजभाव की चर्चा नितान्त विवादग्रस्त है। 'पात्र' से शुक्लजी का क्या अभिप्राय है? वे कदाचित् राम, सीता आदि पात्रों को लेना चाहते हैं जिनके साथ सहृदय की सहानुभूति होती है। परन्तु पात्र के ही भावों का अनुभव सर्वत्र सहृदय को नहीं होता। राम और सीता में दाम्पत्य-प्रेम है, परन्तु भारतीय रसिक की एकानुभूति वहाँ नहीं देखी जाती, वह उसे तटस्थ-भाव से लेता है, क्या माना जाय कि वहाँ प्रेम बीजभाव नहीं है? परशुराम के क्रोध के साथ कोई सहानुभूति नहीं है तो उस क्रोध को बीजभाव भी न मानना चाहिए। बीजभाव होगा तब सहानुभूति होगी और सहानुभूति के आधार पर बीजभाव निश्चित होगा, यह ऐसा अन्योन्याश्रय है जो उसकी परिभाषा में बाधक है।

वस्तुतः बीजभाव सहृदय में रहता है, पात्र में नहीं। पात्र तो माध्यममात्र है जिससे उस बीजभाव का उपस्थापन या अभिव्यञ्जन होता है जो सहृदय के अन्तःकरण की विभूति है। धुआँ देखकर अग्नि का अनुमान भी वे ही कर पाते हैं जिनमें दोनों के साहचर्य की वासना रहती है, इसी प्रकार वासना से सम्पन्न सहृदय को ही भाव की रसात्मक अनुभूति होती है: 'सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्'। सभी पाठकों या श्रोताओं या दर्शकों को रसानुभूति नहीं होती क्योंकि सब वासनावान् सहृदय नहीं होते। अतः वासना से भिन्न किसी बीजभाव की कल्पना नहीं बनती। पात्र तो वासना के व्यञ्जक हैं, उनमें अभिनयात्मक अनुभाव ही रहते हैं, भाव (या बीजभाव) नहीं। अनुमानवादी आचार्य भी पात्र में भाव की सत्ता नहीं मानते, असत् एवम् अभिनीत (अनुकृत) भाव ही रस है जिसकी चर्वणा (आस्वाद) सहृदय की वासना से ही होती है: 'सहृदय-वासनया चर्व्यमाणः।'

बिम्बग्रहण

आचार्य शुक्ल संकेतग्रह की शास्त्र-वर्णित प्रक्रिया से असन्तुष्ट हैं क्योंकि उसमें बिम्बग्रह का समावेश नहीं हो पाता:

> हमारे यहाँ आचार्यों ने संकेतग्रह के जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा ये चार विषय तो बताए, पर स्वयं संकेतग्रह के दो रूपों का विचार नहीं किया।

> अभिधा द्वारा ग्रहण दो प्रकार का होता है—बिम्बग्रहण और अर्थग्रहण। किसी ने कहा 'कमल'। अब इस 'कमल' पद का ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि ललाई लिए हुए सफेद पंखड़ियों और नाल आदि के सहित एक फूल का चित्र अन्तःकरण में थोड़ी देर के लिए उपस्थित हो जाय, और इस प्रकार भी कर सकता है कि कोई चित्र उपस्थित न हो, केवल पद का अर्थमात्र समझकर काम चलाया जाय।…कवि का लक्ष्य 'बिम्बग्रहण' कराने का रहता है…वस्तुओं के रूप और आस-पास की परिस्थिति का ब्यौरा जितना ही स्पष्ट या स्फुट होगा, उतना ही पूर्ण बिम्बग्रहण होगा…। ('चिन्तामणि'—पृ० 1-2)

संकेतग्रह से बिम्बग्रह का कोई सम्बन्ध नहीं। शब्द और अर्थ का जो अभेद व्यवहार में चलता है, उसी को संकेत कहते हैं, यह वाच्यार्थ के बोध का कारण है। बिम्बग्रह तो श्रोता की प्रतिभा का स्फुरण है और तदर्थ कवि पर 'स्पष्ट या स्फुट ब्यौरा' देने का कार्यभार शुक्लजी भी डालते हैं। यदि अभिधा द्वारा या संकेत द्वारा ही बिम्ब का काम चलता होता तो तदर्थ सामग्री-योजना की अपेक्षा ही क्या रहती ? 'कमल' मात्र कहने से बिम्बग्रह वैसा ही है जैसा प्रिय के नाम श्रवण से उसके प्रासंगिक कार्य-कलाप अन्तःकरण में उभरते हैं। इसके लिए व्यक्ति की मनःस्थिति उत्तरदायी है।

ऊपर देखा गया कि आचार्य शुक्ल स्वतन्त्र विचारक के रूप में जितने सामान्य हैं, शास्त्रीय चिन्तक के नाते उतने ही अविश्वसनीय हो जाते हैं। इसका कारण यह रहा है कि शास्त्रों और शास्त्रज्ञों का घनिष्ठ संपर्क साधे बिना ही उन्होंने इस क्षेत्र में प्रयास किये हैं।

डा० श्यामसुन्दर दास

आचार्य शुक्ल के सम-सामयिक विचारक डा० श्यामसुन्दर दास शास्त्रीय गरिमा की रक्षा में अधिक कृतकार्य देखे जाते हैं। परन्तु समय की धारणाओं ने सभी को प्रभावित किया था और डा० दास भी उसके अपवाद नहीं हैं। पश्चिम की चिन्तना का अतिशय प्रभाव देखकर राष्ट्रवाद का एक उभार आया जिसके फलस्वरूप योगभूमियों के आधार पर रसतत्त्व की विचारणा प्रसूत हुई। आचार्य केशवप्रसाद मिश्र ने मधुमती भूमिका को लेकर रसानुभूति पर विचार किया और डा० श्यामसुन्दर दास ने अपने ग्रन्थ 'साहित्यालोचन' में उसे यथावत् मान्य किया। 'ध्वनिसिद्धान्त तथा तुलनीय साहित्य-चिन्तन' पृ० 454-72 में इस पर विशेष विचार किया गया है। यहाँ कतिपय तथ्य द्रष्टव्य हैं :

"मधुमती भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता

नहीं रह जाती। शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों की पृथक् प्रतीति वितर्क है। दूसरे शब्दों में वस्तु, वस्तु का सम्बन्ध और वस्तु के सम्बन्धी इन तीनों के भेद का अनुवाद करना ही वितर्क है। जैसे 'यह मेरा पुत्र है' इस वाक्य में पुत्र, पुत्र के साथ पिता का जन्य-जनक-सम्बन्ध और जनक होने के नाते सम्बन्धी पिता इन तीनों की पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है। इस पार्थक्यानुभव को अपरप्रत्यक्ष भी कहते हैं, केवल वस्तुमात्र का आभास मिलता रहता है, उसे परप्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं—जैसे पुत्र का केवल पुत्र के रूप में प्रतीत होना। इस प्रकार प्रतीत होता हुआ पुत्र प्रत्येक सहृदय के वात्सल्य का आलम्बन हो सकता है। चित्त की यह समापत्ति सात्त्विक वृत्ति की प्रधानता का परिणाम है। रजोगुण की प्रबलता भेदबुद्धि और तत्फल दुःख का तथा तमोगुण की प्रबलता अबुद्धि और तत्फल मूढ़ता का कारण हैं। जिसके दुःख और मोह दोनों दबे रहते हैं, सहायकों से शह पाकर उभरने नहीं पाते, उसे भेद में भी अभेद और दुःख में भी सुख की अनुभूति हुआ करती है। चित्त की यह अवस्था साधना के द्वारा भी लायी जा सकती है और न्यूनातिरिक्त मात्रा से सात्त्विकशील सज्जनों में स्वभावत: भी विद्यमान रहती है। इसकी सत्ता से ही उदारचित्त सज्जन वसुधा को अपना कुटुम्ब समझते हैं और इसके अभाव से क्षुद्रचित्त व्यक्ति अपने-पराये का बहुत भेद किया करते हैं और इसीलिए दुःख पाते हैं, क्योंकि 'भूमा वै सुखं नाल्पे सुखमस्ति'।" (साहित्यालोचन, सं० 16, पृ० 212 पर आचार्य केशवप्रसाद मिश्र का उद्धरण)।

1. आचार्य मिश्र निर्वितर्क समापत्ति को 'मधुमती' बताते हैं जिसमें स्थूल विषयों को लेकर एकाग्रता का अभ्यास चलता है ('योगसूत्र', 1/42) जबकि निर्विचार समापत्ति में मधुमती भूमिका का स्थान है और उसमें पुत्रादि स्थूल विषय न रह कर तन्मात्रादि सूक्ष्म विषय आलम्बन होते हैं (वही, 1/43)।

2. मधुमती कोई ऊँची योगभूमि नहीं और उसे भी दो सीढ़ी नीचे खींचा गया है। योगी के लिए मधुमती एक बाधा है जिसमें स्वर्ग के विविध प्रलोभन—अप्सराएँ, अमृत, कल्पवृक्ष आदि—घेरते हैं। (वही, 3/51, 'साहित्यालोचन', पृ० 213)

3. निर्वितर्क समापत्ति में शब्द, अनुमान, स्मृति आदि का मिश्रण नहीं रहता जबकि आचार्य मिश्र 'पुत्र' शब्द का मिश्रण मान लेते हैं—निर्वितर्क भूमि में तो प्रज्ञा वस्तु से एकाकारता पा जाती है। ('योगभाष्य', 1/43)

4. मधुमती भूमिका योगी की वह एकाग्र दशा है जिसे आगे की भूमिका प्राप्त करने में बहुत बड़ी बाधा माना गया है। इसके विपरीत रस परमप्रयोजन होने के साथ निर्विघ्न प्रतीति है।

5. रसभूमि योगभूमि से सर्वात्मना भिन्न है। मधुभूमिक योगी भी रसास्वाद-क्षण में रसभूमि पर ही स्थित होगा। रसभूमि व्यावहारिक विश्वभावना-भूमि से

भिन्न है क्योंकि विश्वभावना मानव के उदात्त चरित्र का स्थायी तत्त्व है जबकि रस क्षणिक प्रत्यय है। डा० श्यामसुन्दर दास का कथन है :

> साधक और कवि में अन्तर केवल यही है कि साधक यथेष्ट काल तक मधुमती भूमिका में ठहर सकता है, पर कवि अनिष्ट रजस् या तमस् के उभरते ही उससे नीचे उतर पड़ता है। जिस समय कवि का चित्त इस भूमिका में रहता है, उस समय उसके मुँह से वह मधुमयी वाणी निकलती है जो अपनी शब्दशक्ति से उसी निर्वितर्क समापत्ति का रूप खड़ा कर देती है जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है। यही रस की 'ब्रह्मास्वाद-सहोदरता' है। ('साहित्यालोचन', पृ० 214)

1. मधुमती ब्रह्मास्वाद-दशा नहीं है कि रस को उससे तुलनीय बनाया जाय।

2. जो रूप कवि शब्दशक्ति से खड़ा करता है, वह निर्वितर्क समापत्ति या मधुमती भूमिका ही है, यह प्रमाणित नहीं।

अभिनवगुप्तपादाचार्य एक ऐसे विचारक हैं जिन्होंने 'ध्वन्यालोक-लोचन' और 'अभिनवभारती' में रस पर सर्वाधिक विचार किया है। 'अभिनवभारती'-अध्याय 6—'रससूत्र' की व्याख्या में अभिनव ने जो कुछ कहा है, उसका सार इस प्रकार है :

1. रसास्वाद प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणों के द्वारा जनित बोध से भिन्न है—लौकिक प्रत्ययों के अर्जन में विघ्न आते हैं जबकि रस-चर्वणा निर्विघ्न प्रतीति है।

2. वह योगियों की सालम्बन प्रतीति से भिन्न है क्योंकि उसमें सौन्दर्यालम्बन नहीं होता जबकि रस का आलम्बन सौन्दर्य है। निरालम्ब योगभूमि से भी भिन्न है क्योंकि रस सालम्बन होता है।

3. योगी की चेतना स्वनिष्ठ रहती है जबकि रस का प्रमाता स्व-पर-मुक्त रहता है।

4. सभी योगियों की समापत्तियों में विघ्न आते हैं जबकि रस निर्विघ्न प्रत्यय है।

योगियों का ब्रह्मास्वाद क्या होता है, विवेचना में नहीं आता, परन्तु 'संविद्-विश्रान्ति' के आधार पर रस को उसके समकक्ष (सहोदर) कहा जाता रहा है। यह संविद्विश्रान्ति राजस काम-सुख और तामस निद्रा की सुषुप्त-दशा में भी मिल जाया करती है, यद्यपि विरल है। मन:सत्त्व के उद्रेक की संविद्विश्रान्ति रस है और ब्रह्मास्वाद भी संविद्विश्रान्ति की ही जीवन्मुक्त-दशा है। इस आधार पर ही दोनों तुलनीय हैं, न कि योगभूमि का आग्रह अपेक्षित रहा है।

आचार्य चन्द्रवली पाण्डेय

पाण्डेयजी के समक्ष मधुमती भूमिका वाली मान्यता रही है जिसमें निर्विचार

समापत्ति की अनुपपत्तियाँ देखी गयी हैं अतएव वे 'विशोका' योगभूमि को रस-भूमि मानने का आग्रह करते हैं। यह अस्मितानुगत योगभूमि है जो संप्रज्ञात समाधियों में उच्चतम होने से मान्य बनी है। अभिनव के आधार पर देखा गया कि संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात दोनों ही समाधियों का आग्रह रसास्वादभूमि के लिए अमान्य रहा है। कुछ अन्य अनुपपत्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं :

1. विशोका भूमि में अन्तःकरण-युक्त आत्मा पर ध्यान टिकाया जाता है, फलतः चित्तवृत्ति आत्म-प्रधान हो उठती है। क्या रस में चित्तवृत्ति गौण और आत्मा प्रधान है ?

2. आत्मा की प्रधानता मानने पर द्रष्टा का व्यक्तित्व तो बना रहेगा जो योग में यथास्थित रहता है। रसास्वाद में व्यक्तित्व का विगलन अनिवार्य रहता है।

3. निरवच्छिन्न आनन्द-दशा को लेकर रसभूमि को 'विशोका' नाम दिया जाय तो योग-सीमा का अतिक्रमण है क्योंकि विशोका भी अस्मितानुगत समाधि है जो अवच्छिन्न रहती है, अस्मिता ही उसे सीमित करती है।

4. रस में दुःखाभाव रहता है, इस आधार पर ही 'विशोका' नाम दिया जाय तो करुण रस का क्या होगा ? उसमें तो शोक का ही आस्वाद होता है। रसदशा में शोकहीनता मानें तो करुण का अन्य रसों से अन्तर क्या बनेगा ?

5. व्यक्ति-सम्बन्ध-रहित साधारणीकृत चित्तवृत्ति (वासना) का आस्वाद रस है जिसमें वृत्तियों का पृथक् अस्तित्व प्रधान रहता है : 'स्थायी भावो रस : स्मृतः' का यही अभिप्राय है। वृत्ति-सूक्ष्मता (साधारणीकरण) रस का साधक है न कि वृत्तिहीनता। अस्मिता तो अहंकार की सूक्ष्म दशा है जिसमें व्यक्तिसत्ता की प्रतीति रहती है जो रस में बाधक है ·

6. यह भी द्रष्टव्य है कि योग-भूमियाँ दुःख की अभाव-परक सापेक्ष चित्त-दशाएँ हैं। योग में दुःखाभाव ही मोक्ष है। रस दुःखाभाव नहीं है, सुख-दुःख दोनों की आनन्दमयी परिणति है।

डा० भगवानदास

अस्मितानुगत योगभूमि के दो अंश हैं—विशोका और ज्योतिष्मती। विशोका को लेकर ऊपर विचार किया गया, अब डा० भगवानदास की स्थापना को देखना है जो दूसरी भूमि 'ज्योतिष्मती' को रसभूमि मानते जान पड़ते हैं। उन्होंने 'अस्मिता' नाम ही लिया है और उसे रस की भूमि माना है परन्तु 'विशोका' से भिन्न 'ज्योतिष्मती' ही बचती है जो संप्रज्ञात समाधियों में अन्तिम है। कदाचित् 'अस्मिता' नाम से वे उसी को लेना चाहते रहे हों या शुद्ध 'अस्मिता' ही उनकी दृष्टि में रही हो।

'ज्योतिष्मती' को लेकर देखा जाय तो वे ही सब विप्रतिपत्तियाँ आती हैं

जिन्हें ऊपर दो सन्दर्भों में देखा गया है। योगभूमि को रसभूमि मानने का आग्रह-मात्र कहा जा सकता है जबकि तत्त्व कुछ नहीं है। अस्मिता पर ध्यान केन्द्रित करना योग का शब्दार्थ है, काव्य में वैसा कुछ भी कर्तव्य नहीं—जो उपलब्ध होता है, तदर्थ आयास नहीं करना पड़ता।

'अस्मिता' अपने-आप में कोई योगभूमि नहीं है, वह तो 'अस्मि' (हूं) का भाव है। व्यक्ति का एक सूक्ष्म अहंभाव अस्मिता है जिसमें स्व-सत्ता का विना परिहार किये चैतन्यस्वरूप का बोध रहता है—फलत: अन्त:करण-समेत आत्मा का समुदित रूप अस्मिता है। रसबोध में 'अस्मि' का भी तिरोभाव माना गया है क्योंकि व्यक्तित्व का विलय आस्वाद की पहली शर्त है। फिर 'अस्मि' को केन्द्र बनाकर भोक्ता अन्य चित्तवृत्तियों से कट जाता है जबकि रस तो स्थायी भाव-वृत्तियों का आस्वाद है। वृत्ति-रहित अस्मिता को रसभूमि नहीं कहा जा सकता।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

शास्त्र की चर्चा करते समय हमें सावधान रहना चाहिए कि हम किसी रूढ़ि या पुराणवाद अथवा अतीत-प्रियता के शिकार न हो जायँ, परन्तु साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि शास्त्रीयता के सन्दर्भ कतिपय परिभाषित विधानों के साँचे में ढल कर ही चमकते हैं और अपनी आभा से परम्परानुप्राणित ज्ञानधारा में प्रतिविम्बन ले कर नव्य ज्योति:-श्रेणी बनाते हैं। रूढ़िवादी उस चकाचौंध में खो जा सकता है तो मौलिकता का अतिवादी उसे बहुत दूर से देख कर और अटकल लगा कर विवेचनाभासों में बिखर सकता है। आज मध्यमार्ग अपनाना बहुत कुछ असंभव हो गया है। रस-दृष्टि ऐसा ही एक शास्त्रीय सन्दर्भ है जिसके परम्परागत परिभाषा-पुष्ट चिन्तन को अधुनातन मनीषी में यथावत् सुलभ करना चाहें तो निराश होना पड़ सकता है और आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी अधुनातन भी थे, मनीषी भी। इस तथ्य को सामने रख कर ही हम आचार्य वाजपेयी के रसचिन्तन को समझ सकते हैं। विषय पर आने से पूर्व शुक्लयुग की विवेचना-धाराओं पर भी एक दृष्टिपात कर लेना चाहिए।

आचार्य शुक्ल के समय में पश्चिम की समीक्षा ने चकाचौंध पैदा कर दी थी—नवीनता का आग्रही हिन्दी-विचारक भी उससे बचा न रह सका तो यह युगसापेक्ष भी था और स्वाभाविक भी। इसके विना हम भारत के पुरातन वैभव पर लगी काई को माँज नहीं सकते थे और न ही उसमें नई चमक ला सकते थे। इसी परिस्थिति में रसविषयक समीक्षा ने त्रिपथगा का रूप ग्रहण किया। मूल-धारा पाण्डित्यपूर्ण चिन्तन के साथ चलती रही जिसके प्रतिनिधि के रूप में कुछ आगे चलकर आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र को देखा जा सकता है। दूसरी धारा

पाश्चात्य चिन्तन के प्रसार में होकर वह चली और अपने शास्त्रों में उसके तत्त्व खोजने लगी। 'हमारे यहाँ भी ऐसा ही है' शैली में यह धारा शास्त्रनिरपेक्ष रह कर भी पारिभाषिक शब्दावली को नये अर्थ देने और गुम्फित करने लगी—इसे स्वतन्त्र चिन्तन कहा गया जिसका प्रतिनिधित्व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को मिला। यह धारा आधुनिक मनोविज्ञान का शैशव ही था। डा० नगेन्द्र ने इसे आगे बढ़ाया और शास्त्रों में आधुनिक मनोविज्ञान खोजने और उसी को पोषण देने में जुट गये, परन्तु शुक्लजी के मूल चिन्तन को नया रूप देना सरल नहीं था। तीसरी धारा दूसरी धारा की प्रतिक्रिया लेकर उदित हुई। उसका नेतृत्व आचार्य केशवप्रसाद मिश्र तथा डा० भगवानदास जैसे मनीषियों ने सँभाला जो योगशास्त्र की भूमिकाओं में रस-मनोविज्ञान के संवेदन का अनुसन्धान कर चले। राष्ट्रवाद का यह दबा हुआ रूप था जो काव्यशास्त्रीय दर्शन को यथावत् न ले पाकर योग-दर्शन की शरण में अपनी रक्षा पाना चाहता था।

पहली (मूल) धारा को शेष दोनों ने इस प्रकार दबाया कि साधारणीकरण जैसे परिनिष्ठित पद युनिवर्सलाइज़ेशन, जनरलाइज़ेशन जैसे शब्दों के अनुवाद मात्र बन कर जीवित रहने को बाध्य हो गये। फिर भी एक अनिश्चय की स्थिति आ गयी जो समन्वय का मार्ग खोजना चाहती थी और यथाशक्य शास्त्रीयता की रक्षा भी करना चाहती थी। इसे यदि चौथी धारा माना जाय जो उक्त तीनों के सामंजस्य की संगम-धारा बनी, तो आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी को प्रतिनिधि हिन्दी-विचारक मानना चाहिए।

हिन्दी के नव्य मनीषी से आशा करना कि वह शास्त्रीय यान्त्रिकता का अनुशासन मान कर चलेगा, न संगत ही है और न व्यवहार्य। वह यदि वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक सरणि का दावा करके भी विज्ञान और मनोविज्ञान की प्रमित स्थापनाओं से कन्नी काट जाय तो भी सह्य मानना चाहिए, फिर शास्त्रों का तो मानसतत्त्व-चिन्तन भी अपना होता है। इन सब जटिलताओं से परे, क्लासिक्स् की अवज्ञा करके, एक स्वच्छन्द विचारक के रूप में ही हिन्दी-मनीषी को लिया जाय और तब आचार्य वाजपेयी का मूल्यांकन किया जाय कि उनकी अवधारणाएँ शास्त्रीय सीमाओं का कितना स्पर्श करती हैं, सर्वथा समुचित होगा। कतिपय शीर्षकों में बाँट कर विविक्त उपस्थापना अपेक्षित है :

काव्य की परिभाषा

'रस' तत्त्व को समझने में सर्वप्रथम काव्य-लक्षण को लिया जाना चाहिए। काव्य के स्वरूप में ही 'रस' का समावेश किसी-न-किसी प्रकार देखा जाता है। मम्मट की सर्वविदित परिभाषा में निर्दोषत्व, सगुणत्व और सालंकारत्व का समावेश है और तीनों ही रस-सापेक्ष शब्द हैं। शब्द और अर्थ का 'इतरेतरयोग' भी रस

तत्त्व का सहायक है। उसे सामने रख कर आचार्य वाजपेयी की परिभाषा पर विचार करना चाहिए: 'काव्य प्रकृत मानव अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है, जो मनुष्यमात्र में अनुकूल भावोच्छ्वास और सौन्दर्य-संवेदन उत्पन्न करता है।' ('नया साहित्य : नये प्रश्न', पृ० 18)

यह पूरा वाक्य व्याख्या-सापेक्ष है। यह बात दूसरी है कि हिन्दी का छात्र शब्दों को रट ले और विचार करने से उदासीन रह कर दुहराता रहे, यह भी दूसरी बात है कि कतिपय प्रबुद्ध अध्येताओं की दृष्टि में अधुनातन सन्दर्भों में इससे अच्छी परिभाषा नहीं बन सकती। परन्तु ये प्रश्न उठने स्वाभाविक हैं—अनुभूति, भावोच्छ्वास, संवेदन, सौन्दर्य, कल्पना आदि शब्द किस दर्शन या मनोविज्ञान के परिभाषित शब्द हैं ? क्या कोई स्वतंत्र काव्यदर्शन है जिसके आधार पर इन का पारिभाषिक अर्थ लिया जाय ? क्या मनीषी ने स्वयं कोई दर्शन स्थापित किया है जिसके अनुसार इन तथ्यों को परिभाषित कर काव्य-लक्षण को सुबोध बनाया जा सके ? ये सभी शब्द अमूर्त तथ्य प्रस्तुत करते हैं, अतः इन्हें समझ कर ही काव्य को समझा जा सकेगा। इन प्रश्नों को सामने रख कर उक्त परिभाषा के वाक्यांशों पर विचार करना चाहिए।

प्रकृत मानव अनुभूति : यहाँ यह विविक्त नहीं है कि आचार्यजी 'प्रकृत मानव' से तात्पर्य रखते हैं या 'मानव की प्रकृत अनुभूति' से। मनोविश्लेषण के अनुसार मानव प्रकृत और अप्रकृत हो सकता है। क्या अप्रकृत (अब्नार्मल) मानवमात्र को काव्य के क्षेत्र से बहिष्कार दे दिया जाय ? क्या काव्य में अप्रकृत मानव के चित्र नहीं हो सकते ? सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अप्रकृत मानव की अनुभूतियाँ भी परिस्थितिविशेष में प्रकृत हो सकती हैं, दूसरी बात यह कि अप्रकृत अनुभूतियाँ भी काव्य-विषय बन सकती हैं। अतः 'मानव की प्रकृत अनुभूति' से भी क्या तात्पर्य हो सकता है ? 'प्रकृत' का स्वाभाविक अर्थ लिया जाय तो भी निस्तार नहीं क्योंकि जब अनुभूति होगी तब स्वभाव से ही निष्पन्न होगी, चाहे वह स्वभाव किसी अप्रकृत मानव का ही क्यों न हो।

मनोविश्लेषण में काव्य को अप्रकृत मानस की उपज माना जाता है। कदाचित् वाजपेयी जी उसको निरस्त करना चाहकर कवि की प्रकृत अनुभूति पर बल देना चाहते हैं। परन्तु यहाँ फिर भी इस विशेषण की सार्थकता चिन्त्य है। 'मानवमात्र के भावोच्छ्वास' के पूर्व यह विशेषण अधिक सार्थक होता क्योंकि प्रकृत मानव में ही काव्य द्वारा अनुकूल भावोच्छ्वासों की निष्पत्ति संभव होती है।[1]

मानवमात्र में अनुकूल भावोच्छ्वास : यह वाक्यांश रसानुभूति या काव्य-बोध से सम्बद्ध है जिसका मेरुदण्ड सहृदय या रसिक है क्योंकि शास्त्र-परम्परा-सम्मत है

कि रसिक को ही रसास्वाद होता है :

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेद् ।

अर्थात् रसास्वाद उन्हीं सभ्यों को होता है जिनमें स्थायी भाव की वासना (सहज या अर्जित संस्कार) होती है। आचार्य वाजपेयी ऐसा मानकर चले जान पड़ते हैं कि मानव होना ही पर्याप्त है और काव्य द्वारा 'अनुकूल भावोच्छ्वास' उद्भूत हो जायगा। यहाँ वे न केवल शास्त्र-सीमा से बाहर बात करते हैं, अपितु व्यवहार की भी उपेक्षा कर चलते हैं। भाषा, भाव, शैली आदि के संस्कारों से रहित पुरुष (स्त्री भी) में काव्यजनित भावोच्छ्वास असंभव है। मानव के साथ 'मात्र' लगा देने से विषय और भी चिन्तोत्तेजक हो उठा है।

'भावोच्छ्वास' शब्द जब तक परिभाषा-बद्ध न किया जाय, तब तक लाक्षणिक है और लक्षण-वाक्य में उसका प्रयोग औपचारिक विस्तार लेकर दुरूह बन जाता है—आया, 'उच्छ्वास' प्रश्वास का सहचर होकर यहाँ क्या तात्पर्य रखता है? माना कि शब्द बड़ा मोहक है, पर परिभाषा की वैज्ञानिकता के अनुरूप नहीं—'भाव' शब्द की पुरातनता पर नवीनता का 'गाउन' डालना भर है। रही 'अनुकूल' की बात—'सौन्दर्य-संवेदन' की अनुकूलता ही काव्य की देन है, 'भाव' तो अनुकूलवेदनीय भी हो सकता है और प्रतिकूलवेदनीय भी। 'शोक' कभी अनुकूल भावोच्छ्वास नहीं होता परन्तु रसात्मक रूप में वह अनुकूलवेदनीय बन जाता है। यही शास्त्रसम्मत रहा है और यही व्यावहारिक भी लगता है।

सौन्दर्यमय चित्रण और सौन्दर्य-संवेदन : चित्रण की सौन्दर्यमयता शैलीगत है जबकि संवेदन का विषयीभूत सौन्दर्य रसात्मक अनुभूति से भिन्न नहीं। आचार्य वामन ने प्रथम वर्ग के ही 'सौन्दर्य' को अलंकार कहा है और इसी के लिए काव्य की प्रयोजनीयता मान्य की है :

काव्यं ग्राह्यमलंकारात् ।

सौन्दर्यमलंकारः ।

चित्रण का सौन्दर्य किस पर निर्भर है, यह आचार्य वाजपेयी बताने में हिचक गए हैं क्योंकि उन्हें वामन के समान ही दोषहानि, गुणालंकारोपादान की चर्चा करनी पड़ती :

स च दोष-गुणालंकार-हानादानाभ्याम् ।

और तब परम्परा-रूढ़ शब्दावली नव्यताजनित भव्यता में बाधा डालती।

यहाँ 'चित्रण' शब्द अतिव्याप्त है—चित्र, प्रतिमा, संगीत आदि में भी सौन्दर्यमय चित्रण से इन्कार नहीं किया जा सकता और तब क्या वे भी परिभाषित काव्य हैं? काव्य-सौन्दर्य शब्दार्थ-सापेक्ष होता है, चित्रणमात्र उसका उपाय नहीं। चित्रादि कलाओं से भी सौन्दर्य-संवेदन ही उपलब्ध होता है, काव्य की विशिष्टता कहाँ है? कल्पना भी सर्वत्र समान है, केवल काव्य की विभूति नहीं।

जहाँ तक 'सौन्दर्य-संवेदन' का प्रश्न है, वह 'रस' के स्थान पर 'सेक्युलर' शब्द मानकर लाया गया है। 'सौन्दर्य' जब संवेदन का विषय माना जाता है तब वह 'एस्थेटिक ब्युटी' अथवा 'एस्थेटिक डिलाइट' का अर्थ देता है जो भारतीय काव्यशास्त्र का रस है। यहाँ अनुभूति-पक्ष में 'सौन्दर्य' का समावेश नहीं किया गया, क्योंकि उसे अभिव्यक्ति-पक्ष या बहिरंग संरचना का गुण माना गया है, संवेदनीय या सुखबोधात्मक अनुकूलवेदनीय तत्त्व नहीं कहा गया। इसके दार्शनिक कारण रहे हैं जिन पर विवाद उठाना व्यर्थ है, परन्तु पश्चिम के अनुवाद पर ही हम कब तक दुग्धचूर्णपोष्य बनाये जा सकेंगे, यह प्रश्न अवश्य है। संवेद्य सौन्दर्य को महत्त्व देने वाले पाश्चात्य विचारकों की अपनी दार्शनिक परम्परा रही है, क्या हम उनके दर्शन को ही आत्मसात् करना चाहते हैं? क्या अपने दर्शन को तिलांजलि देने में ही हिन्दी-मनीषा का कल्याण है? क्या यहाँ का अध्येता वस्तुत: गतानुगतिकता के अतिरिक्त किसी दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक सौन्दर्य को पचा सकता है जबकि उसके संस्थान में उसे स्थान नहीं मिला है? इस 'सौन्दर्य-संवेदन' के उपादान क्या हो सकते हैं जो 'सौन्दर्यमय चित्रण' में आ कर उसकी निष्पत्ति (या उत्पत्ति) करते हैं? क्या विभावादियोजना की उपादेयता इसीलिए त्याज्य हो जायगी कि वह परम्परा-भुक्त है और परिभाषाओं से वैराग्य रखने वाले 'आधुनिक अध्येता' के लिए वितृष्णाजनक या विकर्षणकारी है? क्या पाश्चात्य चिन्तन में उसका स्थान लेने वाले शब्द हैं जिन्हें अनूदित कर काम चलाने का उपक्रम किया जाय?

'सौन्दर्य-संवेदन' को 'रस' की अपेक्षा में व्यापक मानकर चला जा सकता है—वह अपने में वस्तु-सौन्दर्य को भी समेट लेता है। परन्तु वस्तु भी काव्य में रसात्मक या सुन्दर बन जाता है—व्यावहारिक दृष्टि से असुन्दर तथ्य भी वहाँ सुन्दर बन जाते हैं क्योंकि वे किसी-न-किसी भाव के आलम्बनादि बनकर आते हैं और तभी 'अनुकूल भावोच्छ्वास' की संभावना बनती है। अभिनवगुप्त ने इसीलिए स्पष्ट किया है कि वस्तु की प्रधानता में भी चरम निष्पत्ति रसात्मक ही होती है अतएव रस को ही ध्यान में रखकर आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है:

काव्यस्यात्मा स एवार्थ:।

अमूर्त तथ्यों को परिभाषा में मूर्त करना ही शास्त्रों की इतिकर्तव्यता है जबकि अमूर्त सौन्दर्य-संवेदन को अमूर्ततर बनाने में आज सार्थकता मानी जाती है, इस पर विवाद उठाना व्यर्थ है। वाजपेयी जी अपरिभाष्य परिभाषा में जो कुछ कहना चाहते हैं, वह शास्त्रों के निकट भी है, दूर भी।

नैसर्गिक कल्पना : कल्पना पर आने से पहले 'नैसर्गिक' विशेषण पर विचार कर लेना चाहिए। निसर्ग से बाहर भी कोई कल्पना होती है? 'वन्ध्या-पुत्र' की कल्पना निसर्ग में देखी नहीं जाती, फिर भी प्रत्यय में आकर वह भी नैसर्गिक ही

बन जाती है—तब अनैसर्गिक कल्पना क्या होगी जिससे बचाव के लिए विशेषण जोड़ा गया है ? प्रत्यय भी निसर्ग का सर्ग है, बाहरी सत्ता न रखकर भी प्रत्यय की सत्ता से कवि-कल्पना वस्तुओं को रूपायित करती है । अतएव आचार्य मम्मट ने कवि भारती को 'नियति-कृत-नियम-रहित' और 'अनन्य-परतन्त्र' बताया है। कवि-प्रतिभा अनिसर्ग के निसर्गीकरण की क्षमता रखती है, यह सर्वविदित एवं सर्वमान्य है । इसी दृष्टि से भरत ने 'मिथ्याध्यवसाय' को अन्यतम काव्य-लक्षण माना है जिसमें अतथ्य या अवस्तु का निश्चयात्मक वर्णन होता है :

अभूतपूर्वैर्यत्रार्थैस्तत्तुल्यार्थस्य निर्णय: ।
स मिथ्याध्यवसायस्तु प्रोच्यते काव्यलक्षणम् ।। ('नाट्यशास्त्र', 16/16)

अभिनवभारती में कहा गया है :

काव्येषु लोक-विपर्यास-बाहुल्यमवश्यं भवति ।

अर्थात् काव्य में प्राय: लोक के विपरीत वर्णन अवश्य होता है । इसके उदाहरण में आए हुए श्लोक के समान शंकर कवि का सवैया देखा जा सकता है :

भरिबौ है समुद्र को संबुक में, छिति कौ छिगुनी पै उछारिबौ है ।
बंधिबौ है मृनाल सौं मत्त करी, जुही-फूल सौं सैल विदारिबौ है ।।
गनिबौ है सितारन कौ कबि संकर, रेनु सौं तेल निकारिबौ है ।
कबिता समुझाइबौ मूढ़न कौ सबिता गहि भूमि पै डारिबौ है ।।

आचार्य वाजपेयी का संभवत: अभिप्राय है कि कल्पना को कवि के निसर्ग से उत्पन्न होना चाहिए—परन्तु कल्पनाहीन कवि होगा ही नहीं और कवि होगा तो उसका निसर्ग भी कवि का अपरिहार्य भाग होगा । अनैसर्गिक कल्पना कवि-कल्पना ही न होगी और तब कविकर्म (काव्य) ही क्या होगा ?

अब कल्पना पर आया जाय । कल्पना की जो परिभाषा कालरिज् ने दी है, उसे पाठकों पर छोड़कर वाजपेयी जी के विचार द्रष्टव्य हैं जो वस्तुत: भारतीय दृष्टिकोण से उपस्थापित हैं :

> भारतीय दृष्टि से कल्पना वह साधन है जो मूलवर्ती भावसत्ता को हृदयग्राही बनाता है···भाव-विरहित कल्पना कवि-कल्पना नहीं है । मानसिक विश्लेषण और बौद्धिक चेष्टाएँ निरर्थक हैं, यदि वे मुख्य भाव या अनुभूति का पोषण नहीं करतीं । ('आधुनिक साहित्य', पृ० 72)

> कवि की कल्पना जितनी ही नैसर्गिक तथा प्रशस्त होगी, उन्नत काव्य का सृजन करेगी, उतनी ही चित्रण की सौन्दर्यमयता बढ़ जाएगी और उतना ही समुन्नत और प्रगाढ़ उसका संवेदन होगा । ('नया साहित्य : नये प्रश्न', पृ० 18)

कल्पना का स्वरूप सर्वसम्मति से रूपात्मक माना गया है। रूप की सत्ता भावाश्रित होती है। अतः साहित्य भावाश्रित रूप ही है। इस भावाश्रित रूप से भिन्न साहित्य में कोई दूसरी वस्तु-सत्ता रह ही नहीं सकती··· साहित्य में रूप ही वस्तु है—वस्तु ही रूप है। वस्तु और रूप के इस अनुस्यूत सम्बन्ध को समझना ही सबसे बड़ी साहित्य साधना है।

(वही, 'निकष', पृ० 3)

कल्पना तो व्यक्ति करता है, पर रूप बहुजन-संवेद्य होता है। इसी कारण इस रूप-तत्त्व में अंगसंगति, अनुक्रम तथा बौद्धिक ग्राह्यता की बहुमुखी सामग्री रहा करती है। वह सारी सामग्री शब्दों का परिधान धारण कर उपस्थित होती है। अतएव शब्दरहित रूप की अपेक्षा यह शाब्दिक रूप अपनी विशिष्टताएँ रखने के लिए बाध्य है। (वही)

कालरिज् की परिभाषा का ही प्रकारान्तर से उपस्थापन उक्त अवतरणों की विशेषता है। यहाँ आकर हमें 'नैसर्गिक' विशेषण की सार्थकता पर आचार्य वाजपेयी के स्पष्ट विचार मिले। परन्तु कल्पना की नैसर्गिकता पर उठाया हुआ प्रश्न यथावत् है। भावाश्रित रूप क्या है, जिसे वाजपेयी जी कल्पना में अपरिहार्य मानते हैं, इसे हृदयंगम करने में आनन्दवर्धनाचार्य सहायक हो सकते हैं :

सरस्वती स्वादु तदर्थ वस्तु
निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति
परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।।

अर्थात् महान् कवियों की सरस्वती रसप्रचुर काव्यार्थ को प्रवाहित करती हुई उनके लोकोत्तर स्फुरणशील प्रतिभा-विशेष को अभिव्यक्ति देती है। यही प्रतिभाविशेष कल्पना है जो प्रत्यक्ष (व्यावहारिक) वस्तु से काव्य-वस्तु को पृथक करती है जिसे आचार्यों ने कवि-शक्ति भी कहा है :

कवि-शक्त्यर्पिता भावास्तन्मयीभावयुक्तितः।
यथा स्फुरन्त्यमी काव्यान्न तथाध्यक्षतः किल ।।

('व्यक्तिविवेक', पृ० 73, उद्धरण)

प्रत्यक्ष वस्तु-शब्दरहित वस्तु तथा कविशक्ति से अर्पित भाव-शाब्दिक वस्तु माना जा सकता है और द्वितीय कोटि की वस्तु को योगदर्शन की भाषा में सविकल्प प्रत्यय कहा जा सकता है जिसे वे (प्रत्यक्ष) 'वस्तुशून्य' बताते हैं :

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।

यही बात काव्य-नाट्य के उदाहरण से भर्तृहरि ने भी कही है :

शब्दोपहित-रूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान् ।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते ।। ('वाक्यपदीय')

अर्थात् कंस आदि पात्र शब्दों में बुद्धिगत आकार लेते हैं और उन्हें प्रत्यक्षवत् कारक मान लिया जाता है। प्रत्यक्ष और विकल्पज (या काल्पनिक) वस्तुओं में अर्थकारिता को लेकर अन्तर देखा जाता है—कंस प्रत्यक्ष होता तब जो प्रतिक्रिया होती, उससे भिन्न प्रतिक्रिया कवि-कल्पना जनित कंस को लेकर देखी जाती है, यहाँ रसात्मक बोध संभव बनता है :

मणि-प्रदीप-प्रभयोर्मणी-बुद्ध्याभिधावतोः ।
मिथ्या-ज्ञानविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ।।
('व्यक्तिविवेक', पृ० 78, उद्धरण)

अर्थात् एक पुरुष मणि-प्रभा को और दूसरा दीप-प्रभा को मणि समझकर दौड़ता है तो दोनों भ्रान्त हैं, परन्तु मणिप्रभा वाला मणि को प्रत्यक्ष पा सकता है जबकि दीपप्रभा वाला निराश होता है। धावन-क्रिया दोनों में देखी जाती है। ऐसा ही मिथ्या प्रत्यय कृत्रिम विभावादि को लेकर देखा जाता है। काव्य की कृत्रिमता में भी रस-परक अर्थक्रिया देखी जाती है।

सौन्दर्य-संवेदन की उत्पत्ति : भावोच्छ्वास और सौन्दर्य-संवेदन की उत्पत्ति को लेकर प्रश्न उठ सकता है कि भाव और सौन्दर्य तो वासना-रूप से स्थायी होते हैं—रसिक में इनकी सुप्तावस्था सदा विद्यमान रहती है, अन्यथा न 'उच्छ्वास' होगा, न 'संवेदन'। तब इन दोनों की उत्पत्ति क्या है? बात इतनी ही है कि काव्य से सहृदय की भाव-वासना उच्छ्वसित होती है जिससे सौन्दर्य संविदित बनता है। यही स्थिति 'उत्पत्ति' नाम से जानी जा सकती है कि 'भावोच्छ्वास और सौन्दर्य-संवेदन उत्पन्न' होते हैं। भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद आचार्यजी को अभिप्रेत नहीं लगता क्योंकि भट्टलोल्लट सौन्दर्य (रस) की ही उत्पत्ति मान लेते हैं। सिद्धान्ततः यह सौन्दर्य भी संवेदनरूप ही होता है क्योंकि संवेदनरूप आनन्द से भिन्न किसी संवेद्य सौन्दर्य की सत्ता पूर्वोपस्थित नहीं होती, फिर औपचारिक कथन मान लिया जा सकता है।

काव्य-लक्षण पर विचार करते हुए देखा गया कि आचार्य वाजपेयी 'रस' आदि रूढ़ शब्दों से हिचकते हैं और स्थानापन्न आधुनिक शब्दों से काम चलाते हैं जिनकी शास्त्रीय सन्दर्भ में पारिभाषिकता प्रायः सन्दिग्ध हो जाती है। कल्पना के परिभाषण में जिस भावसत्ता के हृदयग्राही बनाने की चर्चा आयी है, वह भावसत्ता हृदयगत वासना ही है, काव्य उसे 'ध्वनित' करता है, न कि हृदयगत को ही पुनः हृदयग्राही बनाता है। इस तथ्य पर स्वयं वाजपेयीजी ने रसतत्त्व पर विचार करते समय प्रकाश डाला है।

रसनिष्पत्ति

आचार्य वाजपेयी ने 'रस' के लिए संभवत: 'सौन्दर्य' और 'निष्पत्ति' के लिए 'संवेदन' शब्दों को उपयुक्त माना है क्योंकि 'एस्थेटिक सेन्सेशन्' के अनुवाद में 'सौन्दर्य-संवेदन' ही 'फिट्' बैठ पाता है—'रसनिष्पत्ति' से शास्त्रीय परम्परा की गन्ध भी आती है। यह गन्ध 'आधुनिक अध्येता' के लिए 'हृदयग्राही' नहीं है। आकर्षण और विकर्षण की आँखमिचौनी से परे रखकर देखा जाय तो स्पष्ट होगा कि वाजपेयी जी को समझने के लिए पश्चिम का समीक्षा-शास्त्र पढ़ा हुआ होना चाहिए। वे नवायात अपूर्व शास्त्र की रूढ़ियों से प्रतिबद्ध होकर भी अपनी कारा से मुक्त होकर साँस लेना चाहते हैं। जब हम घर को कारागार समझ लेते हैं तब कारावास भी गृहस्थिति का सुख दे चलता है और जब साथियों की विपुल संख्या के साथ रहने को मिले तब अल्पसंख्यक शास्त्रों को अल्पज्ञों की श्रेणी में डालकर मुक्त गति मानी जा सकती है। फिर भी 'समन्वय' का व्यामोह पीछा नहीं छोड़ता। इस अन्तर्विरोध को हम उनके रस-विषयक विचारों में खोज सकते हैं। वे कहते हैं :

> रस अन्ततः सामाजिक की अनुभूति है। स्वयं कवि और उसकी काव्य-कृति की निर्माण-प्रक्रिया के विवेचन का आग्रह आधुनिक है…भरत मुनि की रस-परिगणना में भी करुण रस का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शृङ्गार और वीर के साथ वह भी प्रधान रस के रूप में स्वीकृत है। आनन्द रसानुभूति का मौलिक लक्षण है। ('राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध', पृ० 91)

रस वह है जो रसित (आस्वादित) होता है—रस्यत आस्वाद्यत इति रसः। सामाजिक सहृदय ही रसयिता हो सकता है :

> काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक्।

अर्थात् काव्य में रसयिता-आस्वादकर्ता ही सब कुछ होता है—केवल वाक्यार्थ का ज्ञाता अथवा पात्रादि का नियोजनक कुछ नहीं होता। पण्डितराज के अनुसार कवि भी सहृदय-कोटि में आ सकता है, यदि वह आस्वाद कर चले—अपनी ही रचना पर मुग्ध हो जाय। वाजपेयी जी यहाँ अभिनवगुप्त आदि के मेल में आकर रस को अनुभूतिरूप बताते हैं जो भावाभिव्यक्ति का नामान्तर है, परन्तु दूसरी ओर सौन्दर्य-संवेदन को काव्य का प्रयोजक मान चलते हैं जिस से लगता है कि रस संवेदनरूप न होकर पृथक किसी सौन्दर्य के रूप में उजागर होता और संवेद्य बनता है। वे पुनः आनन्द को रस का मौलिक लक्षण बताकर उसे संवेदनरूप ही स्वीकार कर लेते हैं क्योंकि आनन्द संवेदन-विशेष का ही नाम है जो वेदान्त, शैवदर्शन आदि के अतिरिक्त आधुनिक मनोविज्ञान को भी अनुमत है। न्याय में सुख को आत्म-गुण मानकर मानस-संवेद्य कहा जाता है—तो क्या आचार्य जी न्याय आदि के 'यथार्थवाद' को मानकर चलेंगे ? उस

स्थिति में ग्रनुभूतिरूप रस का प्रासाद ही ढह जायगा, ग्रर्थात् तब रस ग्रनुभूयमान तत्त्व होगा, ग्रनुभूति नहीं। स्पष्ट है कि किसी एक दर्शन के ग्राधार पर बात न करके, जैसा कह मिला, कहा गया है—जो जिस दर्शन से लगे, लगाया जाय ग्राचार्य जी का स्वतन्त्र काव्यदर्शन मृग्य है।

जहाँ तक करुण के रसत्व का प्रश्न है, भरत मुनि की परम्परा को ही उत्तरदायी ठहराना एकपक्षीय है, ग्ररस्तू भी 'ट्रेजेडी' को ग्रानन्ददायक मानकर चलते हैं :

दि प्लेज़र, व्हिच दि पोइट शुड एफोर्ड, इज दैट, व्हिच कम्स फ्राम पिटी
एण्ड फिग्रर थ्रू इमिटेशन. ('पोइटिक्स' (बूचर), XIV)

शोक के साथ दया ग्रौर भय का योग ग्रावश्यक नहीं, यह करुण ग्रौर ट्रेजेडी में मूल ग्रन्तर है।

अब ध्वनिसिद्धान्त के ग्राधार पर रस-व्याख्या का सन्दर्भ भी द्रष्टव्य है :

ध्वनिसिद्धान्त का ग्राविर्भाव वास्तव में रस की व्याख्या के लिये किया गया। उसे स्वयं में कोई स्वतंत्र सम्प्रदाय नहीं कहा जा सकता···काव्य में रस की निष्पत्ति का विवेचन करते हुए उसने प्रतिपत्ति की कि रस ध्वनित होता है, ग्रर्थात् ग्रनुभूत होता है। ध्वनिमत के द्वारा रस-सिद्धान्त की जो पुनः प्रतिष्ठा हुई ग्रौर उसे जो पूर्णता तथा व्याप्ति मिली, उसके कारण भारतीय मानस को उसने सर्वाधिक ग्राकृष्ट किया।
('प्रकीर्णिका', पृ०, 49-50)

जब काव्य द्वारा रस 'ध्वनित' होता है (सहृदय में व्यक्त होता है) तब वह सहृदय द्वारा 'ग्रनुभूत' होता है। ध्वनन (व्यञ्जना) काव्य-कर्म है जबकि ग्रनुभव रसिक-कर्म। दोनों क्रियाओं में यह शास्त्रीय एवं सूक्ष्म ग्रन्तर तो है ही। ध्वनिमत की मूल 'प्रतिपत्ति' यह है कि रसरूप लेने वाला स्थायी भाव (वासना-रूप से) सहृदय में ही रहता है ग्रौर सुप्त-सा होता है जिसे ग्रानन्दमय रूप में काव्य व्यक्त करता है, यही सहृदय का रसात्मक ग्रास्वाद है—वाजपेयी जी के ग्रनुसार 'ग्रनुभूति' है।

रस का 'ग्रनुभूत' होना सर्वमान्य है, इस पर कोई वैमत्य नहीं कि ध्वनिमत को इस ग्राधार पर कोई महत्त्व दिया जा सके। व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता में काव्य को 'ध्वनि' मानने की प्रतिपत्ति सर्वमान्य नहीं रही है, यहाँ ध्वनिमत विशिष्ट है जो वस्तुव्यङ्ग्य ग्रौर ग्रलंकारव्यङ्ग्य की प्रधानता में रस को गुणीभूत (ग्रलंकार) मानता है तथा यह मान कर चलता है कि महत्त्वपूर्ण व्यङ्ग्यार्थ की गुणीभूतता में मध्यम श्रेणी का काव्य बनता है। ग्रर्थ-गौरव की यह नापतौल काव्यक्षेत्र में सर्वप्रथम ध्वनिमत ही प्रस्तुत करता है। उदाहरणार्थ :

मेरी उपासना करते वे,
मेरी संकेत विधान बना,
विस्तृत जो मोह रहा उनका
वह देवविलास वितान तना। (कामायनी)

अर्थात् काम ही उपास्य था, कामेच्छा ही यज्ञ का विधान था, विलास ही यज्ञ-मण्डप था—अन्य कोई उपास्य, विधान और वितान देवों को मान्य न था। इस प्रकार परिसंख्यालंकार की प्रमुख व्यञ्जना है जिससे दूसरी व्यञ्जना उच्छृङ्खल कामाचरण की होती है और तब कहीं शृङ्गार रस का रूप लेने वाला रतिभाव व्यक्त होता है जो ध्वनिमत के अनुसार सर्वथा उपसर्जनीभूत है अत: इसे रसध्वनि नहीं कहेंगे। रसानुभूति की यह विविधता काव्य-योजना का भाग है जिसे मान्य करने में आपत्ति क्या है जबकि वाजपेयी जी देशकाल आदि के अनुसार रस की गतिमयता स्वीकार करते हैं :

काव्यानुभूति अत्यन्त उच्चतर स्थिति का अनुभव होने के कारण बहुत कुछ समरस या समरूप हुआ करती है। उसमें देशकाल के अनुसार गतिशीलता का तत्त्व भी रहता है और मानवात्मा की विकासावस्था के अनुरूप उसमें व्यापकता और वैशिष्ट्य की भी मात्राएँ रहती हैं।

('नया साहित्य : नये प्रश्न', पृ० 148)

1. 'मानवात्मा की विकासावस्था' से क्या तात्पर्य है? मनोविज्ञान या विज्ञान को लें तो 'आत्मा' जैसी किसी शाश्वत सत्ता को अमान्य करना होगा और तब देशकाल-जन्य परिवर्तन ही आत्मा का स्वरूप-निर्माण करेंगे। शाश्वत तत्त्व का ह्रास या विकास नहीं होता—ऐसी स्थिति में यह वाक्यांश किस धारणा पर प्रतिष्ठित है, निर्णीत नहीं किया जा सकता।

2. शास्त्रीय दृष्टि से काव्यानुभूति (रस) एक निर्विघ्न प्रतीति है। देशकाल के प्रभावादि विघ्न हैं।

'एकाग्र-मनसि च भोक्तर्यास्वादयितृता।' ('अभिनवभारती'—6, रससूत्र) अर्थात् एकाग्र मन वाला भोक्ता (आत्मा) रसयिता होता है। मन की एकाग्रता देशकालावेश-शून्य स्थिति है, वह कारकान्तर-कृत उत्तेजनाओं से रहित अवस्था है अत: उसे विश्रान्ति कहा जाता है। इस प्रसंग में आचार्य अभिनव ने कतिपय रस-विघ्न परिगणित किये हैं—जिन में 'संभावना-विरह' पहला विघ्न है :

संवेद्यमसंभावयमान: संवेद्ये संविदं विनिवेशयितुमेव न शक्नोति,
का तत्र विश्रान्तिरिति प्रथमो विघ्न:। (अभिनवभारती)

अर्थात् किसी कारण से (चाहे आत्मविकास जैसी कोई बात ही क्यों न हो) यदि कोई व्यक्ति संवेद्य की संभावना ही हृदयंगम न कर पायेगा तब संवेद्य (रस) में

उसका संवेदनावेश ही न हो सकेगा और तब वहाँ विश्रान्ति कैसी ?

तदपसारणे हृदय-संवादो लोकसामान्य-वस्तु-विषयः। (वही)

अर्थात् लोकसामान्य वस्तु में सहृदयों के हृदय का संवाद ही उक्त विघ्न को दूर कर सकता है।

यह संवाद जिस सीमा तक अल्प होगा, उसी सीमा तक रस-सामग्री की हृदयंगमता अल्प होगी, फलतः संवादहीन सहृदय में रसनिष्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। हृदय-संवाद की शर्त पूरी हो तो तारतम्य की कल्पना सार्थक नहीं कही जा सकती। तुलसी की चौपाई जिस रसदृष्टि से लिखी गयी, उससे संवाद न पाकर कोई आत्मा के विकास की आड़ में जैसा समझ ले उसी को 'रस' कहना असंगत है—शास्त्रीय दृष्टि से अराजकता है।

3. 'उच्चत्तर अनुभूति' में 'देशकाल' आदि का अन्तर नहीं रहता। ऐसे अन्तरों की परिसमाप्ति ही तो साधारणीकरण है जहाँ व्यक्तित्व भी तिरोहित हो जाता है।

व्यावहारिक दृष्टि से भी भाव का एक सामान्य रूप होता ही है—भूख, काम आदि देश-काल-पात्र-भेद रखकर भी कहीं-न-कहीं साधारणीकृत होकर संवेद्य बनते हैं और वही उच्चत्तर अनुभूति है जहाँ परिवर्तन की कल्पना शास्त्र-सम्मत नहीं—वैसा होता हो तो कहा नहीं जा सकता।

साधारणीकरण

हिन्दी-विचारकों में 'साधारणीकरण' विशेष विवाद का विषय बन गया—इसका कारण कदाचित् वैज्ञानिक व्यवहारवाद का प्रभावातिरेक है जिसमें वैयक्तिक-भौतिक चेष्टाओं से भिन्न किसी 'भाव' की सत्ता मान्य नहीं होती। सामान्य (साधारण) या जाति एक तत्त्व है जो विविधता में एकत्वबोध कराता है और यही तत्त्व निर्विशेष विभावादि के रूप में उभरता है। आचार्य वाजपेयी ने इस विषय पर अनेकत्र विचार किया है जिसका समाहार डा० राममूर्ति त्रिपाठी ने चार सूत्रों में किया है। ('व्यक्ति और साहित्य', पृ० 218)

1. 'भट्टनायक का साधारणीकरण-सिद्धान्त केवल काव्य की सामर्थ्य का लेखा न लगाकर दर्शक की सामर्थ्य का भी व्याख्यान करता है।

भावकत्व और भोजकत्व काव्य-व्यापार हैं अतः काव्य ही भावक तथा भोजक है फलतः साधारणीकरण या भावन काव्य से होता है, सहृदय की शक्ति का कोई लेखा देना भट्टनायक को अपेक्षित नहीं था—होना भी न चाहिए क्योंकि रसिक होने की शर्त पूरी होगी तभी काव्य-व्यापार की चरितार्थता होगी। मीमांसा-दर्शन का भावना नामक व्यापार ही भट्टनायक का काव्य-व्यापार है और मीमांसा में 'भावना' की परिभाषा इस प्रकार है :

भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापार: ।

(मीमांसान्यायप्रकाश)

अर्थात् भावना (भावकत्व) भावयिता (भावक=कारक) का वह व्यापार है जो भविता (होने वाले) के भवन (होने) का जनक होता है। यहाँ साधारणता या निर्विशेषता भवित्री है, जिसे होना है, उसके जनक व्यापार (यहाँ काव्य-व्यापार) का भावयिता (भावक) काव्य है। यही बात भोजना (भोजकत्व) व्यापार पर भी समानरूप से लागू करनी होगी—अर्थात् भोजकत्व वह व्यापार है जो भोक्ता (रसिक) के भोजन (भोग=रसास्वाद) का जनक, भोजक (भोजयिता=काव्य) का व्यापार है। निर्वैक्तिक भाव का आस्वादयिता या भोक्ता रसिक अपने व्यक्तिगत भाव का भोग नहीं करता, इस आधार पर ही 'दर्शक' को लिया जा सकता है, परन्तु भट्टनायक वैसा कहने की आवश्यकता नहीं समझते।

2. 'आचार्यों की यह दलील असाहित्यिक ही है कि पूज्य व्यक्तियों या देव के रति भाव का साधारणीकरण प्रेक्षक को नही हो सकता। जब मूल प्रणेता ने उस भाव की अनुभूति द्वारा उसे प्रस्तुत किया है तो वैसी ही भावसृष्टि प्रेक्षक या पाठक में क्यों न हो सकेगी ?'

यह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर आक्षेप है जिन्होंने भक्ति-रस-सिद्धान्त का दार्शनिक परिशीलन (कदाचित्) न करके भी सर्वथा तात्त्विक विचार किया है। आचार्य वाजपेयी की 'दलील' का व्यवहार-पक्ष दुर्बल देखा जा सकता है—मान लें, किसी रसिक-विशेष के माता-पिता की कामक्रीड़ा का बड़ा उत्तम चित्र कवि करता है और कवि की अनुभूति एवम् अभिव्यक्ति में अपेक्षित पूर्णता है, फिर भी वह रसिक साधारणीकृत भाव (रति) का आस्वाद न कर सकेगा। इस रसिक के लिए वह कविता या तो अकाव्य है, या शृङ्गारी काव्य न होकर भक्ति काव्य है क्योंकि जननी-जनक की रति को भी वह पूज्यभावना से ही देखता है। इसी दृष्टिकोण से आचार्य आनन्दवर्धन ने कालिदास की आलोचना की है कि उन्होंने कुमारसंभव के अष्टम सर्ग में पार्वती-शंकर की विलास-चेष्टाओं का लौकिक-प्राय वर्णन कर दिया है जबकि उन्हीं की (अन्यत्र) प्रतिज्ञा है :

जगत: पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ ।

जो रसिक उन्हें माता-पिता के रूप में आराध्य मानकर काव्य-सेवन करेगा, उसे शृङ्गार-रसास्वाद या साधारणीकरण असंभव ही रहेगा। वहाँ संस्कारी रसिक या तो उदासीन हो जायगा, फलत: उसके लिए वह अकाव्य ठहरेगा या माता-पिता (या आराध्य) के प्रति अपनी रति (भक्ति) का आस्वाद करेगा जो कवि-प्रसूत भाव की अपेक्षा भावान्तर है। शिथिल संस्कारों वाला भारतीय रसिक ही उक्त व्याघात को सह जायगा और संस्कार-भार परे डालकर शृङ्गारी आस्वाद कर पायेगा। इसी आधार पर मध्यकाल के महामनीषियों ने भक्तिरस

की दार्शनिक प्रतिष्ठा की, जिसमें चित्रित भाव के आश्रय और आलम्बन—दोनों ही—समुदित रूप से भक्ति-रसिक के रतिभाव के आलम्बन हो जाते हैं। साधारणीकरण भक्ति-रति का होगा, आश्रयगत रति का नहीं।

3. 'साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता के बीच भावना का तादात्म्य है।'

यह 'भावना' भट्टनायक का काव्य व्यापार नहीं हो सकती, वहाँ 'तदात्म्य' जैसी कोई चर्चा नहीं है। साधारणीकृत भाव निर्विशेष होता ही है, जिसे तादात्म्य की मध्यस्थता नहीं चाहिए। दो पृथक् सत्ताधारियों का तादात्म्य होता है, साधारण या निर्विशेष भावना तो एक होती ही है। भट्टनायक रचयिता को स्थान ही नहीं देते कि उसकी भावना ली जाय, दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उनके मत से सहृदय की वृत्ति का आस्वाद कभी मान्य नहीं—वे स्वगतत्व और परगतत्व दोनों का विरोध करते हैं :

न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रस:···। (काव्यप्रकाश)

ध्वनिमत में रसिक की स्वगत वासना का आस्वाद मान्य है, परन्तु रचयिता वहाँ भी पर्दे के पीछे रखा गया है, काव्य ही सामने है और वाजपेयी जी का ऐसा कथन भी ऊपर आ चुका है। ऐसी स्थिति में साधारणीभाव और तादात्मीभाव में कहीं अन्तर करना होगा जिस पर विस्तार अनपेक्षित है। डा० त्रिपाठी ने वाजपेयी जी को शास्त्रीय संगति देकर समझाने का स्तुत्य प्रयास किया है :

'रचयिता की अनुभूति रचयिता मात्र की न होकर, असाधारण न रह कर, उपभोक्ता का सहृदयमात्र की हो जाय···साधारण हो जाय। ऐसा होने के लिए समस्त कवि-कल्पित या रचयिता द्वारा उपस्थापित रसोपकरण को निर्विशेष हो जाना पड़ेगा।'

ऐसा ही कुछ वाजपेयी जी का अभिमत भी जान पड़ता है।

4. 'साधारणीकरण वास्तव में कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है—केवल किसी पात्रविशेष का नहीं।'

डा० त्रिपाठी ने पण्डितराज की रस-परिभाषा के अनुसार इसको समझाया है :

'भारतीय आचार्यों ने तो रसोपकरण को ही नहीं, रसयिता की भी संकुचित प्रमातृता का विगलन स्वीकार किया है।' परन्तु 'व्यापार का साधारणीकरण' क्या है? 'पात्रविशेष' तो निर्विशेष हो जाता है और भावविशेष भी—यही रस-सामग्री का साधारणीकरण है। 'व्यापार' से कदाचित् यही अभिप्रेत हो। 'जो कुछ काव्य में होता है, उस सब' से तात्पर्य है, पर निःसंशय नहीं।

शास्त्रीय लक्षण और विवेचन तर्क की कसौटी पर कस कर तथा परख कर लाये जाते हैं जो किसी विशेष चिन्तन के आयामों में परिनिष्ठित रूप लेते हैं।

पश्चिम के बड़े विचारक भी दर्शन और परम्परा के वृत्त में चिन्तन को स्वरूप देते हैं। तट-बद्ध होने में हजारों वर्षों का कटाव काम करता है, और शास्त्र-नद बनते हैं। उसके बाद भी विचार-निर्झरिणी को निर्मर्याद बहता देखकर चिन्ता होती है कि निकषित चिन्तन को रूप लेने में अभी बड़ा समय लगेगा, तब कहीं हिन्दी-विचारक जन्म पा सकेगा। पश्चिम की परम्परा को आत्मसात् करके भी भारतीय विचार स्वतन्त्र संचार नहीं पा सकते, फिर वैसा करना भी भारतीय के लिए संभावना से परे है। जुष्ट-सिक्थभोजी होकर हमें कब तक जीना होगा : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे विचारकों को देख कर आशा बनती है कि 'प्रकृत' हिन्दी विचारक के स्वागत की भूमि बन रही है।

रस-चिन्तन 'पोएटिक प्लेज़र' जैसे नामों के साथ प्लेटो से लेकर अब तक पश्चिम में भी होता आया है—भारतीय परम्परा तो मानती है :

'न रसाद् ऋते कश्चिदर्थ: प्रवर्तते।' (नाट्यशास्त्र', 6)

अर्थात् रस के बिना कोई काव्यार्थ प्रवृत्त नहीं हो सकता। आचार्य वापेजयी परम्परा-विच्छिन्न नहीं रहे हैं, उन्होंने शास्त्रीय चिन्तन से जुड़े रहने का प्रयास करके आधुनिक हिन्दी-विचारक को दिशा दी है जिसके ऊपर चिन्तन बढ़ाया जा सकता है।

डा० नगेन्द्र

डा० नगेन्द्र का कृतिमय व्यक्तित्व अति-विस्तृत है—विविध निबन्धों, 'रीतिकाव्य की भूमिका' से लेकर 'रस-सिद्धान्त' और आजकल के अंगरेजी व्याख्यानों तथा देश-विदेश के सम्पादित ग्रन्थों आदि में उसकी मांसल व्याप्ति है। ऊपर से लगता है कि उनमें वैचारिक परिवर्तन आये हैं, परन्तु उनकी अन्तश्चेतना आज भी दृढ़ एवम् अपरिवर्तित है। ऐसे कृती का सम्पूर्ण लेखा प्रस्तुत करना यहाँ असंभव है परन्तु काव्य-सिद्धान्त के परिवेश में अपेक्षित उनकी स्थापनाओं का दिग्दर्शन ही हमारा लक्ष्य है।

काव्य की मनोवैज्ञानिक धारणा

डा० नगेन्द्र वस्तुत: अन्तश्चेतनावादी काव्य-मनीषी हैं। मनोविज्ञान की सीमाओं में उनके चिन्तन का श्रीगणेश हुआ है। वे फ्रायड, ऐडलर और युङ्ग की अवतारणा इस प्रकार करते हैं :

> सबसे प्रथम सिद्धान्त फ्रायड का है। वह कला या साहित्य को अभुक्त काम की प्रेरणा मानता है। उसके अनुसार काव्य और स्वप्न का एक ही मूल है : हमारा अन्तर्मन, हमारी अतृप्त काम-वासना, जो स्वप्न के

छायाचित्रों का सृजन करती है, वही काव्य के भावचित्रों की जननी है।
('विचार और अनुभूति,' पृ० 7)

स्वस्थ रूप में तो काम का उपभोग न कर जब उसको चिन्तन में परिवर्तित कर दिया जाता है तो साहित्य की सृष्टि होती है, और अस्वस्थ रूप में—काम अभुक्त रहकर साहित्य के मूलवर्ती भावचित्रों की सृष्टि करता है। (वही, पृ० 8)

ऐडलर, जो मानव की चिरन्तन हीनता की भावना को ही जीवन की मूल प्रेरणा मानता है, साहित्य के मूल कीटाणु क्षति-पूर्ति की कामना में खोजता है।...सामयिक जीवन में गो-ब्राह्मण का हनन करने वाले मुसलमानों के विरुद्ध विवश होकर ही तुलसी ने गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक दुष्ट-दलन राम की कल्पना की थी। प्रत्यक्ष-जीवन में सौन्दर्य के उपभोग से वञ्चित रहकर ही तो छायावादी कवि ने अतीन्द्रिय सौन्दर्य के चित्र आँके। पलायन का चिरपरिचित सिद्धान्त इसी का एक प्रस्फुटन है। (वही, पृ० 8-9)

युङ्ग ने जीवनेच्छा को ही जीवन की मूल प्रेरणा माना है। उसके अनुसार मानव के सम्पूर्ण प्रयत्न अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए ही होते हैं। पुत्र वित्त और लोक की एषणाएँ जीवनेच्छा की ही शाखाएँ हैं। साहित्य भी इसी उद्देश्य-पूर्ति के निमित्त किया हुआ एक प्रयत्न है। जीवन तथा अपने अस्तित्व—जीवन की गति—को अक्षुण्ण रखने के लिए यह जरूरी है कि हम अपने को अभिव्यक्त करते रहें। वैसे तो हमारी सभी क्रियाएँ हमारी प्राण-चेतना की अभिव्यक्तियाँ हैं, परन्तु साहित्य उसकी विशिष्ट अभिव्यक्ति है, अन्य क्रियाओं की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और आन्तरिक। इस प्रकार साहित्य-शास्त्र का अभिव्यञ्जनावादी सिद्धान्त युङ्ग के सिद्धान्त में ही समाहित हो जाता है। (वही, पृ० 9)

इन्हीं आधारों पर नगेन्द्रजी के समीक्षा-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा है, जिसे वे स्वयं मान्य करते हैं :

मेरा मन्तव्य कोई सर्वथा स्वतन्त्र मन्तव्य नहीं है—उपर्युक्त सिद्धान्तों से पृथक् उसका अस्तित्व नहीं, और न हो ही सकता है। (वही)

काव्य का स्वरूप

उक्त आधारों को सामने रखकर ही डा० नगेन्द्र ने जीवन और साहित्य के विषय

में मान्यताएँ स्थिर की हैं। वे कहते हैं :

> मैं जीवन को अहं का जगत् से या आत्म का अनात्म से संघर्ष मानता हूँ। इस संघर्ष की सफलता जीवन का सुख है और विफलता दुःख। साहित्य इसी संघर्ष के मानस रूप की अभिव्यक्ति है। मानस रूप की अभिव्यक्ति होने के कारण उसमें दुःख का अभाव होता है, क्योंकि संघर्ष की घोरतम विफलता भी मानस रूप धारण करते-करते अपना दंशन खो देती है। (वही)

इस स्थापना को तर्क-संगत कैसे कहें ? मानस रूप लेने पर भी वैयक्तिक चेतना में दुःखानुभव होता है। घोरतम विफलता तो बहुत बड़ी बात है, साधारण हानि भी मानस का नासूर बन सकती है। मानस व्यथा न सह पाकर लोग आत्महत्या तक कर लेते हैं। किसी संघर्ष का मानस रूप लेना ही दंशन-हीन होने की शर्त नहीं हो सकता। जब तक अपना दुःख व्यक्तिगत धरातल पर अनुभूत होगा, कभी सुखात्मक नहीं हो सकता, परन्तु डा० नगेन्द्र व्यक्ति-चेतना से परे कुछ भी मानने को तैयार नहीं। वे अपनी समीक्षा-विषयक मान्यताओं का संकलन इस प्रकार करते हैं :

> साहित्य आत्माभिव्यक्ति है। आत्माभिव्यक्ति आनन्द है, रस है—पहले स्वयं लेखक के लिए, फिर प्रेषणीयता के नियमानुसार पाठक के लिए। रस जीवन का सबसे बड़ा पोषक तत्त्व है।···साहित्य वैयक्तिक चेतना है, सामूहिक नहीं। जब मैं ऐसा कहता हूँ तो व्यक्ति पर समूह के ऋण का तिरस्कार नहीं करता। (वही, पृ० 17-18)

डा० नगेन्द्र इसी वैयक्तिक आधार पर काव्य की व्याख्या भी करते हैं।

1. काव्य के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा है।

2. यह प्रेरणा व्यक्ति के अन्तरङ्ग—अर्थात् उसके भीतर होने वाले आत्म और अनात्म के संघर्ष से ही उद्भूत होती है।

3. हमारे आत्म का निर्माण जिन प्रवृत्तियों से होता है, उनमें कामवृत्ति का प्राधान्य है, अतएव हमारे व्यक्तित्व में होने वाला आत्म और अनात्म का संघर्ष मुख्यत: काममय है, और चूँकि ललित-साहित्य, जो मूलत: रसात्मक होता है, उसकी प्रेरणा में काम-वृत्ति की प्रमुखता असन्दिग्ध है। (वही, पृ० 10)

इस प्रकार डा० नगेन्द्र के अनुसार वैयक्तिक संघर्ष से जो काम-वृत्ति-प्रेरित अभिव्यक्ति होती है, वही काव्य है। काव्य न तो निर्वैयक्तिक होता है और न काम-हीन। 'काम' का डा० नगेन्द्र जो भी अर्थ लेते हों, वह मनोविज्ञान में जीवनेच्छा का ही नामान्तर है और जीवनेच्छा वैयक्तिक ही न होकर सामूहिक भी होती है, अत: शुद्ध वैयक्तिकतावाद साहित्य का सिद्धान्त नहीं हो सकता।

साधारणीकरण

उक्त व्यक्तिवाद को सामने रखकर ही डा० नगेन्द्र के साधारणीकरण को समझा जा सकता है। पुनर्विचार की दृष्टि से इतना ही कहना है कि नगेन्द्र जी ने 'रीतिकाव्य की भूमिका' से 'रस-सिद्धान्त' तक एक ही बात 'तादात्म्य' की कही है। उनका तादात्म्य चाहे सहृदय का कवि से हो या आश्रय से, व्यक्ति का व्यक्ति से अभेदारोप ही होता है क्योंकि वे सामूहिक चेतना जैसी किसी वस्तु को मान्य नही करते। आचार्य विश्वनाथ ने भी साधारणीकरण में तादात्म्य की चर्चा की है, परन्तु डा० नगेन्द्र उसे अपने अनुकूल व्याख्या देना चाहते हैं। साहित्य-दर्पण का तादात्म्य साधारणीकरण का अङ्ग है जिसमें यह मान्य होता है कि आश्रय काव्यशब्दों में रूप लेता है, वह रूप वर्णित गुण-धर्म से युक्त साधारण-रूप होता है, न कि व्यक्तिरूप, और सहृदय अपनी चेतना को उसी रूप में विलीन कर एकाकार हो जाता है जिससे उसकी भी वैयक्तिकता तिरोहित हो जाती है—सीमाएँ केवल आश्रय के गुण-धर्म की रहती हैं, जिसका व्यक्तिरूप नहीं होता, व्यक्ति का नाममात्र रहता है। इसी आधार पर समुद्रलङ्घन आदि व्यापारों का रसात्मक बोध सम्भव होता है। परन्तु डा० नगेन्द्र व्यक्ति का व्यक्ति से तादात्म्य मानकर कवि और सहृदय के अभेद की चर्चा करना चाहते हैं। डा० नगेन्द्र की मान्यता का सारांश डा० भगीरथ मिश्र ने इस प्रकार दिया है :

> काव्य-प्रसंग और कुछ नहीं, कवि की भावना का बिम्बमात्र है। यह काव्य-प्रसङ्ग या बिम्ब शरीर है और कवि-भावना उसे प्रकाशित करने वाली चैतन्य आत्मा है, और चूँकि साधारणीकरण जड़ यान्त्रिक क्रिया न होकर चैतन्य-क्रिया है, अत: काव्य-प्रसङ्ग या रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण मानने की अपेक्षा कवि-भावना का साधारणीकरण मानना मनोविज्ञान के अधिक अनुकूल है। भट्टनायक की विषय-प्रधान धारणा और अभिनव की विषयि-प्रधान धारणा, दोनों के बीच अनुस्यूत सम्बन्ध-सूत्र है, और वर्तमान-युग में रस सिद्धान्त के सबसे समर्थ प्रतिष्ठापक आचार्य शुक्ल को भी इसमें कोई आपत्ति नहीं। ('रसनिष्पत्ति और साधारणीकरण')

केवल मनोविज्ञान के अनुकूल होना कोई प्रमाण नहीं है, यह आत्म-समर्पण है और मनोविज्ञान के सन्दर्भ में देखा गया है कि वहाँ भी चिन्तन की विविध धाराएँ हैं जिनमें समुदित चेतना का सिद्धान्त भी प्रबल होकर उभरा है। भट्ट-नायक विषय-प्रधान विचारक नहीं हैं क्योंकि वे रस या काव्य-भावित भाव को न परगत (अनुकार्यगत या अनुकारकगत) मानते हैं और न स्वगत (सहृदयगत)। उनका रस केवल काव्य से भावित होता है और सहृदय द्वारा आस्वादित होता है। भट्टनायक विभावादि-चेतना और रसिक-चेतना को साधारणीकृत रूप देना

चाहते हैं जहाँ वैयक्तिक चेतना का सर्वथा परिहार रहता है जबकि डा० नगेन्द्र व्यक्तित्व-परिहार के विरोधी हैं। अभिनव की धारणा से भी स्पष्ट विरोध है—कहाँ अभिनव वासना को वैयक्तिक सीमा से परे मानकर रस को 'सकल-सहृदय-संवादी' तत्त्व मानते हैं जिसमें रसात्मक बोध के अतिरिक्त अन्य सबका तिरोभाव हो जाता है (अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत्) और कहाँ डा० नगेन्द्र का साधारणीकरण व्यक्ति को क्षुद्र परिधि से मुक्त नहीं करता। आचार्य शुक्ल जब हृदय-मुक्ति की बात करते हैं तो व्यक्तिगत सीमाओं का परिहार उन्हें अभीष्ट है, केवल आश्रय की व्यक्तिता उन्हें मान्य है जबकि डा० नगेन्द्र कवि और रसिक व्यक्तियों में तथाकथित मनोवैज्ञानिक तादात्म्य खोजते और उसी को साधारणीकरण बताते हैं :

> कवि स्वयं नायक से तादात्म्य स्थापित कर लेता था, अतः सहृदय समाज का भी उसके साथ सहज तादात्म्य स्थापित हो जाता था। ('रस-सिद्धान्त', पृ० 207)

इस प्रकार भट्टतौत को डा० नगेन्द्र ने व्याख्या दी है जो साधारणीकरण के वास्तविक अर्थ की दृष्टि से अमान्य है। वस्तुतः कवि की चेतना व्यक्तिचेतना से उठकर उस कल्पित चेतना का आकार लेती है जो गुण-धर्म के आधार पर नायक की सामान्य-चेतना है, यह रचना-प्रणाली की बात है। रसबोध की प्रणाली में सहृदय की चेतना निर्वैयक्तिक होकर नायकीय चेतना (साधारणीकृत) का आकार लेती है। इस प्रकार तीनों चेतनाएँ निर्वैयक्तिक एकत्व प्राप्त करके एक ही हो जाती हैं अतएव भट्टतौत ने 'समान=एक अनुभव' की बात की है। यह अनुभव काव्य की वस्तु है। डा० भगीरथ मिश्र ने तादात्म्य का ऐसा ही अर्थ समझा है :

> रस की पूर्ण निष्पन्न दशा में तो विभावादि के साधारणीकरण के साथ स्थायी भाव का भी साधारणीकरण होता है और इसी प्रक्रिया के साथ-साथ श्रोता या दर्शक का भी स्थायीभाव, जो वासना-रूप में स्थित रहता है, जाग्रत् होता है और वह निर्विघ्न रूप में विभावादि-संयुक्त रस-रूप-परिणत स्थायी भाव का आनन्द या आस्वाद प्राप्त करता है। यह स्थिति तीनों (नायक, कवि, श्रोता) की अनुभूतियों की पूर्ण तादात्म्य की अवस्था है।
> ('रसनिष्पत्ति और साधारणीकरण')

यहाँ 'तादात्म्य' शब्द गड़बड़ करता है क्योंकि वह 'आरोप' का पर्याय-सा बन गया है। भट्टतौत का 'समान', जो एक-पर्याय है, नितान्त उचित है। डा० मिश्र ने 'निर्विघ्न' शब्द का यदि अभिनव-सम्मत अर्थ में प्रयोग किया है तो व्यक्तित्व-सीमा भी वहाँ एक विघ्न है और उसके परिहार से एक ही अनुभूति का प्रवाह आप्लावित करता है, बूंदें अलग नहीं रहतीं, धारा की यह एकतानता ही

अनेकत्व पर एकत्व की विजय है और वही साधारणीकरण है। डा० नगेन्द्र यदि अपने मत को आचार्यों के मत में 'गबड़' कर न रखते तो उनकी मान्यता अधिक ग्राही होती और भ्रान्ति को अवकाश न रह जाता।

रससिद्धान्त

डा० नगेन्द्र रससिद्धान्त जैसे महान् राष्ट्र-वर्मी समीक्षा-सिद्धान्त के वास्तविक प्रचारक होने के नाते सम्मान्य हैं। उन्होंने इसी को जीवन समर्पित कर दिया है और आजकल वे अंगरेजी व्याख्यानों और लेखों के माध्यम से उसे समझाते चल रहे हैं। हिन्दी के अध्येता के लिए यह गर्व की बात है। डा० नगेन्द्र ने रस-सिद्धान्त में रसानुभूति को लेकर दो मत स्वीकार किए हैं—भरत और भट्ट लोल्लट को भौतिकवादी तथा भट्टनायक और अभिनव आदि को आत्मवादी बताया है। वस्तुतः भरत को भौतिकवादी कहने का कोई कारण नहीं है जब सभी आचार्य भरत-सूत्रों को ही व्याख्या देते हैं। भरत किसी वाद से घिरे हुए नहीं हैं। वे तो शुद्ध विचारक मुनि हैं। अपने-अपने दर्शन के अनुसार आचार्यों ने समझने का प्रयास किया है। रस का आस्वाद-पक्ष केवल देखना मात्र नहीं है, अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध मन से है और मन एक इन्द्रिय है। यहाँ मन और चित्त या अन्तःकरण एकार्थक हैं। अन्तःकरण की अनुभूति-विशेष होने से 'रस' सभी मतों में ऐन्द्रिय है परन्तु चेतना की गम्भीरता के कारण सभी को आध्यात्मिक मानना पड़ा है। भट्टलोल्लट ने आस्वाद-प्रक्रिया पर कोई विचार नहीं किया है अतः उन्हें भी आत्यन्तिक रूप से भौतिकवादी कहने का कोई कारण नहीं है। वासना-सिद्धान्त को अमान्य करके शुद्ध चेतना की विश्रामदशा मानने वाले भट्टनायक भी सत्त्वगुण की परिधि स्वीकार करते हैं जो चित्त की ही दशा-विशेष है अतः उन्हें भी रस-बोध की दृष्टि से पूर्णतः आत्मवादी नहीं कहा जा सकता। यह बात दूसरी है कि समीक्षक का दर्शन आत्मवादी अथवा अनात्म-वादी हो, परन्तु उस आधार पर कोई स्पष्ट भेद करना निर्विवाद नहीं कहा जा सकता।

डा० नगेन्द्र की सम्पूर्ण स्थापनाएँ यहाँ नहीं लायी जा सकीं जो ग्रन्थ की सीमा के कारण है। वस्तुतः वे महान् विचारक हैं।

डा० भगीरथ मिश्र

आधुनिक साहित्यमनीषियों में शास्त्रों की सीमाओं में या उसके बाहर-भीतर कुछ नया कह लेने की उजागर प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। इस प्रवृत्ति के पीछे एक धारणा यह काम करती है कि पूर्व और पश्चिम के चिन्तनों को समेट कर एक ऐसा पुटपाक तैयार किया जाय कि हिन्दी का अपना चिन्तन अंगरेजी के

समकक्ष अपना स्थान बना सके और उसके माध्यम से हिन्दी-आलोचना के प्रवर्तक आचार्य होने का आनुषङ्गिक गौरव सुलभ हो सके। इस प्रवृत्ति के मूल में परम्परा और शास्त्रीयचिन्तन के प्रति जाने या अनजाने उपेक्षावृत्ति काम करती रही है। शास्त्रों को समझने के लिए जिस क्रम की अपेक्षा होती है उससे कुछ वचकर और कुछ नाता जोड़कर अपनी बात पुरस्कृत करने का आग्रह हिन्दी-विचारक को विचारक की पदवी देता आया है। इस भूमिका के साथ डा० भगीरथ मिश्र के काव्यचिन्तन को सामने लाना अपेक्षित है। हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास लिखकर डा० मिश्र ने पी-एच० डी० उपाधि अर्जित की थी। तब से अब तक वे भारतीय साहित्यशास्त्र के स्वीकृत हिन्दी-मनीषी माने जाते हैं। काव्यशास्त्र और काव्यमनीषा उनके अतिविख्यात ग्रन्थ हैं जिनमें पूर्व और पश्चिम की सामग्री लेकर उन्होंने काव्य को नये आयामों में समझाने का प्रयास किया है। निश्चय ही हिन्दी की सीमाओं में, यदि शास्त्रीयता का आग्रह न किया जाय तो, उनके ग्रन्थों में तथा फुटकल निबन्धों में किये गये प्रभूत प्रयासों को स्तुत्य कहा जायगा। परन्तु, शास्त्रों की समीक्षा यदि शास्त्रीय आयामों में नहीं होती है तो ऐसा दिखाई देने लगता है कि मम्मट जैसे आचार्यों और आनन्दवर्द्धन जैसे शास्त्रप्रवर्तकों का पल्ला उनके समीक्षकों की अपेक्षा हल्का है। यहीं अपने आदर को प्रतिष्ठित करने हेतु पुरातन आचार्यों की अधकचरी समीक्षा शास्त्रों के विद्यार्थी को अरुचिकर लगे तो अन्यथा न लेना चाहिए। इसी दृष्टि-कोण को सामने रखकर डा० मिश्र का काव्यचिन्तन कतिपय शीर्षकों में यहाँ विवेच्य बनाया जा रहा है। इसमें इतना ही कथ्य है कि शास्त्रों के समक्ष डा० मिश्र की प्रज्ञा किस प्रकार काम करती है।

काव्य की परिभाषा

'काव्य-शास्त्र' ग्रन्थ में डा० मिश्र ने अपेक्षित विस्तार के साथ संस्कृत, अंगरेजी और हिन्दी से लेकर परिभाषाओं की आलोचना की है। शास्त्रीय सन्दर्भ में संस्कृत की परिभाषाओं को लेकर ही संक्षिप्त विवेचन ही किया जा रहा है। डा० मिश्र ने 'अग्निपुराण' की काव्य-परिभाषा ली है।

संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणवद् दोषवर्जितम् ॥

इसकी समीक्षा करते हुए डा० मिश्र का कथन है :

> इसमें काव्य की प्राय: बाह्य रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है। संक्षिप्त वाक्य स्मरणीयता का द्योतक है। इष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति तो आवश्यक होती ही है, पर इसके कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी···अलङ्कार की आभा से युक्त होना अलङ्कार-सम्प्रदाय का प्रभाव प्रकट करता है। गुण से युक्त

होना काव्यगुणों की स्थिति का संकेत करता है, पर गुण शब्द अनेकार्थी है। दोष से रहित होना उत्तम काव्य का लक्षण है, पर वह निषेधात्मक स्वरूप है। इस परिभाषा के द्वारा काव्य को बाह्य सीमाओं में बाँधने का प्रयत्न किया गया है, पर उसका मुख्य प्रभावकारी स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता।

इस टिप्पणी में पहली विसंगति तो यह है कि समूचे पद्य को काव्य की परिभाषा समझ लिया गया है जबकि उसका पूर्वार्द्ध 'वाक्य' की परिभाषा करता है और उत्तरार्द्ध में बताया गया है कि वही वाक्य अलङ्कार, गुण और दोषाभाव के साथ काव्य का स्वरूप बनता है। डा० मिश्र को आपत्ति यह है कि इसमें बाह्य स्वरूप का ही दिग्दर्शन है, काव्य के प्रेषणीयता की चर्चा नहीं है। कोई भी परिभाषा बाह्य स्वरूप ही देती है, प्रेषणीय तत्त्व उनके माध्यम से कुछ को ही मिल पाता है, जबकि परिभाषा सर्ववेद्य रहती है। प्रेषणीय तत्त्व सहृदयसापेक्ष है, जबकि परिभाषा सर्वसामान्य होती है। अलङ्कारों का स्फुरण अलङ्कार-प्रस्थान का प्रभाव नहीं है। वे तो सर्वमान्य काव्यतत्त्व हैं। स्फुरण से अलङ्कार की स्फुट और अस्फुट दोनों सत्तायें ग्राह्य बन जाती हैं। स्फुरण का धातुगत अर्थ गति या चलन है। अत: अलङ्कारों की स्पन्दनशीलता काव्य का धर्म है। तात्पर्य यह कि यदि अलङ्कार हो तो वह वर्ण्य वस्तु के अनुरूप स्फुरणशील हो। परिभाषाकार के लिए 'गुण' शब्द अनेकार्थी नहीं है। गुण ही किसी भी परिभाषा के मुख्य घटक होते हैं। काव्य गुणों को चाहे रीतिमत से लिया जाय या ध्वनिमत से, रचना का सर्वातिशायी तत्त्व मानना होगा। रही दोषवर्जना की बात तो स्फुट दोष काव्य में वर्जित होते ही हैं। इस पर काव्यलक्षण वाले अध्याय में विचार किया जा चुका है। अब भामह की परिभाषा आती है।

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।

इस पर काव्यलक्षण वाले अध्याय में विचार हो चुका है। भामह के भाव को स्पष्ट करते हुए डा० मिश्र ने अरुचि प्रकट की है: 'फिर भी इससे काव्य के स्वरूप का स्पष्टीकरण नहीं होता।'

जब भामह शब्द और अर्थ के साहित्य पर बल देते हैं तब वे निश्चय ही अपनी ओर से स्पष्टीकरण कर देते हैं। इतरेतर-द्वन्द्व का प्रयोग करने से शब्द और अर्थ की अन्योन्याश्रित स्थिति काव्य को अकाव्य से पृथक् करती है। दोनों के साहित्य के निर्धारक अलङ्कार होते हैं। यह बात भामह ने आगे स्पष्ट कर दी है। फिर भी काव्यतत्त्वों के आधार पर परिभाषा नहीं बनाई गई—इस विषय में डा० मिश्र का अभिमत स्वीकार्य हो सकता है।

अब कुन्तक की परिभाषा को लिया जाय:

शब्दार्थौ सहितौ वक्र-कवि-व्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम् (तद्विदाह्लादकारिणी)॥

इस पर डा० मिश्र का कहना है :

> वक्रता से क्या तात्पर्य है यह स्पष्ट नहीं है तथा बन्ध किस प्रकार का होना चाहिये यह भी अनुल्लिखित है···इसके अतिरिक्त वक्रता और बन्ध से रहित भी काव्य होता है, ऐसी दशा में यह लक्षण काव्य के एक विशिष्ट रूप का ही संकेत करता है, समग्र काव्य का नहीं ।

वक्रता का तात्पर्य समझाने के लिये ही कुन्तक ने पूरा ग्रन्थ लिखा है और 'वैदग्ध्यभङ्गीभणिति' कहकर उसे परिभाषित भी कर दिया है। अत: कुन्तक को कुन्तक के अनुसार लेने पर कहीं कोई अस्पष्टता नहीं रह जाती है । विचित्र बात है कि डा० मिश्र आपत्ति करते हैं कि बन्ध का स्वरूप स्पष्ट नहीं, जबकि कुन्तक ने दो-दो विशेषण दिये हैं : बन्ध को वक्र-कवि-व्यापार से युक्त होना चाहिये और जानकारों के लिये आह्लादकारी होना चाहिये। इनमें से अन्तिम विशेषण को डा० मिश्र ने छोड़ दिया है। डा० मिश्र की ही परिभाषा लें जिसमें जीवन और सत्य को संवेद्य बनाने वाली शब्द-रचना को काव्य कहा गया है तो कुन्तक की ओर से आपत्ति उठायी जा सकती है कि सत्य, संवेदना और शब्द रचना के स्वरूप परिभाषा में स्पष्ट नहीं हैं । माना कि डा० साहब ने परिभाषा से बाहर सब कुछ समझा दिया है तो कुन्तक ने भी अपने ग्रन्थ में अपनी परिभाषा के घटकों की पूरी-पूरी व्याख्या की है। यह कहना कि वक्रता और बन्ध के बिना भी काव्य होते हैं, विचित्र लगता है। भला बन्ध के बिना डा० मिश्र की रचना क्या होगी कम-से-कम एक वाक्य का बन्ध तो होना चाहिये जिसमें शब्द और अर्थ का साहित्य व्यवस्थित हो सके। रही वक्रता की बात सो उससे विरहित काव्य ध्वनिकार को भी मान्य नहीं है। कथित अलङ्कारों की ही मूल वक्रता नहीं है । कुन्तक की वक्रता कवि के वैदग्ध्य की वह भङ्गी है जो काव्य को काव्येतर से पृथक् करती है। निश्चय ही यह परिभाषा ध्वनिसम्मत न हो तो भी कुन्तक के शास्त्र में उस जैसी पुष्ट परिभाषा मम्मट के अतिरिक्त किसी ने दी नहीं ।

'काव्यप्रकाश' की परिभाषा पहले आ चुकी और बहुत कुछ अग्नि-पुराण की परिभाषा वैसी ही है जिसमें 'शब्दार्थौ' के तीन विशेषण 'अदोषौ', 'सगुणौ' और 'अनलङ्कृती पुन:क्वापि' हैं। उनमें से प्रथम पर डा० मिश्र की वैसी ही आपत्ति है जैसी की आचार्य विश्वनाथ ने उठाई है :

> अदोष शब्दार्थ क्या है ? पहले तो यही प्रश्न है, फिर काव्य शायद ही कोई ऐसा हो जिसमें कोई न कोई दोष न निकाला जा सके। तो क्या अनेक गुणों से युक्त काव्य में कोई एक दोष निकल आया तो उसे काव्य के क्षेत्र से निकाल दिया जायगा ?

अदोष का अर्थ तो 'काव्यप्रकाश' के सप्तम उल्लास में बड़े विस्तार से समझाया गया है और मम्मट ने अन्त में स्पष्ट कह दिया है :

वक्त्राद्यौचित्यवशाद् दोषोऽपि गुणः क्वचित् क्वचिन्नोभौ।

अर्थात् औचित्यवश कहीं दोष भी गुण हो जाता है और कहीं दोष भी नहीं होता, गुण भी नहीं रहता। इस पर बड़े विस्तार से विचार किया है।

देहौं साप कि मरिहौं जाई। (मानस)

यह भावाविष्ट नारद की उक्ति है जिसमें मारेंगे या मर जायेंगे यह स्पष्ट नहीं, परन्तु भावावेश में यह गुण बन गया है। जहाँ रसादि का अनुगम प्रभावी हो जाता है, शब्दार्थ-साहित्य पूर्ण रहता है वहाँ दोष पर दृष्टि जाती ही नहीं और रचना निर्दोष ही रहती है। यह विशेषण इसलिये नहीं है कि आस्वाद लेने के पूर्व दोष ढूँढे जायँ, प्रत्युत आस्वाद-दशा में दोष उद्भूत न हों। मम्मट अस्फुट अर्थ में नकार का प्रयोग करते हैं जैसा कि 'अनलङ्कृती' और 'अव्यङ्ग' शब्दों पर उन्होंने स्वतः स्पष्ट किया है।

इसी प्रकार अनलङ्कृती पर टिप्पणी है :

कहीं-कहीं अलङ्कार से रहित होना लक्षण की दृष्टि से कोई विशेषता नहीं हो सकती। यह तो मानों जो काव्य में अलङ्कार को अनिवार्य मानते हैं उनके मत का विरोध प्रकट करना है।

आचार्य मम्मट अलङ्कार को काव्य में अनिवार्य मानते हैं। अतः विरोध प्रकट करने का प्रश्न ही नहीं उठता। उनका अभिप्राय उन्हीं के अनुसार अलङ्कार-रहित काव्य से नहीं है, अस्फुट अलङ्कार से तात्पर्य है :

सगुण शब्द भी काव्य की कोई महत्त्वपूर्ण विशेषता प्रकट नहीं करता क्योंकि गुण बड़ा व्यापक अर्थ देने वाला शब्द है और काव्य-गुणों से युक्त होना काव्य है यह परिभाषा अपने ही अङ्ग से अङ्गी को स्पष्ट करने वाली है।

वस्तुतः अङ्ग से ही अङ्गी की परिभाषा होती है और गुण तो सभी वस्तुओं की परिभाषाओं के स्वरूपनिर्धारक होते हैं। अतः गुणकृत विशेषता के आधार पर ही सभी परिभाषायें बनती हैं। वस्तुगत गुणों में विविधता अवश्य रहती है। मम्मट ने माधुर्य, ओज और प्रसाद—इन तीनों को रचना का गुण मानते हुए परिभाषा में स्थान दिया है। अतः कहीं कोई अस्पष्टता नहीं रहती। रचना को देखते ही पता लग जाता है कि कौन सा गुण है। इस सन्दर्भ में डा० मिश्र की ही परिभाषा को लें :

जीवन और सत्य को संवेद्य बनाने वाली शब्द-रचना काव्य है।

इसकी व्याख्या में मिश्रजी ने स्वयं काव्यसत्य को वैज्ञानिक सत्य से पृथक् बताया है। अतः काव्याङ्ग से ही अङ्गी का स्वरूप-निरूपण उनकी परिभाषा पर भी लागू है। वे रचना से क्या समझते हैं, यह भी स्पष्ट नहीं। संगीत में नादमयी रचना शब्द-रचना है और वह भी जीवन और सत्य को संवेद्य बनाती है, अतः रचना से वे शब्दार्थ-योजना का ही अर्थ लेंगे और तब दर्शन, मनोविज्ञान आदि

भी जीवन को संवेद्य बनाने वाली शब्द-रचनायें हैं, अतः अतिव्याप्ति से बचना दुष्कर है। कहा जाय अन्य शब्दार्थ-योजनाओं में संवेद्यता नहीं होती, तब संवेदन की अस्पष्टता परिभाषा को निगल जाती है। कहाँ तो काव्यबोध में संविद्-विश्रान्ति का घोष किया जाता है और कहाँ संवेदन को परिभाषा में स्थान दिया जा रहा है। कहा जाय कि अन्य संवेदनों से भिन्न काव्य-संवेदन से तात्पर्य है तो काव्य के सर्वस्व संवेदन को लेकर यह परिभाषा अन्योन्याश्रय की खटाई भी पड़ जाती है—काव्य से संवेदन होता है और संवेदन से काव्य बनता है। फिर संवेदन सहृदय की विभूति है, परिभाषा को विश्वजनीन होना चाहिये। 'काव्य-मनीषा' की पूरी विवेचना अकाव्यज्ञ को संवेदनशील नहीं बना सकती जबकि मम्मट की परिभाषा काव्य-संवेदनहीन मनुष्य को काव्य-तत्त्वों के आधार पर उसे समझा देती है। सुखात्मक और दुःखात्मक संवेद्यताओं में काव्य की संवेद्यता क्या है, स्पष्ट नहीं। मम्मट पर डा० मिश्र का अन्तिम आक्षेप है :

> काव्य को एक निश्चित क्षेत्र में बाँधती हुई भी यह परिभाषा काव्य का कोई तात्त्विक और मार्मिक स्वरूप स्पष्ट नहीं कर पाती।

निश्चित क्षेत्र में बाँधना ही तो परिभाषा का कार्य है। मर्म की बात कहना परिभाषा का दोष है, गुण नहीं। जहाँ तक 'तात्त्विक' की बात है, मम्मट की परिभाषा तत्त्वों के आधार पर ही बनाई गई है, अतः उसे अतात्त्विक कहने का साहस न होना चाहिए।

रसविचार

डा० भगीरथ मिश्र ने 'काव्य-मनीषा' के अन्तिम अध्याय में विस्तार से रसनिरूपण किया है, परन्तु किसी विवेचन-प्रणाली का आश्रय लेकर रससामग्री का आकलन उनका लक्ष्य नहीं रहा है। उन्होंने रसों की ग्यारह संख्या मान ली है जिनमें भक्ति और वात्सल्य का समावेश है। क्रियाओं के आधार पर उन्होंने रसों को पाँच वर्गों में रखा है जिससे उनके रसानुभूति-सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश पड़ता है। निश्चय ही रस की अनुभूति चमत्काररूप मानी गई है। ध्वनिमत में तीन गुणों के आधार पर अनुभूति का विचार किया जाता है। प्रसाद गुण की क्रिया विकास और व्याप्ति है जो सभी रसों में सामान्य है। माधुर्य की द्रुति और ओज की दीप्ति विशिष्ट क्रियायें हैं जिनकी रसानुसार अलग-अलग व्यवस्थायें हैं। परन्तु डा० मिश्र की अवधारणा में रसों की चार क्रियायें हैं : चित्तविस्तार, चित्तसंकोच, चित्तदीप्ति और चित्तद्रुति। इनका समावेश करते हुए उन्होंने रसों के वर्ग निर्धारित किये हैं :

(क) वीर, हास्य और रौद्र रसों में चित्तविस्तार होता है। यह विस्तार

कैसे होता है, स्पष्ट नहीं। इन रसों में साधारणीकरण अन्य रसों की अपेक्षा भिन्न होता है। किसी विशिष्ट पात्र या घटना के प्रति भाव की एकाग्रता देखी जाती है। तब इन्हें विस्तार-वर्ग में लेना किस शास्त्रीय या मनोवैज्ञानिक आधार पर है, चिन्त्य है।

(ख) भयानक, वीभत्स और शान्त रसों में चित्तवृत्ति का संकोच माना गया है। भय में भय कारण से पलायन अपेक्षित होता है और वीभत्स में नासिकादि का संकोचन देखा जाता है। इसी को रस पर आरोपित किया गया है। परन्तु शान्त रस का संकोच कदाचित् जगत् से वैराग्य को लेकर मान्य हुआ है जो शान्त की प्रकृति के विरुद्ध है। शान्त में आत्मा का विस्तार अनन्त हो जाता है। सभी प्रकार की उत्तेजनाओं का शमन ही शान्त का स्वरूप है। जगत् से वैराग्य शान्त नहीं है, प्रत्युत सम्पूर्ण जगत् आत्मलीन हो जाय तभी आत्मा शान्त होती है। यह परम विश्रान्त दशा है जो मोक्ष-पुरुषार्थ के आधार पर प्रतिष्ठित है। स्वपरतटस्थ के भेदों का तिरोभाव संकुचित चित्त का कार्य नहीं हो सकता। वहां तो सूक्ष्म चित्तवृत्ति जड़-चेतन को एकीभूत कर आनन्दमय हो जाती है। वह रसधारा का तरङ्ग नहीं है, सागर है।

(ग) डा० मिश्र ने शृङ्गार और अद्भुत में होने वाले चमत्कार को दीप्ति का नाम दिया है। उनकी दृष्टि आलम्बन से मिलने वाली उत्तेजना पर रही है। यहां दीप्ति और चमत्कार दोनों की परम्परा के साथ न्याय नहीं हो सका है। आचार्यों ने ओजोगुण की क्रिया को दीप्ति माना है जो रौद्र, वीर आदि में होने वाली ओजोगुण की क्रिया है। मन में उठने वाली ज्वाला का नाम दीप्ति है। पण्डितराज ने दीप्ति का पर्याय दाह बताते हुये उसे अनल से जोड़कर समझाया है। क्रोध में उसका चरम उत्कर्ष रहता है। अतएव व्यवहार में आग लगने, भस्म होने और जलने के मुहावरे चलते हैं। शृङ्गार की शीतल ज्वाला से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है और अद्भुत में तो ऐसी कोई उत्तेजना होती ही नहीं। अपने वर्ग-विभाग में 'फिट' करने का ही मिश्रजी ने उपक्रम किया है।

(घ) करुण और वात्सल्य में द्रुति का समावेश माना गया है। जो सङ्गत है। परन्तु विप्रलम्भ में करुण के समान ही द्रुति होती है। उसका त्याग किस आधार पर है। वात्सल्य रतिभाव की ही देन है। करुण में भी रतिभाव का योग रहता है क्योंकि रति के बिना शोक उत्पन्न ही नहीं होता। तब समूचे शृङ्गार को छोड़ देना विचित्र स्थापना लगती है।

(ङ) भक्ति रस में दीप्ति और द्रुति दोनों का समावेश डा० मिश्र को मान्य है। परन्तु इस स्थापना में भक्तिरस-सिद्धान्त की मान्यता काम नहीं करती। भक्तिरस में सभी रसों का समावेश देखा जा चुका है। द्रुति से ही चित्त भगवदाकार बनता है। परन्तु मिश्र जी अपने अनुसार ही विभाजन करें तो करुण और

वात्सल्य भक्तियों में द्रुति, मधुर और अद्भुत भक्तियों में दीप्ति, भयानक, वीभत्स और शान्त भक्तियों में संकोच तथा वीर, हास्य और रौद्र भक्तियों में विस्तार मानना होगा। हास्य और सख्यभक्तियाँ फिर भी छूट जायँगी।

डा० मिश्र की यह स्थापना सर्वथा मौलिक है। शास्त्रों में उसका मूल खोजना सम्भव नहीं। इससे मिलती-जुलती बात 'दशरूपक' (4/43-44) में आई है। वहाँ काव्यार्थमिश्रित आत्मानन्द चित्त में चार क्रियायें उत्पन्न करता है—शृङ्गार और हास्य में विकास, वीर और अद्भुत में विस्तार, वीभत्स और भयानक में क्षोभ तथा रौद्र और करुण में विक्षेप। इस अवधारणा में भरतमुनि की संगति मिल जाती है। यह चमत्कार की ही विविधता है जिसको धनञ्जय ने व्याख्या दी है।

रसैकत्व-विचार

'काव्यमनीषा' के उक्त अध्याय में डा० मिश्र ने कतिपय मतों का हवाला देते हुए कुछ आचार्यों को एकरसवादी बताकर उनका खण्डन किया है। उनमें भव-भूति, विश्वनाथ, अभिनवगुप्त और भोजराज के नाम विशेष महत्त्व के हैं :

(क) भोजराज ने शृङ्गार को रसराज मानते हुये उसी को एकमात्र रस घोषित किया। डा० मिश्र ने उन्हें ठीक ही अमान्य किया है। परन्तु अङ्गी शृङ्गार में सभी रस और भाव अङ्ग होकर समाविष्ट हो सकते हैं; इस पर दो मत नहीं हो सकते। 'शृङ्गारप्रकाश' से भोज का एक उद्धरण मिश्रजी ने 313 पृष्ठ पर दिया है :

रत्यादयोऽर्धशतमेकविवर्जिता हि
भावा: पृथग्विधविभावभुवो भवन्ति।
शृङ्गारतत्त्वमभित: परिवारयन्त:
सप्तार्चिषं द्युतिचया इव वर्धयन्ति॥

अर्थात् रति आदि उनचास भाव पृथक्-पृथक् विभावों से उत्पन्न होते हैं और जब शृङ्गार तत्त्व को परिवृत करते हैं तब उसे इस प्रकार संवर्धन देते हैं, जैसे किरण-समूह अग्नि को।

यहाँ किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। शृङ्गार अङ्गी होता है तब अन्य भाव उसके परिवारतुल्य बन जाते हैं।

(ख) आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में अपने पूर्वज नारायण का मत इस प्रकार दिया है :

रसे सारश्चमत्कार: सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रस:॥
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्॥

अर्थात् रस में सर्वत्र चमत्कार का अनुभव होता है। अतः रस की अनुभूति में अद्भुत होता है। यहाँ अद्भुत को रस का मूल मानना अभिप्रेत नहीं है जैसा कि डा० मिश्र मानते हैं। यहाँ अभिप्राय इतना ही है कि सभी रसों की अनुभूति चमत्काररूपा होने से अद्भुत होती है। अद्भुत रस की पृथक सत्ता पर कोई आँच नहीं आती। लोकोत्तर चमत्कारी तत्त्व अद्भुत का आलम्बन कारण है और रस की अनुभूति में आने वाला लोकोत्तर चमत्कार भी अद्भुत या विलक्षण होता है। अतः प्रकारान्तर से सभी रस अद्भुत ही होते हैं इससे अद्भुत को मूल-रस कहना युक्तियुक्त नहीं; प्रत्युत मूल में अलग होकर भी सभी रस आस्वादात्मक परिणति में अद्भुत होते हैं।

(ग) डा० मिश्र ने भवभूति को करुणरसैकवादी बताया है और 'एको रसः करुण एव' यह उद्धरण 'उत्तररामचरित' से लेकर भवभूति पर यह आरोपित किया है कि वे करुण को ही एकमात्र रस मानते थे। ऐसा भ्रम अनेक विद्वानों में देखा जाता है। परन्तु प्रसंग तापसी-वासन्ती-संवाद का है जिसमें वाल्मीकि द्वारा रामायण-रचना का उपस्थापन किया गया है। क्रौञ्चवियोग से उत्पन्न शोक मुनि के करुण रामकाव्य का कारण बना और रामकथा की परिणति भी करुण-रस में देखी गई। यह भी तथ्य है कि रामायण में सर्वत्र करुण रस का उत्तम परिपाक हुआ है। अतः भवभूति कहलाना चाहते हैं कि रामकथा का अङ्गी रस करुण है। वही सागर है जिसमें अन्य रस आवर्त, बुद्बुद और तरङ्ग के समान प्रकट होते लीन होते रहते हैं। प्रबन्ध के अङ्गी रस में अङ्ग रसों की यही स्थिति सर्वमान्य है। 'उत्तररामचरित' की रचना इसी पर प्रतिष्ठित है। भवभूति के अन्य दो नाट्य हैं : 'वीर चरित' जिसमें वीर रस प्रधान है और 'मालती माधव' जिसमें श्रृङ्गार की प्रधानता है। इनमें कहीं करुण का वैसा परिपाक नहीं देखा जाता कि भवभूति को करुणैकत्ववादी कहा जाय।

(घ) अभिनवगुप्त ने और उनके अनुसार भरत ने भी शान्त को प्रकृति मानते हुए आठ रसों को विकाररूप बताया है जैसा कि नाट्यशास्त्र का उद्धरण है :

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्त्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ॥

इसमें अन्य रसों की सत्ता का अपलाय नहीं है। इतना ही अभिप्रेत है कि सागर के समान चित्त की एक शान्त दशा मान्य है जो बाह्य विषयों की उत्तेजनाओं से शून्य रहती है। विविध बाह्य कारणों से रति आदि वृत्तियों का उसी चित्त में जन्म होता है और फिर उसी में लय हो जाता है। डा० मिश्र भी रसास्वाद में तन्मयता का आग्रह रखते हैं। यह तन्मयीभाव विश्रान्त दशा का नाम है। संविद्-विश्रान्ति के बिना किसी रस का कोई स्वरूप नहीं

बनता। यह बाह्य उत्तेजनाओं का शमन है जिसमें पहुंचकर ही रसास्वाद होता है। चित्तवृत्ति की एकतानता तभी निर्विघ्न हो पाती है जब उत्तेजनायें शान्त हों। अतः 'मूलरस शान्त है'—इसमें दो मत नहीं हो सकते। द्रुति और दीप्ति आदि मनोविकार हैं, मन की प्रकृत दशा नहीं हैं।

साधारणीकरण

'रसनिष्पत्ति और साधारणीकरण' शीर्षक निबन्ध में डा० मिश्र ने भट्टतौत को उद्धृत किया है :

नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोनुभवस्ततः।

और इस पर विचार करते हुए कहा है :

> नायक, कवि और श्रोता का अनुभव समान होता है। तात्पर्य यह है कि इनकी अनुभूतियों में तादात्म्य रहता है। परन्तु यहां विचारणीय प्रश्न यह है कि जब कवि रावण या कंस जैसे पात्रों के कथनों और भावों को प्रकट करता है तब क्या उससे श्रोता या सहृदय का तादात्म्य सम्भव है? कदापि नहीं। वहाँ पर हम इन पात्रों के भावों के साथ तादात्म्य नहीं करते, वरन् उनके भावों की प्रतिक्रियास्वरूप नये अन्य भावों का अनुभव करते हैं......जब कवि इन दुष्ट पात्रों का वर्णन करता है या उनके भाव व्यक्त करता है तब वह अपने को इन्हीं पात्रों के साथ एकाकार कर लेता है। अतः कवि के इस प्रकार के भावों के साथ हमारा तादात्म्य नहीं होता है। पर साधारणीकरण का कार्य तो यहां भी चलता है। भट्टतौत की उक्ति को केवल रसानुभूति के प्रसंग में ही क्षण भर के लिये सत्य मानना चाहिए।

मिश्र जी की यह स्थापना नितान्त चिन्त्य है। भट्टतौत ने नायक की बात की है, रावण या कंस जैसे पात्रों की नहीं। नायक तो राम और कृष्ण होंगे जिनकी ओर से दुष्ट पात्रों के प्रति क्रोध होगा। यह अनुकार्य की स्थिति है। अनुकारक कवि भी दुष्ट पात्रों के प्रति काव्य के विभावादि द्वारा क्रोध ही व्यक्त करता है। सहृदय उन दोनों के भाव में तन्मयीभाव लेता है। भट्टतौत के समानानुभव का अर्थ एकानुभव है जो सभी रसस्थलों में अव्याहत रहता है। यही एकानुभूति साधारणीकरण है। ये अलग-अलग अनुभूतियाँ नहीं हैं कि उनमें तादात्म्य आरोपित किया जाय। रावण या कंस क्रोध करते हैं, हिंसा, अपहरण, बलात्कार, उत्पीड़न आदि का मार्ग अपनाते हैं, ये सब उद्दीपन हैं जिनसे उद्दीप्त क्रोध या उत्साह स्थायी भाव, रौद्र या वीर रस के रूप में आस्वादयोग्य बनता है। कवि का सारा प्रयास क्रोध या उत्साह के आलम्बन के रूप में रावण या कंस को चित्रित करने का रहता है।

यह और भी विलक्षण है कि तादात्म्य नहीं होता, साधारणीकरण होता है। तादात्म्य तो साधारणीकरण की पहली शर्त है। कवि रावण आदि के साथ एकाकार हो लेता है यह स्थापना भी अविचारित रमणीय है। जब रावण सीता को प्रेयसी मानकर प्रार्थना करता है तब यह मान लेना कि वाल्मीकि या गोस्वामी जी भी रावण से तादात्म्य लाभ करके सीता के प्रति वैसा भाव रखते हैं, असंगत है। किसी की पुत्री आदि पर कोई बलात्कार करता हो और पिता न्यायालय में आँखों देखा वर्णन करने लगे तो क्या यह मानना चाहिए कि वह पिता बलात्कारी से तादात्म्य लेकर वैसा कह रहा है। वह तो अपने क्रोध का आलम्बन प्रस्तुत कर रहा है। कवि भी वही करता है। कल्पना की आँखों से लोकव्यवहार के अनुकरण पर गोस्वामी जी रावण को देख लेते हैं। वे रावण नहीं बन जाते, उनके भावाविष्ट मानसदर्पण में क्रोधालम्बन रावण जैसा प्रतिफलित होता है वैसा वे शब्दों में कह देते हैं। वे नायक के क्रोध को अपने में और अपने क्रोध को सहृदय में साधारणीकृत करके प्रक्षेपित करते हैं।

डा० साहब ने भाव-काव्यों की चर्चा करते हुये तन्मयता या तादात्म्य को असम्भव बताया है। भावों का कोई न कोई स्थायी भाव कारण स्वरूप से उपस्थित रहता है। संचारी की प्रधान व्यञ्जना में वह गौण भले ही रहता हो पर अनुभूति में वही उतरता है। अतः तन्मयता की वहाँ कमी नहीं रहती। उदाहरणार्थ :

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता।
कहँ गये नृपकिसोर मनु चिन्ता।। (मानस)

यहाँ प्रमुख भाव औत्सुक्य रति स्थायी भाव पर प्रतिष्ठित है। अतः शृङ्गारी सहृदय के लिये यहाँ शृङ्गारी तन्मयता क्यों नहीं होगी? जहाँ रसाभासों का सम्बन्ध है उनमें भावान्तर को लेकर तन्मयता होती है। जैसे नारद या शूर्पणखा के शृङ्गाराभास में हास्य की, सीता के प्रति रावण के शृङ्गाराभास में क्रोध की तन्मयता होती है। यों सभी आभास-काव्य हास्य के आलम्बन माने जाते हैं। जैसा कि भरत ने कहा है :

परचेष्टानुकरणाद् हास्य इत्यभिजायते।

अनुचित स्थायी भाव अनुकरणमात्र होता है। अतः हास्य की निष्पत्ति होती ही है।

डा० भगीरथ मिश्र हमारे पूज्य हैं। शास्त्रीय सन्दर्भों को लेकर जो कुछ कहा गया वह उनकी मनीषा के प्रति अनादर नहीं है। गुरुओं की अवमानना शास्त्रों के विद्यार्थी का अकर्त्तव्य ही है। केवल यह इङ्गित अपेक्षित रहा है कि शास्त्रवन में प्रवेश करने से पूर्व उसकी गहनता और विकटता का परिज्ञान आवश्यक होता है। साथ ही वनेचरों से पूंछ-पूंछ कर दुर्गति या निर्गति से बचने का प्रयास किया जाता है। शास्त्रज्ञों का अल्पमत आज वनेचरों में भी स्थान पा जाये तो बहुत है।

उपसंहार : काव्यात्मा का स्वरूप

काव्यात्मा के प्रश्न को लेकर रीति, ध्वनि, रस, वक्रोक्ति ग्रौर ग्रौचित्य मतों की ग्रवतारणा करते हुए साम्प्रदायिक वैमत्य पर विशेष बल दिया जाता है—ग्रलंकार पर बल देने वाले ग्राचार्यों ने उसके काव्यात्मा होने की चर्चा नहीं की, यद्यपि, 'ग्रलंकार एव काव्ये प्रधानमिति प्राचां मतम्'—ग्रलंकार ही काव्य में सब कुछ है—ऐसा प्राचीनों का मत है, यह माना गया है। यह ग्रच्छा ही हुग्रा, परन्तु वक्रोक्तिमत प्रकारान्तर से ग्रलंकार को ही काव्यात्मा मानने वाला सम्प्रदाय कहा जा सकता है क्योंकि वक्रोक्ति ही ग्रलंकार का ग्राधार एवं सर्वस्व है, फलत: दोनों में तात्त्विक एकता है। यह प्रश्न हिन्दी-समीक्षा में ग्रत्यन्त जटिल बन गया है जिस पर ग्रनुशीलन ग्रपेक्षित है। 'ग्रात्मा' को मनोदैहिक संरचना से पृथक् मानने वाले दर्शन के रूढ़ प्रभाव के कारण यह भ्रान्ति हो जाती है कि ग्रात्मा कोई ग्रतिभौतिक तत्त्व है ग्रौर काव्य पर जब उसे ग्रारोपित किया गया तो सर्वोपरि काव्यतत्त्व को ही ग्रात्मा कहा गया, ग्रत: विविध विचारकों ने ग्रपने दृष्टिकोण से पृथक्-पृथक् काव्य-धर्मों के ग्रात्मा होने की घोषणा की—यह वैसा ही ग्रविचारित-रमणीय तर्क है जैसा कि काव्यालंकारों को कटक-कुण्डल ग्रादि के समान माना गया, मानों कविता भी, जब चाहे, उपमा ग्रादि के कुण्डल उतार सकती है ग्रौर फिर भी कविता बनी रह सकती है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर उद्‌भट ने गड्डारिका प्रवाह की बात कही थी।

काव्य के स्वरूप-निर्धारण में जिस ग्राचार्य ने जिस तत्त्व को मुख्यता देकर विचार किया, उसे उसने सर्वोपरि मानकर काव्यात्मा कहा—यह स्वयं ही ग्रालंकारिक कथन है। काव्य का सर्वोत्तम तत्त्व क्या है, इसे सामने न रखकर काव्य के स्वरूप-विवेचन में प्राथमिकता किसे दी जाय, इस प्रश्न को महत्त्व देकर ही विविध काव्यात्माग्रों वाले मत स्थापित हुए हैं। ध्वनिकार ग्रानन्दवर्धन ग्रौर वक्रोक्तिकार कुन्तक ने तो अनेक काव्यात्माओं की व्यवस्था दे डाली है—इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ग्राचार्य किसी रूढ़ दर्शन से बँधकर वैसा नहीं कह रहे थे, वे तो प्रसंगत: विवेचनीय काव्य-धर्म-विशेष को महत्त्व देना चाहते थे।

पश्चिम में भी अनुकरणवाद, विरेचनवाद, उदात्तवाद, शैलीवाद, क्लासिकवाद, अभिव्यञ्जनावाद आदि ऐसे ही सम्प्रदाय (?) हैं जो प्रकारान्तर से काव्यात्मा को विविधता देते हैं।

'आत्मा' शब्द भी एकार्थक एवं निश्चितार्थक नहीं है—पुरुष, जीव, चैतन्य आदि फिर भी निर्धारित सीमाओं में अर्थ देते हैं। शङ्कराचार्य के परवर्ती दार्शनिक चिन्तन में 'आत्मा' ने जो स्थान पाया, वही पहले भी था या 12वीं शताब्दी के आसपास तक वैसा रूढ़ चिन्तन बद्धमूल हो गया था, इसका कोई प्रमाण नहीं, अन्यथा आनन्दवर्धन और कुन्तक उसका अनेकार्थक-सा प्रयोग न करते। आनन्दवर्धनाचार्य आरम्भ में ध्वनि (व्यङ्ग्य) को काव्यात्मा मानते और फिर उसकी तुलना अङ्ग-संघटना द्वारा व्यक्त होने वाले लावण्य से करते हैं :

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव
वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं
विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।।

अन्ततः लावण्य गुण है, आत्मा नहीं। वह शरीर-धर्म है, आत्मधर्म भी नहीं।

आत्मशब्द के अर्थ पर विचार अपेक्षित है। श्रेष्ठ या मुख्य अर्थ में लाक्षणिक प्रयोग चलता ही है। स्वरूप या तादात्म्य जैसा अर्थ भी चलता है—वामन 'विशेषो गुणात्मा' कहकर पदरचना की विशिष्टता गुणस्वरूप बताना चाहते हैं। दर्शन में आत्मशब्द विविधता लेता है। चार्वाक दर्शन में भौतिक शरीर ही आत्मा है। तैत्तिरीय और छान्दोग्य उपनिषदों में पाँच आत्माओं का उल्लेख है : स्थूल शरीर या अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश या कारण-शरीर। बीच के तीन कोश सम्मिलित रूप से सूक्ष्म शरीर माने गए हैं। वेदान्त निरपेक्ष चैतन्य को ही आत्मा मानता है, कोशों में आत्मत्व का अध्यास रहता है—जिससे स्थूलशरीराभिमानी, सूक्ष्म शरीराभिमानी, कारणशरीराभिमानी पुरुष की व्यवस्था है। आत्मा जब कोश-विशेष से अध्यासित बोध करता है तो अपने को कोशरूप में मान लेता है। इस प्रकार स्थूल शरीर भी आत्मरूप प्रतीत होता है। व्यवहार में आत्मा की यह विविधता देखी जाती है—'मुझे चोट लगी' कहने में शरीर को ही आत्मा माना गया है। किसी प्राणी का पारिभाषिक स्वरूप बताना हो तो आत्मा का निरपेक्ष रूप कैसे लिया जायगा—उसके व्यक्त रूपों में से किसी के आधार पर स्वरूप-निर्धारण सम्भव होगा। देखना यह होता है कि परिभाषाओं में तर्कसंगति है या नहीं।

वक्रोक्ति को 'काव्यजीवित' कहने का तात्पर्य हुआ अलंकार को काव्यात्मा जैसा पद प्रदान करना, क्योंकि भामह ने वक्रोक्ति (अतिशयोक्ति) को अलंकारों का आधार माना है :

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ।।

अर्थात् वक्रोक्ति से ही काव्यार्थ की विभावना (विशेष रूप में भावना जो अकाव्य से काव्य को पृथक् करती है) होती है और इसके बिना कोई काव्यालंकार संभव नहीं। ऐसी स्थिति में उक्ति की वक्रता या अतिशयता (लोकातिक्रान्तगोचरता) ही काव्य-सर्वस्व है और भामह के अनुसार वही अलंकारों की विविधता में प्रस्फुट होती है। काव्य की विशिष्ट शोभा के जनक तत्त्वों को (अलंकारवाद में) अलंकार कहा गया :

काव्य-शोभा-करान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते । (दण्डी)

इस दृष्टि से गुण, रीति, रस, दोषाभाव का कारण उक्ति की वक्रता ही है, अतः वे सब भी अलंकार ही हैं। सभी काव्याङ्गों को एक शीर्षक में (अलंकार में) समेट लेने पर अलंकार को काव्यात्मा की संज्ञा देना असंगत नहीं कहा जायगा, यदि उसमें इतना व्यापक अर्थ लेने की क्षमता हो। कुन्तक ने भामह आदि का खण्डन करते हुए स्पष्ट किया है कि रस और वस्तु-स्वभाव 'अलंकार्य' हैं, अलंकार नहीं—अन्यथा काव्य में अलंकार्य क्या रहेगा जिसे अलंकारों द्वारा अलंकृत किया जाय। पारिभाषिक असंगति को लेकर ही यह मत अमान्य हुआ है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि लौकिक अलंकार शरीर के घटक नहीं होते, जबकि काव्यालंकार काव्याङ्ग होकर ही आते हैं। वक्रतारूप अलंकृति ही—यदि गुणों को भी उसी में समाहित कर लें—काव्य को आकार देने में समर्थ है, अतः सरलता से अलंकारवाद का प्रत्याख्यान संभव नहीं। काव्य-शरीर शब्दार्थ-युगलरूप है और यह शब्दार्थ-साहित्य अलंकारों से ही घटित होता है जो उस शरीर के ही अङ्ग हैं। शरीराध्यास वाले आत्मतत्त्व को लेकर तो अलंकार को काव्यात्मा कहा ही जा सकता है। शरीर ही 'आत्मा' का व्यावहारिक पक्ष है और यदि काव्य-व्यवहार अलंकाराधीन हो तो उसे आत्मा कहा जायगा।

आचार्य वामन ने गुण और अलंकार का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा :

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ।
तदतिशय-हेतवोऽलंकाराः ।

अर्थात् काव्य-सौन्दर्य के कारक धर्म गुण हैं जबकि गुणकृत सौन्दर्य के पोषक धर्म अलंकार हैं। जैसे, नेत्रों की दीर्घता गुण है और कज्जल-रेखा आदि अलंकार हैं। वामन ने अलंकारों को काव्य के बहिर्भूत धर्म नहीं माना है, प्रत्युत काव्य-सौन्दर्य की प्रतिपत्ति दोषाभाव, गुण और अलंकार तीनों से मान्य की है।

काव्यं ग्राह्यमलंकारात् ।
सौन्दर्यमलंकारः ।
स च दोष-गुणालंकार-हानादानाभ्याम् ।

दोषों को उन्होंने गुण-विपर्ययरूप माना है, अ्रतः गुण ही ऐसे काव्यधर्म हैं जिनसे पदरचना में शब्दकृत और अ्रर्थकृत विशिष्टता आती है और तभी विशिष्ट-पदरचना-रूप रीतियाँ स्वरूप ग्रहण करती हैं। फलतः रीतियाँ ही गुणों को प्रकट करती हैं जिससे रीति ही काव्य-सर्वस्व के रूप में मान्य है :

रीतिरात्मा काव्यस्य ।
विशिष्ट-पद-रचना रीतिः ।
विशेषो गुणात्मा ।

नेत्रों की विशालता आदि गुण अङ्गों की संघटना में शोभाकारक होते हैं, संघटना से बाहर उनका शोभाजनकत्व नहीं रहता :

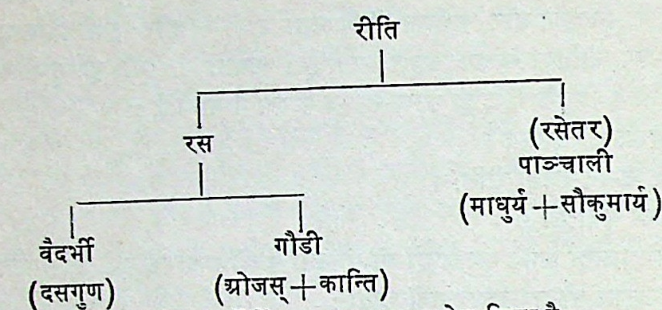
सर्वोपमा-द्रव्य-समुच्चयेन
यथाप्रदेशं विनिवेशितेन ।
सा निर्ममे विश्वसृजा प्रयत्नाद्
एकत्र सौन्दर्य-दिदृक्षयेव । (कालिदास)

इसमें कवि का सौन्दर्य-दर्शन और काव्यादर्श भी निहित हैं—एक स्थान पर सौन्दर्य देखने की इच्छा हो तो संपूर्ण काव्य-वस्तु को यथास्थान विनिवेश देना होता है, यही वामन की रीति है जिसके निर्वाह से ही गुण प्रकट हो सकते हैं। संघटना (रीति) को ही काव्यात्मा मानने में अध्यस्त आत्मा ही मान्य है।

ध्वनिमत में रीतिमत का विरोध 'आत्मा' शब्द के प्रयोग का विरोध नहीं है—न वैसा कहीं कहा ही गया है। वह रीति का भी विरोध नहीं है क्योंकि रीतियाँ सभी मतों में मान्य हैं। वैमत्य रीति की परिभाषा को लेकर है। परिभाषा की तर्कसंगति न होने पर समूची स्थापना ही ढह जाती है। ध्वनि-विरोधी आचार्यों ने भी रीति को वामन के अनुसार नहीं माना है। विरोधी तर्क, जो ध्वनिकारसम्मत है, यह है कि गुणों का वामनसम्मत स्वरूप मान भी लें तो भी उनके आधार पर रीतियों की त्रिविधता नहीं बनती—सभी गुणों से रीति का बनना स्वीकार करें तो एक ही वैदर्भी रीति हाथ लगेगी क्योंकि वामन को वही सर्वगुण-सम्पन्न रीति मान्य है :

समग्रगुणा वैदर्भी ।

दो ही गुणों के आधार पर शेष दो रीतियों की व्यवस्था तभी हो सकती है जब सब गुणों के बिना भी रीति बनती हो और उस दशा में 20 गुणों के बहुत से समुच्चय बनेंगे जिससे तीन ही रीतियों का सिद्धान्त सुप्रतिष्ठ न रह सकेगा। वामन भी रसविरोधी आचार्य नहीं हैं, वे रसपरिपाक का विस्तृत विवेचन 'कान्ति' गुण में करते हैं। उनके मत से सरस रीतियाँ दो ही—वैदर्भी और गौडी हैं, रसेतर वस्तु-वर्णन के लिए उन्होंने पाञ्चाली को रखा है क्योंकि उसमें 'कान्ति' गुण नहीं रहता। रीतियों में गुणव्यवस्था इस प्रकार है :



ध्वनिकार ने तीन सन्दर्भों में काव्यात्मा का प्रयोग किया है :

1. काव्यस्यात्मा ध्वनिः।
2. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
   क्रौञ्चद्वन्द्व-वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ।।
3. अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः।
   वाच्य-प्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ।।

विचारपूर्वक देखा जाय तो तीनों प्रयोगों में अर्थान्तर दिखाई पड़ेगा।

1. प्रथम उद्धरण में ध्वनिशब्द व्यङ्ग्यार्थ के लिए आया है। व्यङ्ग्य के आधार पर ही काव्यों में तारतम्य—उत्तम, मध्यम तथा अवर—से भेद बनते हैं, अतः वही 'आत्मा' है। यहाँ यह शब्द 'सार' अथवा 'तत्त्व' अर्थ देता है अतएव आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है :

> आत्मशब्दस्य तत्त्वशब्देनार्थं विवृण्वानः सारत्वमपरशाब्दवैलक्षण्य-कारित्वं च दर्शयति।

अर्थात् ध्वनि ही वह काव्य-तत्त्व या काव्य का सार है जो काव्य को काव्येतर से पृथक् करता है।

2. दूसरे उद्धरण में रस को काव्यात्मा बताया गया है। यद्यपि व्यङ्ग्य अर्थ के वस्तु और अलंकार भेद भी हैं, परन्तु प्रधानतावश रस को ही लिया गया है :

> प्रतीमानस्य चान्यभेद-दर्शनेऽपि रसभाव-मुखेनैव
> उपलक्षणम्, प्राधान्यात्। (ध्वन्यालोक)

इस सन्दर्भ में अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है कि वस्तु और अलंकार ध्वनियाँ रस-परिणत होकर हीं चमत्कार लाती हैं, फिर भी वाच्य अर्थ से विशिष्टता के कारण उन्हें भी 'जीवित' माना जाना उचित है :

> प्राधान्यादिति। रस-पर्यवसानादित्यर्थः। तावन्मात्राविश्रान्तावपि चान्य-शाब्द-वैलक्षण्य-कारित्वेन
> वस्त्वलंकारध्वनेरपि जीवितत्वमौचित्यादुक्तमिति भावः। (लोचन)

'जीवित' कहकर 'आत्मा' का अर्थ 'श्रेष्ठ' जैसा माना गया है । यहाँ आकर काव्य के उस तत्त्व पर पहुँचते हैं जिससे बड़ा काव्यतत्त्व नहीं है ।

3. तीसरे श्लोक की व्याख्या आनन्दवर्धनाचार्य ने स्वयं की है :

काव्यस्य हि ललितोचित-सन्निवेश-चारुण: शरीरस्येवात्मा
सारूपतया स्थित: सहृदयश्लाध्यो योऽर्थस्तस्य वाच्य:
प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ ।

अभिनवगुप्तपादाचार्य ध्वनिकार का अभिप्राय अन्य प्रकार से समझाना चाहते हैं—वे वाच्य और प्रतीयमान दोनों को काव्यात्मा मानने को तत्पर नहीं, अत: कहते हैं :

"तुल्येऽर्थरूपत्वे किमिति कस्मचिदेव सहृदया: श्लाघन्ते । तद् भवितव्यं तत्र केनचिद् विशेषेण । यो विशेष: स प्रतीयमान-भागो विवेकिभिर्विशेषहेतुत्वाद् 'आत्मा' इति व्यवस्थाप्यते । वाच्य-संवलनाविमोहित-हृदयैस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते, चार्वाकैरिवात्म-पृथग्भावे । अतएव 'अर्थ' इत्येकतयोपक्रम्य 'सहृदयश्लाघ्य' इति विशेषण द्वारा हेतुमभिधायापोद्धारदृशा तस्य द्वौ भेदावंशावित्युक्तम्, न तु द्वावप्यात्मानौ काव्यस्य ।"

तात्पर्य यह कि वाच्च अर्थ सहृदयश्लाघ्य नहीं होता, प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ ही सहृदयों की श्लाघा पाता है, अत: अखण्ड काव्यार्थ के दो भाग हैं : वाच्य और प्रतीयमान । इनमें वाच्यभाग काव्यात्मा नहीं है, प्रतीयमानांश ही श्लाघ्य होने से काव्यात्मा अभिप्रेत है । जिस प्रकार चार्वाकवादी शरीर को ही आत्मा मान बैठते हैं, उसी प्रकार जो लोग दोनों अर्थों में अन्तर नहीं कर पाते, वे वाच्यार्थ को ही काव्यात्मा मान लेते हैं ।

ध्वनिकार संभवत: कुछ और कहना चाहते हैं : काव्य की शरीर-संघटना भी लालित्य और औचित्य के साथ संनिविष्ट होती है, अत: मनोहर होती है जिसमें अर्थ आत्मवत् सारभूत है, और वह सार वाच्य भी हो सकता है, प्रतीयमान भी । अर्थात् रीति, अलंकार आदि वाच्यभाग पर दृष्टि केन्द्रित करें तो वह भी सारभूत लगता है, यद्यपि (अन्य प्रसंगों की संगति के साथ) वस्तुत: प्रतीयमान भाग ही काव्यात्मा है । शरीर-संरचना को अनात्म मानने का कोई आग्रह आनन्दवर्धन का नहीं जान पड़ता । दृष्टिकोणभेद से दोनों को 'आत्मा' कहा जा सकता है, परन्तु सहृदय का चरम प्राप्य प्रतीयमान ही है अतएव उसी पर बल है । काव्य-स्वरूप का निर्धारण प्रतीयमान के सहारे संभव नहीं है क्योंकि वह हृदयसंवेद्य है, शब्द और अर्थ शरीर हैं फिर भी उन्हीं की विलक्षणता को लेकर स्वरूप निश्चित किया जा सकता है । यही कारण है कि ध्वनिवादियों में शिरोमणि आचार्य मम्मट ने अदोषत्व, सगुणत्व और सालंकारत्व के आधार पर काव्य-लक्षण प्रस्तुत किया है :

वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।
द्वारा काव्यलक्षण की स्थापना विद्वानों में अधिक सम्मान नहीं पा सकी, क्योंकि केवल संवेदनीय तत्त्व को स्वरूपनिर्धारणोपयोगी नहीं कहा जा सकता, आत्म-सहित शरीर को प्राणी कहें तो 'आत्मा' विवादग्रस्त हो उठता है। दर्शनभेद से आत्मा के स्वरूप का अन्तर पाया जाता है—भौतिक शरीर के प्रत्यक्षण, स्मरण, संवेदन, संवेग आदि के पुञ्जमात्र को विज्ञान में 'आत्मा' कहा जाता है, ऐसी स्थिति में शरीर से आत्मा का पार्थक्य मानने वाले दर्शन के आधार पर काव्य-दर्शन की प्रतिष्ठा से उसकी सम्प्रदाय-निरपेक्षता व्याहत होती है। 'रस ही काव्य का सारतत्त्व है, मान लेने पर भी उसकी सीमा सहृदय के क्षणिक संवेदन तक है, जबकि संवेदनेतर क्षणों में भी काव्य को काव्य ही रहना है, अतः स्थायी गुणधर्मों के आधार पर ही परिभाषा उचित ठहरती है।

आचार्य कुन्तक ने 'आत्मा' के स्थान पर 'जीवित' का प्रयोग किया है। 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ-नाम से स्पष्ट है कि वे वक्रोक्ति को ही काव्य का सर्वस्व मानते हैं. जो उसे अकाव्य से पृथक् करती है। इतना होने पर भी वे वक्रोक्ति को अलंकार ही मानते हैं, अलंकार्य नहीं। रस और स्वभाव को अलंकार्य मान कर वे वक्रोक्ति की इस प्रकार प्रतिष्ठा करते हैं कि अलंकार्य तत्त्व उसी से स्फुरित होता पाया जाता है। यों 'जीवित' शब्द का कुन्तक ने तीन सन्दर्भों में प्रयोग किया है :

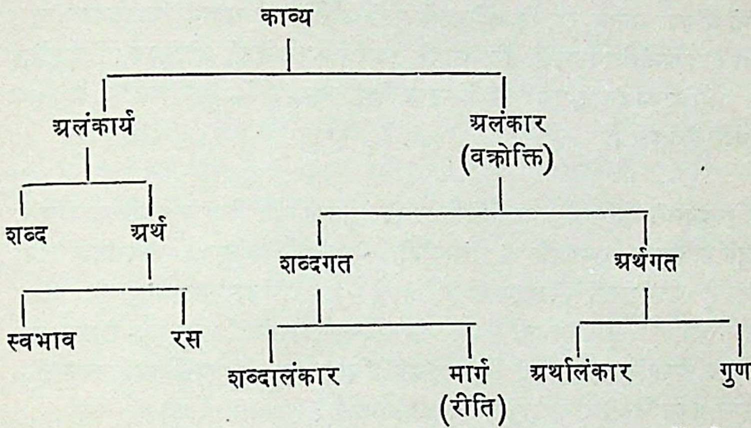
1. शोभा, सौभाग्य और औचित्य अलंकार्य वस्तु और रस के धर्म हैं, अतः वे तीनों काव्य-जीवित हैं :

> शरीरं जीवितेनेव स्फुरितेनेव जीवितम् ।
> विना निर्जीवितां येन वाक्यं याति विपश्चिताम् ।। (1/53)
> गुणः सौभाग्यमुच्यते ।...
> अलौकिक-चमत्कार-कारि काव्यस्य जीवितम् । (1/55-56)
> प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यान-जीवितम् । (1/53)

2. उक्ति या कथन के प्रसंग में कुन्तक ने वक्रता को काव्य-जीवित माना है, यद्यपि वे उसे अलंकार घोषित करते हैं :

> उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः ।
> वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य-भङ्गी-भणितिरुच्यते ।।

अर्थात् शब्द, अर्थ दोनों अलंकार्य हैं, उनकी अलंकृति वक्रोक्ति—वैदग्ध्य-पूर्ण भङ्गिमा वाली उक्ति है। कुन्तक अपने मत में अत्यन्त स्पष्ट हैं :



वक्रता को काव्यजीवित मानने का कारण कुन्तक की ग्रन्थारम्भ में की हुई प्रतिज्ञा है :

प्रस्तुतं किमपि काव्यालंकार-करणम् ।

उनकी दृष्टि में अलंकार (वक्रोक्ति) ही काव्य-स्वरूप-निर्धारक है। उसे सँभाल लेने पर अलंकार्य स्वतः चमत्कारी होता है, अन्यथा न काव्यात्मक वस्तु-स्वभाव चित्रित हो सकता है, न रसपरिपाक ही संभव है।

3. रस, स्वभाव और अलंकार का सामञ्जस्य उस कविकौशल से होता है जो वक्रोक्ति का कारण है अतः कविकौशल तीनों का जीवित है :

रस-स्वभावालंकाराणां कविकौशलमेव काव्यजीवितम् ।

इस प्रकार अलंकाररूपा वक्रोक्ति को काव्य-सर्वस्व उसी प्रकार माना गया है जिस प्रकार ध्वनिमत में व्यञ्जना को। अतः ध्वनिमत के समान ही भेदोपभेद भी किये गये हैं जिस पर महिम भट्ट ने आक्षेप करते हुए कहा है कि प्रकारान्तर से व्यञ्जनावाद का ही समर्थन वक्रोक्तिमत द्वारा घटित होता है। कुछ भी हो कुन्तक का दृष्टिकोण 'जीवित' शब्द-प्रयोग में स्पष्ट है जिसे वे तीन बार तीन प्रकारों से लाते हैं।

क्षेमेन्द्र ध्वनिवादी होकर भी औचित्य को 'काव्यजीवित' बताते हैं :

अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणास्तथा ।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥

अर्थात् औचित्यहीन अलंकार और गुण रस-परिपाकोपयोगी न होने से सौन्दर्याधायक नहीं हो सकते, रस-काव्य का अविचल जीवित (आत्मा) औचित्य है। आनन्दवर्धन ने औचित्य को उस का परम रहस्यतत्त्व बताया है :

अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्य-बन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥

दोनों में क्या अन्तर रहा कि क्षेमेन्द्र के मत्थे औचित्य-सम्प्रदाय मढ़ दिया जाय। सभी दोष अनौचित्यरूप हैं, जिनका निराकरण करने से ही औचित्य घटित होता है। 'औचित्य-विचार-चर्चा' में क्षेमेन्द्र ने इस काव्यजीवित पर वर्गभेद के साथ विचार किया है।

ध्वनिसम्बन्धी आचार्य तथा नैयायिक और भट्टनायक जिस रस को काव्यात्मा मानते हैं, वह प्रत्यक्ष-कथन की वस्तु नहीं। काव्य में केवल विभावादि-योजना रहती है और उसमें औचित्य की अपेक्षा है। यह औचित्य अलंकार, गुण, रीति जैसे तत्त्वों की समायोजना में भी आवश्यक है, तभी विभावादि-योजना का औचित्य खड़ा होगा, अतः दोषाभावरूप औचित्य काव्य का अपरिहार्य तत्त्व है। अतएव भरत ने भी दोषाभाव को गुण बताया है :

एते दोषा हि काव्यस्य मया सम्यक् प्रकीर्तिताः।
गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्य-लक्षणाः।। (ना०शा० 16/95)

अभिनव ने इसकी व्याख्या में स्पष्ट किया है कि दोषहीन काव्य यदि अन्य गुणों और अलंकारों से हीन हो, उसमें रस दीप्त हो, श्रवण-सुखकर हो तो काव्य-लक्षणों से सम्पन्न होगा :

एतद्-दोष-विहीनं श्रुतिसुखं दीप्तरसं च यदि भवति तावता गुणान्तरैरलंकारैश्च हीनमपि काव्यं लक्षणा-व्यभिचारि।

इससे प्रतीत होता है कि दोषाभाव (औचित्य) और रस काव्य-सर्वस्व मान्य हैं— रस-दीप्ति अनौचित्य में संभव नहीं, अतः औचित्य को 'काव्यजीवित' मानने में तर्कसंगति है।

यद्यपि अनुमानवादी आचार्य (भट्टशंकुक आदि) रस को ही काव्य-सर्वस्व घोषित करते हैं, परन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो यह रस अनुकृति और अनुमिति के अधीन है— अनुकृत विभावादि से स्थायी की अनुमिति होती है, यही रसनिष्पत्ति है। ऐसी मान्यता में अनुकृति तथा अनुमिति को काव्य-जीवित मानने का पथ प्रशस्त है—अनुकृत स्थायी भाव में सौन्दर्यातिरेक इसलिए आ जाता है कि अनुकृत विभावादि-सामग्री (वस्तु) में सौन्दर्य होता है। यही रसानुमिति की विलक्षणता अनुमितिवाद में मान्य है :

वस्तु-सौन्दर्य-बलादन्यानुमीयमान-विलक्षणः।

अनुकृतिमूलक अनुमिति काव्यात्मा है, यह नैयायिक कहना चाहे तो रोक-टोक नहीं क्योंकि भाँडों के पास अनुकृति होती है, परन्तु वहाँ सहृदय स्थायी की अनुमिति नहीं करता, जबकि लोक में भावानुमिति होती है, परन्तु वह अनुकृतिमूलक नहीं। रस से भी बढ़कर काव्य में उन दो तत्त्वों का महत्त्व है, उसी में कवि-कौशल है, रस तो रसयिता (सहृदय) का भाग है।

काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक् ।

की दृष्टि से रस को काव्यात्मा कहा जाता है—अर्थात् रसात्मविषयक मान्यता रसिक-सापेक्ष है, कविकौशल-सापेक्ष नहीं।

कवि-कौशल उक्ति की विलक्षणता में देखा जाता है, उसे अनुमिति कहें या व्यञ्जना-नामक शब्दशक्ति मानें, उपलब्धि में बड़ा अन्तर नहीं आता। अभिधावादी उसी को वक्रोक्ति कहता है तो 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' और 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' एक ही अर्थ दे चलते हैं। कुन्तक के पास तर्क है कि कवि के चित्त में जो प्रतिमागत वस्तु उदय लेती है वह तो अनगढ़ प्रस्तरखण्डवत् होती है, वही वस्तु विदग्ध कवि के वक्र वाक्य पर चढ़कर सान पर खरादे हुए मणि के समान मनोहर हो जाती और जानकारों को आह्लाद देकर काव्यरूप प्राप्त करती है :

कवि-चेतसि प्रथमं प्रतिभा-प्रतिभासमानमघटित-पाषाण-शकलकल्पमणि-प्रख्यमेव वस्तु विदग्ध-कवि-विरचित-वक्र-वाक्योपारूढं शाणोल्लीढ़मणि-मनोहरतया तद्विदाह्लादकारि काव्यत्वमधिरोहति। (वक्रोक्तिजीवित)

स्पष्ट है कि ध्वनि के स्थान पर वक्रोक्ति को रखकर उसे ही काव्यात्मा कहा जा सकता है।

भट्टनायक काव्य को व्यापार-प्रधान शब्दार्थ-रचना मानते और व्यञ्जना के स्थान पर भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों को काव्य की विलक्षणता स्वीकार करते हैं—जिस प्रकार ध्वनि काव्यात्मा है, उसी प्रकार उनके व्यापारद्वय को काव्यात्मा कहा जा सकता है, परन्तु उन्होंने स्पष्ट कह दिया है :

ध्वनिर्निर्मापरो यो हि व्यापारो व्यञ्जनात्मकः।
तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात् काव्येंऽशत्वं न रूपता॥

अर्थात् व्यञ्जनाव्यापार मान भी लें तो वह काव्य में अंश हो सकता है, अतः भावकत्व और भोजकत्व को भी भट्टनायक काव्यांश ही मानना चाहते हैं, फिर भी कहते हैं :

अभिधा-भावना-रस चर्वणात्मक-त्र्यंशे
काव्ये रसचर्वणा तावज्जीवित-भूता। (ध्वन्यालोक-लोचन)

अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व ये काव्य के तीन अंश हैं जिनमें भोजकत्व (रस-चर्वणा) जीवितरूप है। व्यञ्जना के स्थान पर लाया हुआ रसचर्वणा-व्यापार यदि जीवित है तो व्यञ्जना को भी जीवित कहा जा सकता है, अंश को ही जब जीवित की संज्ञा दी गई है।

भट्टलोल्लट अनुकृत अनुभावों से रस की प्रतीति मान्य कर अनुमितिवाद का ही समर्थन करते हैं, अतः उन्हें अनुमानवाद में लिया जा सकता है।

अब यदि ध्वनिसिद्धान्त के अनुसार व्यञ्जना व्यापार को अनुमान, भोजकत्व

ग्रौर वक्रोक्ति के स्थान पर प्रतिष्ठित मान लिया जाय तथा वक्रोक्ति को उक्ति-वक्रता के रूप में ग्रलंकार मात्र माना जाय तो गुण, रीति, वक्रोक्ति ग्रौर दोषा-भाव (जिसमें ग्रौचित्य का समावेश है) वाच्यार्थगत काव्यांश ठहरेंगे, रस, व्यङ्ग्यवस्तु, व्यङ्ग्यालंकार व्यञ्जना व्यापार से प्रतीयमान ग्रर्थरूप काव्यांश बनेंगे—रस तो संगीत में भी होता है ग्रतः वाच्यनिरपेक्ष व्यङ्ग्य की काव्य में सत्ता नहीं मानी जा सकती ग्रौर उस दशा में श्रेष्ठ होकर भी रस काव्यांश ही हो सकेगा। तब उक्त सभी ग्रंश यदि काव्य में ग्रपरिहार्य हैं तो उन्हें काव्य-स्वरूप या काव्यात्मा कहकर दृष्टिकोण-भेद से विवेचनीय बनाया जा सकता है ग्रौर विविध ग्राचार्यों ने ऐसा ही किया है—सबका समावेश ही काव्याकार खड़ा करता है। एक उदाहरण लिया जाय :

मान्यौ न मानवती गयौ भोरु ह्वै,
सोचतै सोइ रहे मनभावन।
तेहि तें सासु कह्यो, दुलही,
भई बेर कुमार कौं जाहु जगावन ।।
मान कौ सोचु जगैबे की लाज,
लगी पग नूपुर पाटी बजावन।
सो छबि हेरि हेराइ रहे हरि,
कौन कौ रूसिबौ काकौ मनावन ।।

यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार रस व्यङ्ग्य है, नायक-नायिका के प्रणयकोप का ग्रनायास छूटना वस्तु व्यङ्ग्य है, 'कौन कौ रूसिबौ काकौ मनावन' ग्रादि में वक्रतारूपा ग्रलंकृति है, माधुर्यगुण है, वैदर्भी रीति है और निर्दोष रचना होने से ग्रौचित्य भी है। सभी के समावेश से काव्यरूप प्रकट हुग्रा है—ग्रकेली विभावादि-योजना पर्याप्त नहीं; ग्रन्यथा तृतीय चरण बदल कर पढ़ें ग्रौर देखें—

भौंह के वंक झमंकि गई ग्रौ लगी झकझोरि रजाई हटावन।

ग्रब केवल ग्राम्यत्व ग्रा जाने से अकेला ग्रौचित्य ही हटा है कि शृङ्गारी काव्य हास्य का ग्रालम्बन बन गया। भरत ने इसीलिए 'शृङ्गारानुकृतिर्हास्यः' कहा है, मान लें पाठ यह है :

झट्ट उठी खटपट्ट खुटी खटपाटी लगी ग्रनवट्ट बजावन।

तब भी वैदर्भी रीति के व्याघात (रस-विरुद्ध गौडी रीति ग्राने) से शृङ्गार रस नहीं रहा, भले ही हास्यरूप शृङ्गाराभास बना।

इस पाठ ने माधुर्य गुण की चित्तद्रुति को होने ही नहीं दिया कि शृङ्गार-निष्पत्ति संभव होती। जिस विदग्ध वक्रता के दर्शन इस उक्ति में होते हैं, उसे पूरी तौर पर हटाना ग्रकाव्य बनाना होगा। जो परिवर्तन ऊपर दिखाये गये हैं, उनसे वक्रोक्ति, गुण, रीति, ग्रौचित्य सब बदले हैं, परिणामतः काव्य ग्रकाव्य बन गया

है, अतः काव्य के किसी अंश को अकिंचित्कर नहीं कहा जा सकता। किसी एक के समुचित निर्वाह से सबका निर्वाह घटित हो जाता है। यही कारण है कि विविध आत्मवाद प्रचलित हुए। 'समुचित निर्वाह' कहते ही औचित्यादि तत्त्वों का समावेश मान्य हो जाता है, अतएव ध्वनिकार ने 'ललितोचित-सन्निवेश' में चारुता का उल्लेख किया है।

काव्यपुरुष के रूपक में रस को आत्मा, गुणों को शौर्यादि के समान, रीतियों को अङ्गसंघटना, अलंकारों को कटक-कुण्डल आदि के समान बताया जाता है। पुरुष के लिए अलंकारों को छोड़कर सभी की अनिवार्यता है। काव्य में अलंकार भी सर्वथा बाहर से लाये हुए तत्त्व न होकर शब्दार्थ-शरीर के घटक होते हैं और उक्ति की वक्रता के रूप में काव्यमात्र के अंश बनते हैं। अङ्गों से पृथक् अङ्गी की कल्पना नहीं हो सकती, अतः सभी अङ्ग काव्यात्मा हैं—आत्मा यहाँ पुरुषीय चेतना के अर्थ में नहीं हो सकती, वह तो उपमामात्र है। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' का इसलिए खण्डन किया कि वक्रोक्ति तो अलंकाररूपा है। वस्तुतः इस अलंकार के बिना काव्य रह कैसे सकता है? वक्रता को व्यञ्जना मानकर चलें तो भी उसे अपरिहार्य मानना होगा। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' का प्रत्याख्यान करते हुए उन्होंने रीति को अङ्ग-संघटनामात्र कहकर मानों तुच्छ बताया है, परन्तु पुरुष का स्वरूप ही उसके बिना असंभव है। रसरूप काव्यात्मा का आधार तो वही है।

ध्वनिमार्ग में सहृदय की उस स्थायि-भाव-वासना को रस कहा जाता है जो काव्यनिबद्ध विभावादि से व्यक्त होती है, फलतः रस काव्य में न होकर रसिक में रहता है, तब काव्य को रसात्मक कैसे कहा जायगा? विभावादि-योजना में ही रस की सत्ता मान लें तो सभी काव्याङ्ग एकत्र होकर ही विभावादियोजना को सफल बनाते प्रतीत होंगे, जैसा कि देखा गया। विभाव (पात्रविशेष) और अनुभाव (आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक तथा आहार्य चेष्टाएँ) ही काव्य में निबद्ध होते हैं। इसे भाव व्यञ्जना और रसव्यञ्जना कहा जाता है, पर यह व्यञ्जना प्रकारान्तर से उक्ति की वक्रता भी है, भले ही यह अभिधा न हो। विभावानु-भाव-योजना औचित्य-सापेक्ष है जो दोषमुक्त रीतियोजना, गुणसन्निवेश और अलंकारविनियोग पर अवलम्बित है। ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है कि सबका अखण्ड समाकलन ही काव्यत्व है। इस प्रकार सभी काव्यात्मा हैं—को बड़ छोट कहत अपराधू। रसिक-सापेक्ष दृष्टि से रस को और कविकौशल की दृष्टि से रीत्यादि को आत्मा कहा गया है, जिनका समन्वय ही गति है।

सहायक-ग्रन्थ-सूची

संस्कृत-ग्रन्थ

1. महाभारत
2. रामायण
3. मीमांसा-न्याय-प्रकाश : आपदेव रचित, चौखम्भा संस्कृत पुस्तकालय, वाराणसी, 1921
4. काव्यालङ्कार : आचार्य भामह
5. काव्यालङ्कारसूत्र : आचार्य वामन
6. काव्यादर्श : आचार्य दण्डी
7. वक्रोक्तिजीवित : आचार्य कुन्तक
8. ध्वन्यालोक : आचार्य आनन्दवर्धन
   लोचन-टीका : आचार्य अभिनवगुप्तपाद, चौखम्भा वाराणसी, 1940
9. वैयाकरण-सिद्धान्त लघु मंजूषा : नागेश भट्ट
10. दशरूपक : धनञ्जय तथा धनिक
11. काव्यप्रकाश : आचार्य मम्मट, वामन झलकीकर टीका, भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1950
12. साहित्यदर्पण : आचार्य विश्वनाथ
    टीकाकार : रामचरण तर्कवागीश, निर्णयसागर, बम्बई, 1915
13. नाट्यशास्त्र : आचार्य भरतमुनि, अभिनवभारती टीका, गायकवाड़ संस्कृत सीरीज, बड़ौदा

14. रसगङ्गाधर : पण्डितराज जगन्नाथ, निर्णयसागर, बम्बई, 1947
15. औचित्य-विचार-चर्चा : आचार्य क्षेमेन्द्र
16. सरस्वती-कण्ठाभरण : भोजदेव
17. शृंगार-प्रकाश : भोजदेव (ज्यौशेर संस्करण)
18. भावप्रकाशन : शारदातनय (बड़ौदा संस्करण)
19. प्रतापरुद्र-यशोभूषण : विद्यानाथ (कुमारस्वामी टीका)
20. भक्तिरसामृत-सिन्धु : रूपगोस्वामी
अनुवादक : आचार्य विश्वेश्वर, दिल्ली विश्वविद्यालय
21. उज्ज्वल-नीलमणि : रूपगोस्वामी, निर्णयसागर, बम्बई
22. भक्तिरसायन : मधुसूदन सरस्वती, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी
23. वाक्यपदीय : भर्तृहरि
24. सागरिका (संस्कृत पत्रिका) : सागर विश्वविद्यालय, वर्ष 9, अङ्क 1, सं० 2027, डा० रेवाप्रसाद के लेख
25. योगसूत्र, व्यासभाष्य : वाचस्पति की टीका
26. योगसूत्र, भोजवृत्ति

हिन्दी ग्रन्थ

1. रामचरितमानस : गोस्वामी तुलसीदास
2. बिहारी सतसई : कविवर बिहारी
3. उद्धवशतक : जगन्नाथदास रत्नाकर
4. कामायनी : जयशङ्कर प्रसाद
5. आँसू : जयशङ्कर प्रसाद
6. काव्य-मनीषा : डा० भगीरथ मिश्र (प्रथम संस्करण)
7. काव्यशास्त्र : डा० भगीरथ मिश्र (द्वितीय संस्करण)
8. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास : डा० भगीरथ मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1967
9. रीतिकाव्य की भूमिका : डा० नगेन्द्र
10. रस सिद्धान्त : डा० नगेन्द्र
11. अरस्तू का काव्यशास्त्र : डा० नगेन्द्र
12. विचार और अनुभूति : डा० नगेन्द्र
13 विचारणा : डा० नगेन्द्र

14. रस-मीमांसा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
15. चिन्तामणि : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
16. काव्य-दर्पण : पं० रामदहिन मिश्र
17. वाङ्मय-विमर्श : आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र
18. साहित्यालोचन : डा० श्यामसुन्दर दास
19. औचित्य विमर्श : डा० राममूर्ति त्रिपाठी
20. रसविमर्श : डा० राममूर्ति त्रिपाठी
21. आलोचना के सिद्धान्त : डा० शिवदानसिंह चौहान
22. मनोविज्ञान के आधार : डा० रामनाथ शर्मा, केदारनाथ रामनाथ, मेरठ
23. आधुनिक साहित्य : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
24. नया साहित्य : नये प्रश्न : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
25. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रकाशक-विद्यामन्दिर, वाराणसी, 1965
26. आधुनिक काव्य : रचना और विचार : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, साथी प्रकाशन, कानपुर, 1969
27. प्रकीर्णिका : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, अनुसन्धान प्रकाशन, कानपुर, 1965
28. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी व्यक्ति और साहित्य : अनुसन्धान प्रकाशन, कानपुर
29. काव्य में रहस्यवाद : डा० बच्चूमल अवस्थी, ग्रन्थम, : कानपुर, प्रथम संस्करण
30. आचार्य भिखारीदास : डा० नारायणदास खन्ना, लखनऊ विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1967
31. काव्यनिर्णय : आचार्य भिखारीदास
32. काव्यरसायन : देव कवि
33. कविप्रिया : आचार्य केशवदास
34. रसिकप्रिया : आचार्य केशवदास
35. व्यङ्ग्यार्थ-कौमुदी : प्रतापसाहि
36. डा० नगेन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध : राजपाल एण्ड सन्स्, दिल्ली
37. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : जयशंकर प्रसाद, भारती भण्डार, इलाहाबाद, संस्करण 5
38. ध्वनि-सिद्धान्त तथा तुलनीय साहित्य चिन्तन : डा० बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'

ENGLISH BOOKS

1. Plato : Lane Cooper, Cornel, University Press, New York, 1948.
2. Plato's Republic : N. R. Murphy, Clarendon Press, Oxford 1951.
3. Aristotle's Poetics and Rhetoric, Demetrius on the Style; Longinus on the Sublime : J.M. Dent and Sons Ltd. London, 1953.
4. Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art : S.H. Butcher
5. Biographia Literaria : S.T.Coleridge
6. Coleridge : A Collection of Critical Essays : Kathleen Coburn
7. Coleridge's Philosophy of Literature : J.A. Appleyard. Harvard University Press, 1965.
8. Essays on Rhetoric : Edtd. by Dudley Bailey, Oxford University Press, 1965.
9. Literature as Experience : Wallace A. Bacon, Mcgraw-Hill Book Company, New York, 1959.
10. Practical Criticism : I.A. Richards, 1956.
11. Principles of Literary Criticism : I.A. Richards, 1955.
12. Aesthetic : Benedetto Croce
13. The Principles of Art : R.G. Collingwood
14. American Tradition in Literature : W.W. Norton and Co., New York, Shorter Edition.
15. Psyche and Symbol : C.G. Jung, 1958.
16. The Use of Poetry and the Use of Criticism : T.S. Eliot
17. Language as Gesture : R.P. Blackmur, 1954.

18. Modern Essays in Criticism : Macmillan & Co., London, 1959.
19. Language : J. Vendryes, 1959.
20. A Course in Modern Linguistics : Charles F. Hockett
21. An Outline of Psychology : Mcdougall
22. An Outline of Psycho-analysis : Freud
23. Beyond the Pleasure : Freud
24. Group Psychology and the Analysis of the Ego : Freud
25. Literature and Psychology : F. L. Lucas
26. Mind on the Problem of Analitical Psychology and Poetic Art : C.G. Jung
27. The Expression of Emotion : R.C. Collingwood
28. On poetry and Poets : T.S. Eliot
29. Aristotelian Literary Criticism : John Gassner
30. Comparative Aesthetics : Dr. K.C. Pandey
31. Republic : Plato
32. Psychological Studies in Rasa : Dr. Rakesh Gupta
33. Selected Essays : T.S. Eliot
34. The Making of Literature : A.A. Scott James
34. Western Aesthetics : Dr. K.C. Pandey
36. An Introduction to Social Psychology : Mcdougall
37. A Handbook of Social Psychology : K. Young
38. General and Social Psychology : R.H. Thouless
39. Historical Introduction to Modern Psychology : Gardenor Murphy, 1960.
40. A First Book in Psychology : M. W. Chalkins, Macmillan, New York, 1914.
41. Encyclopaedia of Psycho-analysis : Ludwig Eidelberg, Macmillan, London.

42. Scientific Psychology : Benjamin B. Wolman
43. Psychology : Woodworth
44. Science Survey : A.W. Hazlitt, Vista Books, London, Ed. II
45. What is life : Erwin Schrodinger, Cambridge University Press, 1945.
46. The Dance of Shiv : Ananda Coomaraswami, Asia Publishing House, Bombay, 1948.
47. Future Poetry : Aurobindo

अनुक्रमणी

मूल्य : 36.00

M

दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड
नई दिल्ली बंबई कलकत्ता मद्रास